सुमित्रानंदन पंत रचना संचयन



चयन एवं संपादन

कुमार विमल

सुमित्रानंदन पंत रचना संचयन

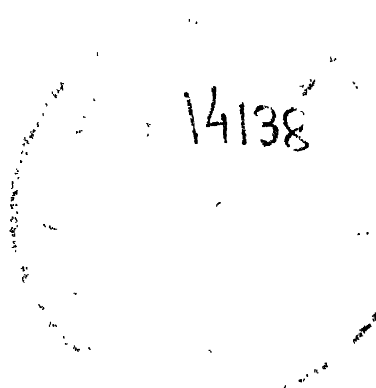
अन्तर पर छपे मूर्तिकला के प्रतिरूप में राजा शुद्धोदन के दरबार का वह दृश्य, जिसमें तीन भविष्यवक्ता भगवान बुद्ध की माँ-रानी माया के स्वप्न की व्याख्या कर रहे हैं, इसे नीचे बैठा लिपिक लिपिबद्ध कर रहा है। भारत में लेखन-कला का संभवत: सबसे प्राचीन और चित्रलिखित अभिलेख।

नागार्जुन कोण्डा, दूसरी सदी ई.
सौजन्य : राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

सुमित्रानंदन पंत रचना संचयन

चयन एवं संपादन

कुमार विमल





साहित्य अकादेमी

Sumitra Nandan Pant Rachna Sanchayan : An anthology of selected writings of Modern Hindi poet *Sumitra Nandan Pant* in Hindi, edited by Kumar Vimal. Sahitya Akademi, New Delhi
Rs.250

साहित्य अकादेमी

मुख्य कार्यालय

रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग, नई दिल्ली 110 001

विक्रय विभाग : 'स्वाति' मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110 001

क्षेत्रीय कार्यालय

जीवन तारा बिल्डिंग, चौथी मंज़िल, 23ए/44एक्स, डायमंड हार्बर मार्ग, कोलकाता 700 053

172, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, मुंबई 400 014

सेंट्रल कॉलेज परिसर, डॉ. आंबेडकर वीथी, बंगलौर 560 001

चेन्नई कार्यालय

मेन बिल्डिंग, गुना बिल्डिंग्स (द्वितीय तल), 443 (304), अन्ना सालइ, तेनामपेट, चेन्नई 600 018

ISBN 81-260-2288-4

मूल्य : दो सौ पचास रुपये

मुद्रक : वेलविश प्रिंटर्स, दिल्ली-110088

अनुक्रम

पतझर : एक भाव क्रांति

गीत हंस

शंख ध्वनि

आस्था

सत्यकाम

गीत-अगीत

संक्रांति

मुक्ताभ

भूमिका

छायावादी चतुष्टय के कवियों के बीच सुमित्रानंदन पंत का रचना-काल सर्वाधिक विस्तृत था। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ-वर्ष (20 मई, 1900 ई.) में जन्मे पंत जी पंद्रह-सोलह साल की उम्र से यानी सन् 1915-16 ईस्वी से अपने मृत्यु वर्ष (28 दिसम्बर, 1977) तक लिखते रहे। इस तरह साहित्य-सर्जना के क्षेत्र में ये लगभग छह दशकों तक सक्रिय रहे। छायावाद को मुख्यतः 'प्रेरणा का काव्य' मानने वाले इस कोमल-प्राण कवि ने *हार* नामक उपन्यास के लेखन से अपनी रचना यात्रा प्रारंभ की थी, जो '*मुक्ताभ*' के प्रणयन तक जारी रही। मुख्यतः कवि-रूप में प्रसिद्ध होने के अलावा ये प्रथम कोटि के आलोचक, विचारक और गद्यकार हैं। इन्होंने मुक्तक, लंबी कविता, गद्य-नाटिका, पद्य-नाटिका, रेडियो-रूपक, एकांकी, उपन्यास, कहानी इत्यादि जैसी विभिन्न विधाओं में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और *लोकायतन* तथा *सत्यकाम*—जैसे बृहत् महाकाव्य भी लिखे हैं। विधाओं की विविधता की दृष्टि से इनके द्वारा संपादित *रूपाभ* पत्रिका (सन् 1938 ईस्वी) की संपादकीय टिप्पणियाँ और *मधुज्वाल* की भावानुवादाश्रित कविताएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। आशय यह कि विभिन्न विधाओं में उपलब्ध इनके विपुल साहित्य को एक नातिदीर्घ रचना-संचयन में प्रस्तुत करना कठिन कार्य है।

रचनाओं की विपुलता के साथ ही यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि प्रकृति और नारी-सौन्दर्य से रचनारंभ करनेवाले पंत जी मानव, सामान्य जन और समग्र मानवता की कल्याण-कामना से सदैव जुड़े रहे। इनकी मान्यता थी कि 'आनेवाला मानव निश्चय ही न पूर्व का होगा, न पश्चिम का।'[1] ये सार्वभौम मनुष्यता के विश्वासी थे। अध्यात्म, अंतश्चेतना, प्रेम, समदिक् संचरण इत्यादि जैसी संकल्पनाओं से भावाकुल पंत के लेखन-चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु हमेशा 'लोक'-पक्ष ही रहा, जो *लोकायतन* के नामकरण से भी संकेतित होता है। पंत-काव्य का तृतीय चरण, जो 'नवीन सगुण' के नाम से चर्चित है और जिसे हम शुभैषणा-सदिच्छा का स्वस्ति-काव्य कह सकते हैं, इसी 'लोक' के मंगल पर केन्द्रित है। महात्मा गाँधी, कार्ल मार्क्स, श्री अरविन्द और अनेक विकासवादी-आशावादी दर्शनिकों से समय-समय पर प्रभावित-प्रेरित पंत एक 'सर्वसमन्वयवादी', 'लोक'-पक्षधर दृष्टि रखते थे, अपने समकालीन हिन्दी कवियों की तुलना में ये अधिक पंथ-निरपेक्ष थे और

---

1. *चिदंबरा* की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 34.

रूढ़िग्रस्त मध्यकालीनता-वाद के विरुद्ध एक तर्क-युक्त 'सोच' रखते थे। शायद, इन सभी कारणों के एकजुट हो जाने से इनका कवि मन कबीर की तरह रोता रहता था — 'मन कबीर-सा करता रोदन।' इतना ही नहीं, छायावाद का अग्रणी कवि होते हुए इन्होंने प्रौढ़ि प्राप्त कर लेने के बाद अपने को 'कबीर पंथी कवि' कह दिया है—

सूक्ष्म वस्तुओं से चुन-चुन स्वर
संयोजित कर उन्हें निरंतर
मैं कबीर-पंथी कवि
भू जीवन पट बुनता नूतन![1]

यह दूसरी बात है कि पंत जी की प्रकृति-कविताएँ इनकी अन्य प्रकार की कविताओं की तुलना में अधिक टिकाऊ होंगी। इनकी प्रकृति-कविताओं की कालोत्तीर्ण विशेषता को, जिसका आधार कूर्मांचल, कत्यूर की घाटी, हिमालय और उसके प्रांतर का सौन्दर्य है, रूस के साहित्य-विवेचकों ने भी लक्षित किया था। इसलिए जब इनकी चुनी हुई प्रकृति-कविताओं के रूसी अनुवाद का संकलन 'गिमलाइस्कया तेत्राज़' के नाम से मास्को से सन् 1965 ईस्वी में प्रकाशित हुआ, तब उसके प्रत्येक पृष्ठ को निकोलस गेरिक के हिमालय से संबंधित विभिन्न चित्रों की प्रतिकृति से मंडित कर मुद्रित किया गया। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि पंत की प्रकृति-कविताओं के सन्दर्भ में चित्रकार ब्रूस्टर के प्रकृति-चित्रों पर भी विचार किया जाना चाहिए। वयोवृद्ध अमरीकी चित्रकार मिस्टर ब्रूस्टर, मानों अल्मोड़ा में बस गए थे और उन्होंने वहाँ की पहाड़ियों तथा हिम-शिखरों की अनेक रंगमुखर छायाकृतियाँ अंकित की थीं, जो पंत को बहुत प्रिय थीं।

यह धारणा निर्भ्रान्त प्रतीत होती है कि कवि के रूप में पंत की अमरता इनकी प्रकृति-कविताओं में निहित है—ठीक उसी तरह, जिस तरह चित्रकार आइवाजोव्स्की और शॉविन्स्की की अमरता उनके प्रकृति-चित्रों में निहित है या श्रमजीवी उड़िया कवि गंगाधर मेहेर की अमरता उनके ग्रामाँचल संबलपुर की नैसर्गिक छवि को अंकित करने वाली उनकी प्रकृति-कविताओं पर निर्भर है। पंत की नवीन सगुणवादी कविताओं या उनके चेतना-काव्य को अनेक आलोचक 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की तरह शुभैषणा-काव्य या स्वस्ति-काव्य—दूसरे शब्दों में मनुष्यता का शील-पथ-निरूपक काव्य मानते हैं और इनके छायावादोत्तर विचार-काव्य को श्री अरविन्द-दर्शन का 'पद्यीकरण' कहते हैं, किन्तु इनकी रुचिर प्रकृति-कविताओं की विशिष्टता को कोई नहीं नकारता है। सचमुच, खड़ी बोली के प्रकृति-काव्य का स्वर्ण-काल गढ़ने में पंतजी का महान प्रदेय सर्वोपरि है। इसमें संदेह नहीं कि पंत का प्रकृति-काव्य अद्यपर्यन्त खड़ी बोली के सम्पूर्ण प्रकृति-काव्य की शिखर-छवि है। पंत का प्रकृति बोध केवल रूप-रंग की दृश्य सीमाओं तक

---

1. *शंखध्वनि*, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 101.

सीमित नहीं था। रूप-रंग की सीमाओं का अतिक्रम कर इन का प्रकृति-बोध सूक्ष्मतर गंध साधना तक गया था। इसलिए पंतजी द्वारा रचित प्राकृतिक साहचर्य की कविताओं में केवल भौतिक प्रकृति का रूप-चित्रण नहीं मिलता, बल्कि उसका 'भाव'-चैतन्य भी मिलता है। फलस्वरूप, इनके प्रकृति-काव्य में शोभना प्रकृति के 'रूप' और 'भाव'—दोनों का रागात्मक समेकन है। इन्हें यह ज्ञात है कि जब भूत-जगत मनोजगत के सन्निकर्ष में आता है, तब द्रष्टा को प्रकृति-बोध होता है। मनोजगत की निष्क्रिय अवस्था में प्रकृति के उपकरण केवल भूतात्मक संगठन बन जाते हैं। अतः इन्होंने अपने प्रकृति-काव्य में प्रकृति को मनोराग से रंजित कर उपस्थित किया है और प्रकृति के चेतन सौन्दर्य में मानव-चेतना की स्वर-संगति को भी मिला दिया है।

पंत जी ने सन् 1972 ईस्वी में मेरे द्वारा संकलित-संपादित अपनी उत्कृष्ट प्रकृति-कविताओं के संग्रह *गंधवीथी* के 'दो शब्द' में प्रकृति-संबंधी अपनी मुख्य मान्यता को सूत्र रूप में व्यक्त करते हुए लिखा था —"प्रकृति एक ही है। मैं प्रारंभ में उसके बाह्य रूप पर, वानस्पतिक जगत के सौन्दर्य पर मुग्ध हुआ था और उसी से प्रेरणा ग्रहण कर मैं ने प्रकृति-काव्य की रचना की थी। आगे चलकर मुझे प्रकृति के आंतरिक रूप पर भी दृष्टि मिली, जो मनुष्य तथा मनुष्य-जीवन में अधिक पूर्णता से अभिव्यक्त हुआ है। यदि मेरे प्रकृति-काव्य में रूप-सौन्दर्य को प्रधानता मिली है, तो मेरे चेतना-काव्य में भाव-सौन्दर्य का निरीक्षण-परीक्षण करने का प्रयत्न हुआ है, जिसके गहरे मूल मानव-सभ्यता तथा संस्कृति के इतिहास में फैले हुए हैं।"[1]

पंत जी प्रकृति को एक दार्शनिक प्रत्यय भर नहीं मानकर उसकी स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करते थे, जिसमें इन्हें एक सार्वभौम सामंजस्य की परिपूर्णता के साथ ही किसी दिव्य सत्ता का बोध होता था— मानो, प्रकृति इनके लिए बहिर्जगत में 'ऋत' की दृश्यमान प्रतिकृति बन गई है और वह कवि-दृष्टि में केवल 'पुद्गल-पुंज' या भौतिक तत्त्वों का संघटन-मात्र नहीं रह गई है! इसी रूप में इन्होंने प्रकृति को अपनी राग-वृत्ति का आलम्बन बनाया है। इस राग-वृत्ति के अंतर्गत अन्य मानवीय भावनाओं के साथ ही पूजा-भाव भी गतार्थ है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि प्रकृति के प्रति कवि का राग 'नागर' राग है, 'आरण्यक' राग नहीं।

साथ ही, विश्लेषण और मूल्यांकन की दृष्टि से यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि *वीणा* में संकलित पंत की प्रकृति-कविताएँ प्रकृति के साथ साक्षात् साहचर्य के कारण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि *वीणा* की प्रकृति-कविताएँ सन् 1918-20 ईस्वी की अवधि में कूर्मांचल के पहाड़ी परिवेश में रहते समय लिखी गई हैं, जबकि *पल्लव* और उसके परवर्ती संकलनों की प्रकृति-कविताएँ समतल के नगर-निवास-काल में (मुख्यतः प्रयाग

1. *गंधवीथी*, सुमित्रानन्दन पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1973

में) रची गई हैं, जहाँ न मखमली कालीन-सी कत्यूर की घाटी थी, न कूर्मांचल-कौसानी की छाया-प्रकाश वीथी-सी रुपहली वनानी और न शुभ्र राजमराल-सा उद्ग्रीव हिमशिखर था। इस प्रकार पंत के 'प्रकृति-विहारी' रूप की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति *वीणा* में ही हो सकी है, जहाँ प्राकृतिक दृश्यों की ताज़गी सहज उल्लास के साथ मूर्त्तिमान है। बाद में इनकी प्रकृति-कविताएँ अधिकतर 'दर्शन-सम्मिश्र' हो गई हैं और प्रकृति के मलीमस रूप से प्रायः दूर ही रही हैं। द्विवेदीयुगीन प्रकृति-काव्य से छायावादी प्रकृति-काव्य को अलग करने वाले जितने लक्षण हैं, उनका सबसे अधिक विकास इनकी प्रकृति-कविताओं में ही हुआ है। प्रकृति सौन्दर्य की 'अभिधा' को अतिक्रांत कर उसकी सूक्ष्म-सुंदर व्यंजना को एक उन्नत स्तर और नूतन अर्थ-संदर्भ प्रदान करने की दृष्टि से हिन्दी काव्येतिहास में इनका अद्वितीय स्थान है। "यदि यह कहना सच है कि छायावाद का प्रकृति-काव्य आधुनिक हिन्दी कविता का सर्वोच्च प्रकृति-काव्य है, तो हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि छायावादी प्रकृति-काव्य को सर्वोच्च बनाने का सर्वाधिक श्रेय सुमित्रानंदन पंत को ही है।"[2]

नई शताब्दी के नवोन्मेष के संस्कारों को लेकर पंत जी प्राकृतिक सुषमा के अतुल भाण्डार अल्मोड़ा की तल्ली कौसानी (हच्छीना) के निवासी और नॉर्मन ट्रुप नामक अँगरेज के 'कौसानी टी स्टेट' के खजांची तथा बाद में मैनेजर गंगादत्त पंत तथा माता सरस्वती देवी (सरुली) के घर में 20 मई, सन् 1900 ईस्वी (रविवार) को पैदा हुए थे। कूर्मांचल के इस सुदूर पहाड़ी प्रांतर कत्यूर में इस पंत-परिवार के पुरखे, लगभग तीन शताब्दी पहले, किसी युद्ध के प्रसंग में परिव्रजन करते हुए महाराष्ट्र से कूर्मांचल आकर यहीं बस गए थे। पंत जी को अपने माता-पिता के प्रति असीम सम्मान था। इसलिए इन्होंने अपने दो महाकाव्यों में से एक महाकाव्य *लोकायतन* अपने पूज्य पिता को और दूसरा महाकाव्य *सत्यकाम* अपनी स्नेहमयी माता को, जो इन्हें जन्म देते ही स्वर्ग सिधार गई, समर्पित किया है। अपनी माँ सरस्वती देवी (पीहर का पुकारू नाम 'सरुली') को स्मरण करते हुए इन्होंने अपना दूसरा महाकाव्य *सत्यकाम* जिन शब्दों के साथ उन्हें समर्पित किया है, वे द्रष्टव्य हैं—

---

1. इस प्रसंग में पंत जी ने स्वयं लिखा है— "वीणा की विस्मय-भरी रहस्य-प्रिय बालिका अधिक मांसल, सुरुचि सुरंगपूर्ण बनकर, प्रायः मुग्धा युवती का हृदय पाकर, जीवन के प्रति अधिक संवेदनशील होकर, *पल्लव* में प्रकट हुआ है। इस प्रकार प्रकृति की रमणीय वीथिका से होकर ही मैं काव्य के भाव-विशद सौन्दर्य-प्रासाद में प्रवेश पा सका।"— *रश्मिबंध*, सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1958, 'परिदर्शन', पृष्ठ 5.
2. *गंधवीथी (सुमित्रानंदन पंत)* की भूमिका, लेखक : डा. कुमार विमल, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1973, पृष्ठ 46.

मुझे छोड़ अनगढ़ जग में तुम हुई अगोचर,
भाव-देह धर लौटीं माँ की ममता से भर!
वीणा ले कर में, शोभित प्रेरणा-हंस पर,
साध चेतना-तंत्रि रसौ वै सः झंकृत कर
खोल हृदय में भावी के सौन्दर्य दिगंतर!

पंत जी देखने में कोमल और स्वभाव से मृदुल थे, लेकिन इनके भीतर एक 'इस्पाती व्यक्तित्व' था। ये जब किसी का खंडन करते थे, तब उसके रग-रेशे निकाल देते थे और उसकी प्रतिपत्ति के मेरुदंड को अपने तर्कों के गदा-प्रहार से तोड़ देते थे। यह इनके 'इस्पाती व्यक्तित्व' का ही प्रतिफलन था कि ये बड़े-बड़े प्रभावशाली व्यक्तियों के मंतव्यों को खंडित करने में कठोर और अपने विचारों को प्रतिपादित करने में दृढ़ बने रहते थे। इनके 'खंडन-कुठार' का शिकार महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे समादृत आचार्य को भी *वीणा* की अप्रकाशित भूमिका (अब 'विज्ञप्ति' शीर्षक से प्रकाशित तथा *शिल्प और दर्शन* नामक निबन्ध-संग्रह में संकलित) में बनना पड़ा था। इस 'विज्ञप्ति' के लेखन-काल में इनकी उम्र लगभग छब्बीस साल की रही होगी, जिसमें इन्होंने यह दृढ़ता-भरी बहादुरी कर दिखाई और निर्भीकता का यह नमूना पेश किया।

इसी तरह *पल्लव* की भूमिका[1] (विज्ञापन), जो लगभग पच्चीस साल की उम्र में पहली मार्च, सन् 1926 ईस्वी को लिखी गई थी, बहुत विद्रोहपूर्ण है। इसमें कविता से संबंधित कई परम्परागत और सुपरिचित मान्यताओं को धराशायी कर दिया गया है। *पल्लव* के 'प्रवेश' में पंत ने छंद-विधान से संबंधित निराला की कई धारणाओं की धज्जियाँ उड़ा दी हैं, जिनके प्रत्युत्तर-स्वरूप निराला ने 'पंत और पल्लव' शीर्षक अपने विस्तृत निबन्ध में पंत की अनेक धारणाओं को ध्वस्त कर दिया है। यह दूसरी बात है कि निराला ने 'मेरे गीत और कला' शीर्षक लेख में वर्ण-विचार की दृष्टि से पंत को 'श-ण-व-ल' स्कूल का कवि कहा है और स्वयं को जयदेव के समान 'भिन्न वर्ण सौन्दर्य' वाला कवि साबित किया है। इस विवाद के बाद निराला भी पंत-विरोध का कोई अवसर अपने हाथ से नहीं जाने देते थे। जब 'विजनवती' के कवि इलाचंद्र जोशी के संपादन में *संगम* (इलाहाबाद) का स्वर्ण जयंती अंक सन् 1950 ई. में प्रकाशित हुआ, तब निराला ने इसे एक 'पहाड़ी' द्वारा दूसरे 'पहाड़ी' का अभिनंदन कहा और *संगम* के उस अंक में पृष्ठ आठ पर निराला ने गद्य में पंत को जो बधाई दी, उसमें स्पर्द्धा, ईर्ष्या और मात्सर्य का भाव प्रच्छन्नता के साथ व्यक्त था। इस तरह इन दोनों कवियों के बीच जो दौर्मनस्य अंत-अंत तक नहीं मिट सका, उसकी विद्रूप परिणति हमें *लोकायतन* में भ्रष्ट-दुष्ट माधो गुरु के चरित्र-चित्रण में मिलती है।

---

1. जिसे छायावाद का 'मैनिफ़ेस्टो' कहा जाता है।

स्वभाव से अंतर्मुखी (introvert) पंत जी की 'युग-पथ'-पूर्व रचनाओं— *वीणा, ग्रंथि, उच्छ्वास, पल्लव* और *गुंजन* में अर्थात् छायावाद की प्रथम तरंग की रचनाओं में 'रोमांटिसिज़्म' के प्रमुख अंगीभूत भाव-तत्त्वों—विश्व-वेदना (weltschmerz), गहन मानसिक अवसाद (Melancholia) अंतर्जगत् (Inner Welt), सृष्टि में व्याप्त रुदन के आँसू (Lacrimae rerum), हृदयानुभूति और आन्तरिक भावोच्छ्वास की मसृण अभिव्यक्ति मिलती है। शायद, इन्हीं मसृण अभिव्यक्तियों के द्वारा पंत जी खड़ी बोली को प्रथम कोटि की काव्य-भाषा बना सके और स्वयं को खड़ी बोली कविता की कोमल-कांत पदावली के कल्पनाशील प्रकल्पक के रूप में स्थापित कर सके। यों, पंत जी की *उत्तरा* -काल और उसकी उत्तरवर्ती युगान्त-विषयक (eschatological) रचनाओं में भी उक्त भाव-तरंगों के शीकर-कण मिल ही जाते हैं। यह स्मरणीय है कि पंत जी ने भारत को अंतर्जगत् का सिद्ध वैज्ञानिक कहा है। इस उक्ति से इनकी दृष्टि में उस अंतर्जगत्[1] का महत्त्व व्यक्त होता है, जो छायावादी कविता की सर्वोत्तम संचरण-भूमि थी।

पंत-काव्य के प्रथम चरण को यानी 'छायावादी कवि' पंत के काव्य को समझने के लिए, संक्षेप में, 'रोमांटिसिज़्म' पर विचार कर लेना उपयोगी होगा। जिस तरह 'रोमांटिसिज्म' यूरोप के प्रमुख देशों—इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी में सदृश वैचारिक पृष्ठभूमि में आया तथा इन देशों की 'रोमांटिक' काव्य-धारा में लगभग समान प्रमुख प्रवृत्तियाँ रहीं, उसी तरह भारत की मुख्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के काव्य में भी मिलती-जुलती वैचारिक पृष्ठभूमि एवं प्रवृत्तियों के साथ 'रोमांटिसिज़्म' कहीं छायावाद और कहीं भाववाद बनकर अवतरित हुआ। गेटे (गोयेठे) कहा करते थे कि 'रोमांटिसिज़्म' रोग है, जबकि 'क्लासिसिज़्म' स्वास्थ्य है।[2] किन्तु, यह ध्यातव्य है कि अपनी तरुणाई में गेटे स्वयं ही, शिलर के साथ, अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चल रहे उस जर्मन साहित्यांदोलन में शामिल थे, जो Sturm und Drang[3] के नाम से ख्यात था। यह साहित्यांदोलन रूसो के विचार-दर्शन से प्रेरित था और इसका नामकरण फ्रिड्रिक फॉन क्लिंगेर[4] द्वारा इसी नाम से रचित एक नाटक पर आधारित था। 'Sturm und Drang' नामक इस साहित्यांदोलन को जर्मन 'रोमांटिसिज़्म' का आरंभिक रूप माना जाता है। सामान्यत: जब 'अहस्तक्षेप'[5] युग-कल्प बन जाता है, तब व्यक्तिवाद का उदय होता है और रोमांटिक काव्य-प्रवृत्तियाँ मुखर हो जाती हैं। यह दूसरी बात है कि यूरोप में 'रोमांटिसिज़्म' का उदय सन् 1789

---

1. छायावादी कवि 'रोमांटिसिज़्म' की प्रवृत्ति के अनुरूप, अंतर्जगत को भौतिक जीव-जगत (lebenswelt) से अधिक महत्त्व देते थे। कवि का यह अंतर्जगत बाह्य जगत के सन्निकर्ष से उत्पन्न कवि की व्यक्तिगत, अनुभूतियों से निर्मित होता है। इसलिए यह अंतर्जगत कवि का 'अपना' होता है, जिसे हम शब्द-भेद से 'प्रतिस्विक' कह सकते हैं।
2. 'Romanticism is disease; Classicism is health.'
3. Storm and Stress.
4. Friedrich von klinger (1752-1831).
5. Laissez-fairer

ईस्वी में फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के विभ्राट् के साथ हुआ और उसे सन् 1824 ईस्वी के 'कॉम्बिनेशन ऐक्ट्स' (Combination Acts) के उस निरसन (Repeal) से भी बल मिला, जिसे आंग्ल दमन (English Repression) का अन्तक कहा जाता है। अंग्रेज़ी रोमांटिक कवियों में विलियम ब्लेक और बायरन सामाजिक-राजनीतिक दृष्टि से इतने सक्रिय थे कि ब्लेक पर राजद्रोह (Treason) का मुक़दमा किया गया था और बायरन की मृत्यु यूनान के स्वाधीनता-संघर्ष में, तुर्की शासन के विरुद्ध, भाग लेते समय हुई थी। बायरन इतना जुझारू और ऐसा विध्यतिक्रमी था कि उसका संलेपित (embalmed) मृत शरीर जब यूनान से दफ़नाने के लिए वेस्टमिन्स्टर ऐबे (Westminster Abbey) लाया गया, तब वहाँ के याजक (क्लर्जी) ने उसे दफ़नाने से इनकार कर दिया। परिणामस्वरूप उसकी लाश उसके गृह-नगर नौटिंघमशायर के पैतृक इलाके (Hucknall Torkard) में दफ़नाई गई। यह भी ज्ञातव्य है कि बायरन ने इटली के 'पॉज़िटिव ऐक्शन' में भी भाग लिया था। इसी तरह शेली भी एक संघर्षशील व्यक्ति था। शेली की मृत्यु तीस साल की उम्र में सन् 1822 ईस्वी में इटली के ('Bay of Lerici') में 'एरियल' नामक लघुपोत के डूब जाने के कारण हुई थी। कहने का आशय यह है कि पंत जैसे छायावादी कवियों को या अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों को केवल कोमल-प्राण, सौन्दर्य-प्रेमी या पलायनवादी कह देना उचित नहीं है। इन कवियों ने भी अपने विरोध और जीवन-संघर्ष का सामना जीवट के साथ किया था।

अंग्रेज़ी के पाँच प्रमुख रोमांटिक कवियों में वर्ड्स्वर्थ (1770 1850) सर्वाधिक दीर्घजीवी हुए। उनकी दीर्घजीविता का श्रेय ग्रैस्मियर-स्थित उनके शांत जलकपोत-कुटीर (Dove Cottage) और उस 'लेक डिस्ट्रिक्ट' के अदूषित प्राकृतिक परिवेश को है, जहाँ लगभग तीन सौ पहाड़ियाँ और तैंतीस झीलें हैं। ब्रिटेन के 'पोयंट लॉरियेट' वर्ड्स्वर्थ और पंत में अनेक समानताएँ हैं। वर्ड्स्वर्थ की तरह 'गिरि-कोयल' पंत भी 'पहाड़ों के कवि' और 'नेचर्स हाई प्रीस्ट' थे। छायावादी कवियों की 'त्रयी' में पन्त सबसे अधिक दीर्घजीवी हुए। इनका देहांत सतहत्तर वर्ष की उम्र में सन् 1977 ईस्वी में हुआ। वर्ड्स्वर्थ और पंत—दोनों को चेतन प्रेयसी के रूप में प्रकृति प्रिय थी। अल्मोड़ा, कौसानी: मल्ली कौसानी और तल्ली कौसानी का प्राकृतिक सौन्दर्य 'लेक डिस्ट्रिक्ट', ग्रारिमयर लेक, बटरमियर, कोकेर्माउथ और तरंगिणी दुदोन (Duddon) तथा डेर्वेन्ट (River Derwent) के प्राकृतिक सौन्दर्य से कम नहीं माना जा सकता।

विस्मय, जिज्ञासा और दार्शनिक रुचि के कवि पंत की समानता, वर्ड्स्वर्थ के बाद, कॉलरिज के साथ दीख पड़ती है। दोनों का स्वास्थ्य दुर्बल था। कहा जाता है कि कॉलरिज को अपनी शारीरिक पीड़ा सहन करने के लिए अफीम खानी पड़ती थी। इन दोनों कवियों के स्वभाव में दार्शनिकता के साथ अंतर्मुखता थी। जिस तरह जर्मन दार्शनिकों के प्रभाव ने कॉलरिज को और भी दार्शनिक बना दिया था, उसी तरह श्री अरविन्द के दर्शन के प्रभाव ने पंत को गंभीरतर विकासवादी दार्शनिक बना दिया था। पंत द्वारा अपनी कृतियों के लिए लिखित वक्तव्यों, प्रस्तावनाओं, विज्ञापनों, पर्यालोचनाओं, भूमिकाओं, विविध

गद्य लेखों और 'छायावाद: पुनर्मूल्यांकन' जैसे आलेखों में विचारों की जो गरिमा, तर्क-भाषा या चिन्तन-प्रकर्ष मिलता है, वह कूलरिज के गंभीर गद्य-लेखन दार्शनिक गहराई से युक्त गद्य-लेखन की याद दिला देता है। यों तो चारो प्रमुख छायावादी कवि गद्य-लेखन में प्रवीण थे, उत्कृष्ट कोटि के गद्यकार थे और गद्य के निकष पर खरे उतरे कवि थे; किन्तु, विचार-प्रधान आलोचनात्मक गद्य-लेखन के क्षेत्र में, विस्तार और लेखन-शैली की दृष्टि से, पंत अप्रतिम थे। इनकी सृजन-जाह्नवी विशाल थी।[1]

अंग्रेज़ी के प्रसंगाधीन रोमांटिक कवियों में वर्ड्सवर्थ, बायरन और कीट् जनानी-नुमा लंबे घुँघराले बाल नहीं रखते थे, किन्तु कॉलरिज और शेली नरदारा की तरह लंबे बाल रखते थे, जो इनके चेहरे को आकर्षक बनाने के साथ ही इनकी आंतरिक रोमांटिक प्रवृत्ति को प्रकट करते थे। इन दोनों रोमांटिक कवियों से, शायद, अधिक कोमल, घुँघराले, लच्छेदार और विन्यास-कौशल-कलित लंबे बाल पंत ने रखे थे—अपनी आकृति को नारी-सदृश सुंदर बनाने के लिए। ये अपनी सुंदर मुखाकृति, लहरिल केश-राशि और सुकुमारता के कारण छात्र-जीवन में नाटकों में नारी की भूमिका बहुत अच्छी तरह अदा करते थे। कई लोगों का कहना है कि प्रयाग के हिन्दू हॉस्टल में आयोजित 'सिंहल विजय' नाटक में अदा की गई इनकी नारी-भूमिका को इनके सहपाठी जीवन पर्यन्त नहीं भूल सके। तरुणाई में इनकी आकृति एंग्लो-इंडियन तरुणी से

1. विलक्षणता या विशिष्टता की दृष्टि से यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि छायावादी-चतुष्टय के कवियों में पंत की सर्जनात्मक अवधि सबसे अधिक विस्तृत है। इन्होंने पंद्रह-सोलह साल की उम्र में सर्जनात्मक लेखन प्रारंभ किया और ये सतहत्तर साल की उम्र तक (यानी मृत्यु-वर्ष तक) रचना-रत रहे। इस प्रकार इनकी सर्जनावधि लगभग बासठ साल की रही और इन्होंने छायावादी कवियों के बीच सबसे अधिक लिखा भी है। महादेवी की सर्जनावधि मुख्यत: *नीहार* की कविताओं से लेकर *दीपशिखा* की कविताओं तक सीमित रही और महादेवी ने लगभग 250 गीतियों-प्रगीतों की रचना की। यों सन् 1922 ईस्वी से सन् 1942 ईस्वी तक की कालावधि के बाद भी महादेवी ने कई कविताएँ, विचारात्मक निबंध और संस्मरण लिखे, जो पहले तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में और बाद में पुस्तक-रूप में प्रकाशित हैं। 'आज यह चंदन-तरी-ज्वाला-भरे तट से न बाँधो' जैसी मार्मिक कविताएँ महादेवी ने अपने देहावसान के चार-पाँच वर्ष पूर्व तक लिखी थीं। प्रसाद के अल्पायु होने के कारण उनकी सर्जनावधि का ढाई-तीन दशकों तक सीमित होना स्वाभाविक है। उनका देहांत अड़तालीस वर्ष की वय में ही, कामायनी के प्रकाशन के कुछ महीने बाद, सन् 1937 ईस्वी में हो गया। निराला लगभग बासठ वर्षों तक जीवित रहे। इस गणित के अनुसार निराला की सर्जनावधि को लगभग चालीस-बयालीस वर्षों तक जारी रहना चाहिए था, किन्तु उनके जीवन का उत्तरार्द्ध मानसिक अस्तव्यस्तता के कारण,सर्जना की दृष्टि से बाधित रहा। यह तथ्य रेखांकित करने योग्य है कि प्रसाद अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति कामायनी के प्रकाशन के बाद कुछ ही महीनों तक जीवित रह सके थे, किन्तु निराला अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति 'राम की शक्ति-पूजा' के प्रकाशन के बाद लगभग पचीस वर्षों तक जीवित रहे।

इतनी मिलती-जुलती थी कि अपरिचितों को इनके बारे में प्रायः भ्रम हो जाता था। इन्होंने अपनी हृदय-रंजना 'देवी' को सम्बोधित करते हुए लगभग 22 वर्ष की वय में लिखा भी था—

घने लहरे रेशम के बाल-
धरा है सिर पर मैं ने देवि!
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृंगार।

ये अपने किशोर-काल, वयः संधि, पौगंडावस्था और तरुणाई के पहले प्रहर में किशोरियों के साथ इतनी आत्मीयता तथा सादृश्य का अनुभव करते थे कि इन्होंने अपना नारी जैसा नाम (उपनाम!) रख लिया था—'नंदिनी'। इसे एक प्रकार का विलिंगी वेश-धारणवाद (Transvestism) कहा जा सकता है, लेकिन सच बात यह है कि लंबे घुँघराले केश रखने की प्रेरणा इन्हें नेपोलियन के एक चित्र से मिली थी। इस प्रेरणा में किसी 'सुकेशिनी' का योगदान नहीं था।

एलन रॉड्वे (Allan Rodway) द्वारा वर्गीकृत अंग्रेज़ी के 'रैडिकल रोमांटिक पोएट्स' की तरह छायावादी चतुष्टय के कवि भी मिश्रित सामाजिक पृष्ठभूमि से आए थे। अंग्रेज़ी के 'रैडिकल रोमांटिक पोएट्स' में बायरन काल्विनवादी (Calvinist) समाज में पले हुए और उलटे मुड़े पैर वाले (club-foot) 'लॉर्ड' थे, शेली अभिजात कुल के एक बैरोनेट के पौत्र थे, वर्ड्सवर्थ कुलीन उच्च मध्यम वर्ग के थे, कोलरिज पुरोहित-कुल (याजक वर्गः 'क्लर्जी') के थे और कीट्स समाज के निचले संस्तरण से आते थे। कीट्स के पिता निम्न आय- वर्ग के थे और एक तबेले में साईस का काम करते थे। छायावाद के चार प्रमुख कवियों में निराला को छोड़कर शेष सभी छायावादी कवि मध्यम आयवर्गीय परिवार के थे। केवल निराला की पारिवारिक आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, किन्तु वे महिषादल स्टेट के राजपरिवार के राजसी परिवेश से परिचित थे।

यह गौरतलब है कि छायावाद के प्रमुख कवियों में प्रसाद और महादेवी ने अपनी काव्य-रचना ब्रजभाषा से प्रारंभ की थी, निराला[1] ने अपनी प्रारंभिक कविताएँ संस्कृत और बांग्ला में लिखी थीं, किन्तु पंत ने अपनी प्रारंभिक कविताएँ भी खड़ी बोली में लिखी और शब्द-शय्या, शैली तथा व्यंजना में बाँकपन तथा नवीनता के साथ लिखीं। काव्य-रचना के प्रारंभिक दौर में ही पंत ने हरिगीतिका, गीतिका, रोला, वीर, मालिनी, मंदाक्रांता,

1. पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने *कविता-कौमुदी* के दूसरे भाग में निराला का परिचय देते हुए लिखा है—"पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी का जन्म माघ सुदी 11, संवत् 1955 में महिषादल स्टेट (मेदिनीपुरः बंगाल) में हुआ। इनका असली मकान युक्त प्रांत के उन्नाव जिले में गढ़ाकोला *गाँव में है।.... पहले ये सभाओं में संस्कृत और बंगला में ही कविता पढ़ा करते थे।* पर बड़े होने पर इनका स्वाभाविक प्रेम हिन्दी पर हुआ।"

शिखरिणी इत्यादि जैसे छंदों में काव्य-रचना का पूरा अभ्यास कर लिया था।[1] इसलिए पंत

1. शिल्प और दर्शन, पंत, प्रयाग 1961, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 218 *पल्लव* के 'प्रवेश' में भी पंत जी द्वारा की गई छंद-चर्चा महत्त्वपूर्ण और विचारणीय है। इस छंद-चर्चा में इन्होंने सवैया, कवित्त, पीयूष वर्षण, रूपमाला, सखी, प्लवंगम्, राधिका, अरिल्ल, पद्धरि इत्यादि अनेक छंदों का उल्लेख किया है, जिनमें रोला छंद इनको सर्वाधिक प्रिय था—"हिन्दी में रोला छंद अंत्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसों में प्रशस्त जीवन तथा स्पंदन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फड़क उठते हैं। ऐसा जान पड़ता है, उसके राजपथ में मेला लगा है, प्रत्येक शब्द 'प्रवाल शोभा इव पादपानां' तरह-तरह के संकेत तथा चेष्टाएँ करता, हिलता-डुलता आगे बढ़ता है।" इन्होंने रोला के विषय में आगे भी लिखा है—"रोला और रूपमाला दोनों छंद चौबीस मात्रा के हैं; पर इन दोनों की गति में कितना अंतर है? रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटों को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है, वहाँ रूपमाला दिनभर के काम-धंधे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता में डूबा हुआ, नीची दृष्टि किये, ढीले पाँवों से जैसे घर की ओर जाता है।" रोला छंद के प्रति पंत जी का आकर्षण इससे भी परिलक्षित होता है कि 'भावानुसार छंदों में काट-छाँट' करने में निपुण पंत जी ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'परिवर्तन' में वहाँ रोला छंद का ही प्रयोग किया है, 'जहाँ भावना का क्रिया-कंपन तथा उत्थान-पतन अधिक है' और 'जहाँ कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित' हो गई है। यों, बाद में पंत जी की छंद-धारणा में परिवर्त्तन के कई हिलकोर आए हैं; जो ऐसी पंक्तियों में प्रतिबिम्बित हैं—

खुल गए छंद के बंध, प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त औ' युगवाणी बहती अयास!

अथवा

शब्दों के कंधों पर
छंदों के बंधों पर
नहीं आना चाहता!
वे बहुत बोलते हैं! (*कला और बूढ़ा चाँद*, पृष्ठ 152)

किन्तु, इन्होंने पुनः ऐसी पंक्तियाँ भी लिख दी हैं—

छंद बंध खुल गए, गद्य क्या बनीं स्वरों की पाँतें?
सोना पिघल, कभी क्या पानी बनता? कैसी बातें' (*अतिमा*, पृष्ठ 94)

अथवा

छंद क्या छूट गया? तन्मय स्वर टूट गया?

छंद नहीं छूटा जी, स्वर नहीं टूटा जी,
क्षिप्र छंद-रथ पर मुक्त स्वर पथ पर
नया शब्द अब सवार! (*गीत-अगीत*, पृष्ठ 129)

की प्रारंभिक कविताओं—यथा 'गिरजे का घंटा', 'काग़ज़ का फूल', 'तंबाकू का धुआँ' इत्यादि में भी रेंगने या घुटने के बल चलने या तुतलाने अथवा पूर्वाभ्यास की निशानियाँ नहीं मिलतीं। एक प्रातिभ कवि की रम्य रचनाओं की तरह पंत की कविताएँ प्रारंभ से ही लगभग सजी सँवरी हुई हैं।

वह गतिशीलता (mobility), जो कवि की रचना, रचना-दृष्टि और सोच को प्रभावित करती है, छायावादी कवियों के बीच पंत में सर्वाधिक मिलती है। अपने जन्म-स्थान कौसानी (अल्मोड़ा) से बाहर पंत जी बनारस, इलाहाबाद, कालाकाँकर, दिल्ली, मद्रास, पांडिचेरी (सन् 1944 ईस्वी) इत्यादि कई स्थानों से जुड़े थे। विशेषकर, मद्रास में इन्हें लगभग दो वर्षों (1944-46) तक रहने का अवसर मिला था, जिस अवधि में ये दक्षिण भारत की साहित्य संस्कृति से निकट परिचय स्थापित कर सके। 'हिमाद्रि और समुद्र' शीर्षक कविता की रचना इन्होंने मद्रास-प्रवास में ही की थी। विख्यात नर्त्तक उदयशंकर से उनके सिटोली और सिमतोला (अल्मोड़ा) स्थित कला-केन्द्र में परिचय प्राप्त करने के बाद सन् 1944 ईस्वी में नटराज (और चित्रकार) उदय शंकर के चलचित्र —*कल्पना* के निर्माण के सिलसिले में ये मद्रास गए थे। इन दो वर्षों की अवधि में उदयशंकर परिवार और उनकी मंडली के साथ इनका घनिष्ठ सम्पर्क हो गया था। पंत जी के देहांत के बाद स्वर्गीय उदयशंकर की मंडली (troupe) के द्वारा—संभवत: अमला शंकर के निर्देशन में पंत की इन पंक्तियों—'दूर उन खेतों के उस पार, जहाँ तक गई नील झंकार'—पर आधारित 'नील झंकार' शीर्षक जो 'भाव नृत्य' (बैले) प्रस्तुत किया गया था, वह शंकर-परिवार और शंकर-मंडली की ओर से पंत जी को अर्पित एक अपूर्व रागात्मक श्रद्धांजलि है।

सन् 1961 ईस्वी में पंत जी ने 24-25 दिनों के लिए विदेश-यात्रा भी की थी, जिसके दरमियान इन्हें ताशकंद, मॉस्को, लेनिनग्राड, फ्रांकफुर्त्त, पेरिस और लंदन जाने का अवसर मिला था। इनकी यह विदेश-यात्रा, मुख्यत: सोवियत भारतीय सांस्कृतिक मैत्री संघ के निमंत्रण पर, रूस के लिये आयोजित थी। इस विदेश-यात्रा से इनके अनेक भ्रम टूटे थे, इनकी दृष्टि का विस्तार हुआ था, इनकी विदेश-भीति (ज़ेनोफोबिया) घटी थी, स्वदेश-गौरव का आत्मशंसी उत्साहाधिक्य[1] संतुलित हुआ था और इन्हें पाश्चात्य संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को, उसकी सीमाओं के साथ, समझने का अवसर मिला था। इन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि इस "विदेश-भ्रमण से मेरा ज्ञान-संवर्धन हुआ। आधुनिक सभ्यता के प्रति मेरे जो विचार थे, उन्हें दुहराने का अवसर मुझे इस यात्रा में मिल सका।"[2]

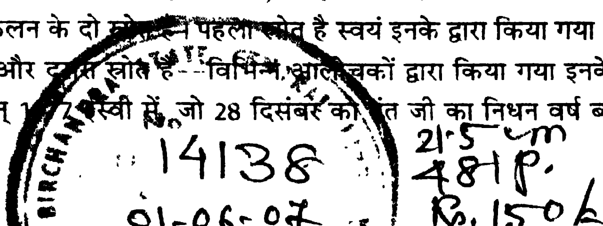
---

1. Self-cherishing faddism
2. *कला और संस्कृति*, पंत, किताब महल, इलाहाबाद, 1965, पृष्ठ 91.

शायद, पंत जी की इस गतिशीलता (mobility) के दायरे का प्रभाव इनकी वैचारिक गतिशीलता पर भी पड़ा है। उपनिषद्, कालिदास, महात्मा गाँधी, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, मार्क्स, फ्रायड, श्रीअरविन्द—इन सबसे ये प्रेरित और प्रभावित हुए थे। इसीलिए इन्होंने अपने व्यक्तित्व को 'विकासप्रिय व्यक्तित्व' कहा है, जो 'साकल्य', 'समग्रता' और 'समन्वय' का अन्वेषी हुआ करता है और लौकिक-पारमार्थिक, प्रत्यक्ष-परोक्ष, निर्गुण-सगुण, ऐहिक-आमुष्मिक जैसे ध्रुवांत युग्मों के बीच संतुलन हेतु प्रयत्नशील रहता है।

सर्जनावधि के विस्तार और साहित्य-लेखन की विपुलता के साथ पंत के लेखन में विधाओं का वैविध्य भी मिलता है। इस विविधता से अभिव्यक्ति और संप्रेषण को परिपूर्णता पाने के लिए अधिकाधिक अवसर उपलब्ध होता है। पंत जी ने दो उपन्यास लिखे—*हार* और *क्रमश:* (अपूर्ण) तथा कई कहानियाँ भी लिखीं—पानवाला, उस बार, दम्पति, बन्नू और अवगुंठन। ये कहानियाँ अब *पाँच कहानियाँ* के नाम से संग्रह-रूप में प्रकाशित हैं। दूसरी ओर, इन्होंने *लोकायतन* (सन् 1965 ईस्वी में सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार से सम्मानित) और *सत्यकाम* जैसे महाकाव्य तथा सहस्राधिक स्फुट कविताओं के अलावा *ज्योत्स्ना* जैसी नाटिका तथा *रजत शिखर* एवं *सौवर्ण* जैसे काव्य-रूपकों का प्रणयन किया। इसमें संदेह नहीं कि इन्हें सर्वाधिक यश कविता-लेखन की विधा में मिला है, किन्तु काव्य-चिन्तन से संबंधित इनका आलोचनात्मक गद्य-लेखन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, जो इनकी पुस्तकों की भूमिकाओं, विज्ञापनों, वक्तव्यों, भाषणों, आलेखों और प्रकीर्ण लेखों के रूप में उपलब्ध है। यह लक्ष्य करने योग्य है कि आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नि:सन्देह, अत्यंत महत्त्वपूर्ण आलोचक तथा साहित्य-चिन्तक हैं, किन्तु वे नितांत गौण कवि हैं—अर्थात्, कवि के रूप में निपट साधारण हैं। दूसरी ओर, छायावाद के चारों प्रमुख कवि महान कवि होने के साथ ही महत्त्वपूर्ण आलोचक, साहित्य-चिन्तक और गद्य-लेखक भी हैं; जिनमें पंत जी कॉलरिज की तरह काव्य-सिद्धांतों के निरूपक भी हैं।

चूँकि पंत जी को, इनके कथनानुसार, ऐसा आलोचक नहीं मिल सका, जो इनकी कविताओं के कला-पक्ष की विशेषताओं का और इनके चिन्तन की मौलिक समग्रता का सही व्याख्यान कर सके, इसलिए इनको छायावाद युग के आरंभ से ही अपनी कविता-पुस्तकों का वक्तव्य या पर्यालोचन लिखना पड़ा। इनकी भूमिकाओं ने इनकी कविताओं की समझ के लिए—इनकी काव्यगत विशेषताओं की परख के लिए निश्चय ही कसौटी और रौशनदान का काम किया है। कविता, साहित्य-विमर्श और चिन्तन के क्षेत्र में इनके प्रदेयों के आकलन के दो स्रोत हैं—पहला स्रोत है स्वयं इनके द्वारा किया गया अपने प्रदेयों का आकलन और दूसरा स्रोत है—विभिन्न आलोचकों द्वारा किया गया इनके प्रदेयों का मूल्यांकन। सन् 1977 ईस्वी में, जो 28 दिसंबर को पंत जी का निधन वर्ष बन गया, पंत



जी ने अपने मुख्य प्रदेयों को आकलित करते हुए *मुक्ताभ* की भूमिका में लिखा है - ''अपनी काव्य-साधना में मैंने संत कवियों तथा रवीन्द्रनाथ से अनुप्राणित छायावाद की मध्ययुगीन आध्यात्मिकता तथा आदर्शवादिता को अंतश्चेतना तथा जीवन लोक-चेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को लौकिकता में परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव-चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है। मैं अपने युग की चेतना में छाए हुए अंधविश्वासों तथा निरर्थक रूढ़ि-रीतियों के प्रेतों से लड़ा हूँ। मैंने विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों तथा जातियों-वर्गों में बँटे हुए लोगों को अपनी काव्य-चेतना के प्रांगण में आमंत्रित कर उनको एक दूसरे के पास लाने का प्रयत्न किया है। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर, उन्हें लोक-कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में एक दूसरे के पूरक की तरह, संयोजित करना चाहा है। अपने प्रगीतों में मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलाई है। उसे नवीन रागात्मक संवेदनों, नवीन आदर्शों के स्पंदन से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है। कला-पक्ष में मैंने अपनी युग-चेतना को नवीन सौन्दर्य का परिधान देने का प्रयत्न किया है।''[1]

इसी तरह अरविन्द-दर्शन की पृष्ठभूमि और प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए पंत ने अपने प्रदेय की मौलिकता का उल्लेख इस प्रकार किया है—''मेरा दृष्टिकोण है कि जड़ उसकी (जीवन-तत्त्व की) पीठिका और मन उसी के एक अंश के रूप में उसका संचालक है, जैसे आँख, मनुष्य की छोटी-सी इन्द्रिय होकर उसे दृष्टि-बोध देती है, पर वह मनुष्य से बड़ी नहीं है, वैसे ही मन जीवन के क्रियाकलाप को संयोजित करने की दृष्टि देने के कारण उससे बड़ा नहीं बन जाता। श्री अरविन्द का इस विषय में दूसरा ही दृष्टिकोण है। उनके अनुसार मन जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण, अतिमन मन से अधिक महत्त्वपूर्ण है और उनकी साधना का क्षेत्र भी जीवन और मन से अधिक अतिमन ही रहा है, जिसे वह 'सुपरमाइंड' कहते हैं।''[2] इसी प्रकार श्री अरविन्द के अतिमन (सुपरमाइंड) और पंत के अतिमन (ऋतचित्!) में मुख्य अंतर है--क्षेत्र (एरिया) का अंतर। पंत जी के अनुसार श्री अरविन्द का अतिमन एक 'एरिया' या क्षेत्र में, अर्थात् अतिमानस के कुछ साधकों के समूह में अवतरित होगा और ये विशिष्ट चैतन्य-युक्त व्यक्ति संसार में उन लोगों के बीच उस नई संबोधि का प्रसार करेंगे जो उसके उपयुक्त पात्र होंगे और समग्र (इंटीग्रल) योग की साधना करने को तैयार होंगे। इससे भिन्न पंत जी की यह मान्यता है कि सत्य की साधना के लिए इतिहास और सभ्यता ने जो सामाजिक-सामूहिक विकास-मंत्र प्रस्तुत किया है, उसी को अधिकृत कर, उसे राष्ट्रीयता से अंतर राष्ट्रीयता में और उसे

1. *मुक्ताभ*, पन्त, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1977, पृष्ठ 11
2. *छायावाद : पुनर्मूल्यांकन*, पंत, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1965, पृष्ठ 77-78.

विश्व-मानवता एवं दिव्य मानवता में क्रमशः विकसित कर, उस पूर्ण जीवन को लोक-जीवन में मूर्त्त देखा जा सकता है।

इस तर्क-प्रचुर दार्शनिक विश्लेषण के उपरांत पंत ने छायावादी कवि-चतुष्टय के अन्य कवियों की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए अपने मुख्य प्रदेय को इन शब्दों में उपस्थापित किया है-"छायावादी कवि-चतुष्टय के अंतर्गत जहाँ प्रसाद जी ने मुख्यतः सांस्कृतिक नए मूल्य के ज्ञान-पक्ष (कॉग्निशन) को वाणी देने का प्रयास किया है, वहाँ निराला जी ने शक्ति-संकल्प-पक्ष (वोलिशन) को और महादेवी ने उसके रागात्मक पक्ष (इमोशन) को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न किया है और मैंने नए मूल्य के चैतन्य (स्पिरिट)-पक्ष का उद्घाटन कर, उसमें उपुर्यक्त तीनों पक्षों को संयोजित करने का प्रयत्न किया है।"[1] शायद, इसी अर्थ में पंत ने 'गीतहंस' की एक कविता में अपने को 'जन भू का कवि' कहा है - 'मैं जन भू का कवि हूँ।'[2]

इस तरह ज्ञान, शक्ति, राग, चैतन्य, भूत और अध्यात्म के समेकित रूप को वाणी देने वाले सतत विकासशील कवि पंत के प्रदेय--समन्वय, साकल्य और संपूर्णता की दृष्टि से, महत्त्वपूर्ण हैं। पंत की असाधारण काव्य-प्रतिभा को उनकी किशोरावस्था में ही लक्षित करते हुए उस समय के वयोवृद्ध कवि श्रीधर पाठक ने उनको 'फ़्यूचर पोएट ऑव इंडिया' कहा था।

प्रस्तुत प्राक्कथन में पंत की विकासवादी धारणा पर तनिक विस्तार से विचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। विकासवाद के पाश्चात्य विश्लेषकों का कहना है कि 19वीं सदी के यूरोपीय--विशेषकर अंग्रेज़ी साहित्य पर विकासवाद का परिलक्षणीय प्रभाव था। इसके पूर्व 18वीं सदी के काव्य में भी आद्य विकासात्मक (प्रोटो-इवॉल्यूशनरी) विचारों की कमी नहीं थी। चार्ल्स डार्विन के पितामह इरैस्मस डार्विन (1731-1802) द्वारा सन् 1802 ईस्वी में लिखित 'Temple of Nature' शीर्षक कविता पठनीय है, जिसमें इरैस्मस ने उस आंतरिक 'आदि जीवन-शक्ति' (लाइफ़-फ़ोर्स) का सांकेतिक चित्रण किया है, जो सृष्टि के क्रमिक विकास के मूल में अवस्थित है। एलेक्जेंडर पोप की पद्यबद्ध रचना 'एसे ऑन मैन' की अनेक पंक्तियों ने भी पाठकों का ध्यान प्राकृतिक विकासवाद की ओर आकृष्ट किया था। इसी तरह 'Entwicklung' --प्रकृति के विकास-नियम की धारणा गेटे की कृतियों में मिलती है। बीज के प्रस्फुटन में निहित विकास का सादृश्य गेटे को सम्पूर्ण सृष्टि के विकास में दीख पड़ता था। टी.एच. हक्सले

1. *छायावाद: पुनर्मूल्यांकन*, पंत, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1965, पृष्ठ 97.
2. गत देश काल के मूल्यों को अतिक्रम कर
जीवन का स्वर्ग बसाने आया भू पर-
वाणी का सुत, युग अग्रदूत, नव मधु पिक,
समझो तो सत्य, न समझो तो माया हूँ। -- *गीत हंस*, पृष्ठ 237.

ने आल्फ्रेड टेनिसन को विज्ञान की विकासवादी प्रवृत्ति का सर्वोत्तम संवाहक कवि माना है। टेनिसन-रचित 'इन मेमोरियम' की अनेक पंक्तियों में हमें प्रकृति, पदार्थ, जीव और चेतना की विकास-दशा के जो सूत्र-संकेत मिलते हैं, वे हमें शार्डिन की उस मान्यता के समीप ले जाते हैं, जिसके अनुसार मनुष्य एक सुसंगत पूर्णता की ओर बढ़ता जाएगा। रॉबर्ट ब्राउनिंग का एक काव्य रूपक--'Paracelsus'-- इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि इसमें प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास की समेकित धारणाएँ मिलती हैं। इस प्रकार श्री अरविन्द और शार्डिन के आध्यात्मिक विकासवाद, टेनिसन और ब्राउनिंग के सहज प्राकृतिक विकासवाद तथा पंत के सामाजिक-सामूहिक विकासवाद के इतः पूर्व अलक्षित सूत्रों के विस्तृत और तुलनात्मक अध्ययन-विश्लेषण की आवश्यकता है।

यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आध्यात्मिक विकासवादी दर्शन की परंपरा सदियों पुरानी है। यह आध्यात्मिक विकासवादी दर्शन केवल श्री अरविन्द के दर्शन--अंतश्चित के उत्क्रमण-प्रधान दर्शन-तक सीमित नहीं है। जिस फ्रांस के साहित्य, संस्कृति और दर्शन से श्री अरविन्द (1872-1950) का निकट परिचय था, उसी फ्रांस के आध्यात्मिक विकासवादी दार्शनिक शार्डिन (Tielhard de Chardin : 1881-1955) श्री अरविन्द के समकालीन थे। सन् 1946 ईस्वी में लिखित शार्डिन की पुस्तक *Le Phenomene Humain*[1] के अनेक निरूपण भी अरविन्द के उन प्रमुख निरूपणों से साम्य रखते हैं, जो मनोरागाध्यात्मिक रूपांतरण[2], ऊर्ध्ववर्तिनी चेतना, औद्भौमोत्तर चेतना और आध्यात्मिक विकासवाद से संबंधित हैं। शार्डिन भी चेतना (कॉन्शसनेस) के क्रमिक उच्चोच्चतर विकास तथा मनुष्य के सतत विकासमान अंतर्मन के आख्याता थे। एक ओर उनके चिति-दर्शन का मूल बर्गसाँ के विकासवादी दर्शन से जुड़ा हुआ था और दूसरी ओर उनके चैतन्यगत उद्विकास--मानस, अधिमानस, अतिमानस...के धुर प्रतीप को आधार मानकर जीववैज्ञानिक पीटर मेदावा (Meduwar) अपने *माइंड* (Mind) नामक ग्रंथ (सन् 1961 ईस्वी) में उद्विकासवादी जैविकी को निरूपित कर रहे थे। इसमें संदेह नहीं कि 'पेकिंग मैन' (Sinanthropus) के खोजी शार्डिन पर फ्रेंच विकासवादी दार्शनिकों के विचारों का प्रभाव था। शार्डिन की मुख्य मान्यता यह है कि संपूर्ण सृष्टि एक सतत विकासशील सत्ता है। इस विकासशीलता के कारण सृष्टि में जहाँ एक ओर संकुलताएँ बढ़ती हैं, वहीं दूसरी ओर उसी अनुपात में प्राणि-जगत, वनस्पति-जगत, पदार्थ-जगत

1. सन् 1959 ईस्वी में *The Phenomenon of Man* के नाम से अंग्रेज़ी में प्रकाशित।

2. पंत द्वारा निरूपित रूपांतरण के चार सोपान, जिन्हें रूपांतरण-चतुष्टय भी कहा जा सकता है, इस प्रकार हैं—मनोरागात्मक रूपांतरण, आध्यात्मिक रूपांतरण, मनोरागाध्यात्मिक रूपांतरण और मानसोत्तर रूपांतरण।

और परोक्ष जगत में चेतना के स्तर पर (noosphere) का उन्नयन भी होता है। उन्नयन, उत्क्रमण या विकास के अंतिम चरण में, शार्डिन के अनुसार, वह चरम बिन्दु (omega point) आता है, जहाँ चेतना भूत-जगत से सारे संबंधों का अतिक्रमण कर और 'नूस्फिअर' (noosphere) को पार कर सर्वोच्च 'अतिचेतना-क्षेत्र' में पहुँच जाएगी, जिसे शार्डिन ने अपने जेसूइट पुरोहित विश्वासों के अनुरूप 'क्राइस्टोफिअर' (Christophere) की संज्ञा दी है। यह 'अतिचेतना-क्षेत्र' पौद्गलिक संस्कारों से नितांत मुक्त और भूत-निरपेक्ष होगा। इस प्रकार शार्डिन ने प्रकृति-जगत के विकास (Entwicklung)-नियम के सदृश अध्यात्म जगत में भी चेतना के सोपान-क्रम-विकास को निरूपित किया है।

इसलिए जब पंत यह कहते हैं कि उनका नवीन दर्शन (नवीन सगुण) श्री अरबिन्द के दर्शन की 'कार्बन कॉपी' नहीं है, तब कुछ रुककर उनकी बातों पर गंभीरतापूर्वक सोचने की आवश्यकता है। पंत जी अतिमानस के अवतरण के लिए, कुछ साधकों तक सीमित, व्यक्ति-विशिष्ट 'एरिया' को स्वीकार नहीं करते। इनकी संकल्पना में जो मुक्ति है, वह सही मानी में 'सामूहिक मुक्ति' होगी। वह कुछ चुने हुए व्यक्तियों के माध्यम से 'भौतिक निशीथ' में सोए हुए मानव-समूह में नहीं फैलेगी।[1] इन्होंने इस सदर्भ में अपनी धारणा को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है-"श्री अरविन्द नई आस्था हैं। उनके दर्शन तथा उपनिषदों से मैं उसी प्रकार प्रभावित हूँ, जिस प्रकार कार्ल मार्क्स हीगेल के 'डाइलेक्टिसिज़्म' या द्वंद्ववाद से प्रभावित थे। मैंने सदियों से, शीर्षासन की मुद्रा में सिर के बल पर खड़े मध्ययुगीन अध्यात्म को, पैरों के बल खड़ा करने का नम्र प्रयत्न किया है कि ईश्वर का घर बादलों के ऊपर उस पार न रहकर, इसी धरती पर बसाया जा सके।"[2] *लोकायतन* की ये पंक्तियाँ भी पंत के इस मंतव्य को रेखांकित करती हैं-

आध्यात्मिक मूल्यों के बल पर
संभव न धरा का रूपांतर
जब तक न बहिर्जग की आकृति
बदले मानव मंगल हित नर![3]

---

1. *छायावाद : पुनर्मूल्यांकन*, पंत, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 1965, पृष्ठ 135.

2. जबकि श्री अरविन्द ने आध्यात्मिक उद्विकास से संबंधित अपनी धारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है— ("The mass of humanity evolves slowly, containing in itself all stages of the evolution from the material and the vital man to the mental man."— *Letters of Sri Aurobindo*, Sri Aurobindo circle. Bombay, 1947, Page 2.)

3. *लोकायतन*, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 623.

पंत जी का कहना था कि श्री अरविन्द के दर्शन से प्रभावित होने के बाद भी इनके मार्क्सवाद से प्रभावित संस्कार उन्मूलित नहीं हुए और मुख्यतः इन्हीं संस्कारों के कारण इनका दर्शन अरविन्द दर्शन की 'कार्बन कॉपी' नहीं बन सका। *युगवाणी* में मार्क्स की महानता से अभिभूत होकर इन्होंने लिखा था—

धन्य मार्क्स! चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयंकर।

इस संग्रह की कई कविताएँ—'श्रमजीवी,' 'घननाद', 'कृषक', 'मध्य वर्ग', 'धनपति' इत्यादि इनके मार्क्सवादी संस्कारों को उजागर करती हैं। प्रकट है कि इन्हीं कारणों से इनका 'नवीन सगुण' या 'नवचेतना काव्य' अरविन्द-दर्शन से किंचित् भिन्न है।

यह सच है कि पंत जी केवल अंतर्जगत, अध्यात्म या अंतश्चेतना तक सीमित नहीं थे, बल्कि ये अपने समय और समाज के प्रति भी सचेत तथा संवेदनशील थे। यह तथ्य इनके द्वारा रचित इस प्रकार की अनेक कविताओं से प्रकट होता है, जिनके शीर्षक हैं- 'कश्मीर', 'वियतनाम', 'विवेकानंद के प्रति', 'लेनिन के प्रति', 'मार्क्स के प्रति' इत्यादि।

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि ये केवल कल्पना-लोक में विहार नहीं करते थे, बल्कि ये भू-संवेदना और युग-चेतना से जुड़े हुए कवि थे। यह दीगर बात है कि आज के दुख-दैन्य, उत्पीड़न-शोषण, पेषण और वंचन पर इनके चिन्तन तथा समाधान की दृष्टि दूसरी थी। इनके सृजन-चिन्तन के इस पक्ष पर इनकी ये पंक्तियाँ प्रभूत प्रकाश डालती हैं---

आज क्षुधा है, शोषित श्रम है, नग्न प्रजा तम पीड़ित,
प्रीति-रहित है अजित काम, कामना न किंचित् विकसित!
अभी नहीं चेतन मानव से भू-जीवन मर्यादित,
अभी प्रकृति थी तमस शक्ति से मनुज नियति परिचालित![1]

युग-वैषम्य को अभिव्यक्त करनेवाली पंत की कविताओं की ओर उन आलोचकों ने ध्यान नहीं दिया है, जिन्होंने अरविन्द-दर्शन के पद्यीकरण या 'नवीन सगुण' के प्रवर्त्तन को ही पंत के काव्य-विकास की अंतिम सीमा मान ली है। यह पक्ष अनेक आलोचकों की दृष्टि से ओझल हो गया है कि अपने युग की विषमताओं और दुःख-दैन्य को देखकर पंत का हृदय भी कबीर की तरह क्रंदन करता था: 'उर कबीर-सा करता क्रंदन!'[2] इन्होंने *उत्तरा* की प्रस्तावना में सन् 1949 ईस्वी में इसे रेखांकित किया था कि बाह्य जीवन (जो मार्क्सवाद का विषय है) के साथ ही हमारी अंतश्चेतना में भी युगांतर होना अवश्यंभावी है। अतः ये युग-संघर्ष में जन-संघर्ष के अतिरिक्त अंतर्मानव का संघर्ष भी देखा करते थे।

1. *मुक्ताभ,* पन्त, साहित्य भवन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 50.
2. *गीत-अगीत,* पृष्ठ 30.

आशय यह कि मानव जीवन की पूर्णता और समग्रता हेतु ये 'लोक-संगठन' के साथ ही 'मन: संगठन' को आवश्यक मानते थे और इनकी यही मान्यता, शायद, इनके द्वारा संकल्पित 'नवीन सगुण' में निहित लोकोत्तरता का आधार है।

पंत जी यह नहीं मानते कि मन: संगठन या लोकोत्तरता से संबंधित इनकी यह धारणा श्री अरविन्द-दर्शन से प्रभावित होने के बाद इनकी रचनाओं में टपक पड़ी है; इनका मानना है कि इस धारणा या मान्यता के अंकुर *ज्योत्स्ना* में ही विद्यमान थे, जो इनकी बाद की कृतियों में अंत: संश्लेषण तथा बहि: सन्निन्धान की युगपत् आवश्यकता के रूप में प्रस्फुटित हुए। *चिदंबरा* (सन् 1969 ईस्वी में भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित) की भूमिका ('चरण चिह्न') में इन्होंने *ज्योत्स्ना* को अपने, काव्य-दर्शन की कुंजी[1] का महत्त्व दिया है। *ज्योत्स्ना* कृष्ण मिश्र- विरचित *प्रबोध चंद्रोदय* नाटक के ढंग की रूपकात्मक, मनोवृत्ति- प्रधान और प्रतीकात्मक नाट्य रचना है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' के प्रकार या परंपरा के नाटकों के अंतर्गत विवेक, करुणा, क्षमा, संतोष, श्रद्धा, शांति, अहंकार, रति, वैयासिकी सरस्वती इत्यादि जैसे सत् पक्ष और असत् पक्ष के पात्र रहा करते हैं। स्वयं पंत जी ने *उत्तरा* की प्रस्तावना में पाठकों से निवेदित किया है " *ज्योत्स्ना* में मैंने जीवन की जिन बहिरंतर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उसके रूपांतरित होने की ओर इंगित किया है, *युगवाणी* तथा *ग्राम्या* में उन्हीं के बहिर्मुखी (समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है,........*युगवाणी* तथा *ग्राम्या* में यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है, तो *स्वर्णकिरण-स्वर्णधूलि* में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर; जो तत्त्वत: एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं।"[2] इस तरह काव्य-साधना के तृतीय चरण में पंत जी की यह मुख्य मान्यता है कि 'सामाजिक जीवन के साथ ही मनुष्य की अंतर चेतना में भी युगांतर होना अवश्यम्भावी है'। इसीलिए तृतीय चरण की अपनी रचनाओं के चिन्तन पक्ष में इन्होंने 'मार्क्सवाद के लोक संगठन रूपी व्यापक आदर्शवाद और भारतीय दर्शन के चेतनात्मक ऊर्ध्व आदर्शवाद'--दोनों के संश्लेषण की आवश्यकता पर बल दिया है। इसी संश्लेषण के कारण ये 'नवचेतना काव्य'-काल में अपनी छायावाद-कालीन 'गिरिगरिमा'[3] और पहाड़ी वैशिष्ट्य

1. *चिदंबरा,* पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1959, पृष्ठ 31.
2. *उत्तरा* की प्रस्तावना, पृष्ठ 6.
3. पंत जी सृष्टि के नियमों में स्थित एक गुह्य पूर्णता के विश्वासी थे और संस्कृति के 'वृत्त-संचरण' (cyclic order) की धारणा में विश्वास रखते थे। इन्होंने 'आत्मिका' शीर्षक कविता में संस्कृति के 'वृत्त संचरण' की धारणा को व्यक्त करते हुए लिखा है—
संस्कृति का जब वृत्त संचरण, होता क्रमश: पूर्ण प्रस्फुट

को बिसार कर अपने को समतल जीवन का प्रेमी 'समदिक् कवि' कहने लगे - "मैं समदिक् कवि, समतल जीवन का प्रेमी हूँ।"[1]

कवि की दूसरी महत्त्वपूर्ण मान्यता 'वृत्त-संचरण' से संबंधित है, जिसकी चर्चा इन्होंने *युगवाणी* के 'दृष्टिपात' शीर्षक प्राक्कथन में की है। इनके अनुसार भारतीय विचारधारा ने सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के नामों से प्रादुर्भाव, निर्माण, विकास और ह्रास के 'वृत्त-संचरणों' में अपना विश्वास व्यक्त किया है। इस संदर्भ में *शंखध्वनि* की भूमिका भी पठनीय है, जिसमें कवि ने 'वृत्त संचरण' के अंतर्गत 'मनुष्य के मर्नादिक् तथा राशिवाचक विकास' को भी परिगणित किया है। अत: कवि के अनुसार आज का विश्व-जीवन 'महान सक्रांति' से महत् संयोजन की ओर अग्रसर हो रहा है और यह तथ्य भी अधिकाधिक प्रकट होता जा रहा है कि 'आदर्श' 'यथार्थ' की स्वाभाविक विकास परिणति है। कवि के शब्दों में 'जिस प्रकार कली स्वभावत: फूल में विकसित होती है, उसी प्रकार यथार्थ को आदर्श में परिणत होना होता है।' अत: कवि की आकांक्षा है कि विकासकामी मनुष्य 'वस्तु विभव' से 'भाव-विभव' की ओर यात्रा करे; कारण, केवल 'बहिर्विभव' का संचय मानव-जीवन का लक्ष्य नहीं होना चाहिए। ऐसी उक्तियों के द्वारा कवि ने यथार्थ के महत्त्व को एकदम नकार नहीं दिया है, बल्कि *गीत अगीत* में इसने स्वीकार किया है कि यथार्थ का धक्का खाकर कविता जाग जाती है।

यह ध्यान देने योग्य है कि पंत मध्यकालीनतावाद, मध्यकालीन वैराग्यवाद और 'व्यक्ति मुक्ति' के विरोधी हैं। इनकी दृष्टि में वैराग्यवाद और पलायनवाद में कोई अंतर नहीं है, क्योंकि शुष्क वैराग्य मूलत: जगत-जीवन से पलायन है। इन्होंने अपनी एक कविता में भारत को 'वैराग्य विमूर्च्छित भारत'[2] कहा है। शुष्क वैराग्यवाद के साथ ही इन्होंने उन तत्त्ववादियों का भी विरोध किया है, जो समूची मनोरम सृष्टि में केवल 'माया' के ही आवरण या संपुट को देखा करते हैं। इन्होंने 'बीज' शीर्षक कविता में लिखा है -

तत्त्ववादियों ने
छिलकों को छील-छील कर
फेंक दिया था
उनको मायावरण मानकर!
मैंने फिर से
उन्हें यथावत्
बीज ब्रह्म में
सँजो दिया है।[3]

1. *आस्था*, पृष्ठ 178
2. *पौ फटने से पहले*, पृष्ठ 40
3. *किरण वीणा*, पृष्ठ 50.

इस संदर्भ में इनकी 'सर्प रज्जु भ्रम'[1] और 'सम्यक बोध' शीर्षक कविताएँ पठनीय हैं, जिनमें इन्होंने ब्रह्मवाद और वैराग्यवाद का जोरदार खंडन किया है तथा यहाँ तक कह दिया है—'देह न रति से होती कलुषित।'[2]

इस तरह 'वृत्त-संचरण', यथार्थ और आदर्श के संश्लेषण, मनुष्य के समदिक् विकास और विश्व-जीवन के 'महत् संयोजन' के लिए पंत जी एक या इकहरी क्रांति नहीं, अनेक बहुआयामी क्रांतियाँ चाहते थे--लोक क्रांति, भाव-क्रांति, जैवी क्रांति[3], अंतर क्रांति इत्यादि। इन क्रांतियों के द्वारा 'नवीन चेतना' या 'नवीन सगुण' की स्थापना इनको अभीष्ट थी। इस 'नवीन सगुण' पर आधारित अपने नवीन चेतना काव्य में इन्होंने अनेक अर्थगर्भ शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे-अंतर्यात्रा, भाव-साधना, उच्च दिगंत, आस्था पथ, भाव क्रांति, भौम मनुज, राग-साधना, महत् संक्रमण, अंत: शोभा, सौवर्ण चेतना, समाधित, संयुक्त स्थिति, महत् स्फुरण, प्रेमा इत्यादि।

पंत जी अपनी 'भाव-क्रांति'[4] और 'हृदय-क्रांति'[5] की चरितार्थता के लिए यह आवश्यक मानते रहे कि मनुष्य को तन और त्वचा की सीमा से बाहर निकलना होगा-

त्वच न रहो तुम, तन न रहो तुम,
शोभा के छिलकों के भीतर
भावामृत का हो रस-सागर!
फूल देह में
फले स्नेह-फल,
इसमें ही भू-मंगल![6]

क्षुधा और काम--दोनों को मानवीय गौरव देनेवाले कवि पंत ने 'प्रेमा के संचरण' के साथ ही 'राग-चेतना के सामाजिक विकास' को आवश्यक माना है। *पौ फटने से पहले* के पूर्व की कविताओं में जो 'प्रीतिशिखा' थी, उसे ही इन्होंने बाद की कविताओं में

---

1. *किरणवीणा,* पृष्ठ 56 58
2. *किरणवीणा,* पृष्ठ 119.
3. *शंख-ध्वनि,* पृष्ठ 17 18
4. पंत जी 'भाव-क्रांति' को युग-परिवर्त्तन के लिए आवश्यक मानते है। इन्होंने 'पतझर' में संकलित 'आन्तर क्रांति' शीर्षक कविता में लिखा है -
   भाव-क्रांति ही से संभव
   नवयुग परिवर्त्तन
   सारथि हृदय, बुद्धि अर्जुन बन,
   जीते युग रण! — *पतझर,* पृष्ठ 183.
5. *उत्तरा,* 'युग मन' शीर्षक कविता, पृष्ठ 39
6. पौ फटने से पहले, पृष्ठ 113.

'प्रेमा के संचरण' के रूप में परिवर्तित कर दिया है। इन्होंने अपने इस मूलभूत विचार-सूत्र को कई बार दुहराया है कि ज्ञान-नेत्र का रुद्र-दाह नहीं, बल्कि 'प्रीतिशिखा' मानव-जीवन के लिए अनिवार्य है। इस तरह इनके अभीष्ट 'नवयुग' का मूलाधार, इनके मतानुसार, राग-चेतना के विकास पर ही निर्भर है-

मनुज सत्य ही जीवित ईश्वर
जिसे प्रतिष्ठित होना भू पर,
राग-चेतना के विकास पर
भू-जीवन विकास
अवलंबित![1]

उपर्युक्त विश्लेषण से प्रकट है कि पन्त जी मनुष्य के मनोजीवन के विकास के दृढ़ विश्वासी थे और इनकी अडिग मान्यता थी कि 'भौम मनुज' का विकसित होना सुनिश्चित है। आज न कल उसकी वह 'चौथी भूख' जग कर रहेगी, जो 'देह की भूख', 'मन की भूख' और 'आत्मा की भूख' से भिन्न है। यह चौथी भूख है- भव्य दिव्य जीवन की भूख![2] ये चाहते थे कि कवि और लेखक इस भव्य दिव्य जीवन की प्राप्ति में मानव-समाज की सहायता करें—

विद्या से सद्विनय प्राप्त कर
कृत संकल्प, मुक्त रख अंतर
युग-जीवन उद्घोष स्वस्थ भर
भू-जन को दें नया प्रबोधन,
युग-द्रष्टा बौद्धिक, लेखकगण![3]

'सीख' शीर्षक कविता में पंत जी ने यहाँ तक कह दिया है कि लोक-पक्ष और परहित-चिन्तन से जुड़े हुए व्यक्ति का ही जीवन सार्थक होता है—

यह धरती जगती उनकी है
जो अपने ही नहीं
दूसरों के हित भी
जीवित रहते
युग-विकास वेला में-
औरों के भी
सुख दुख सहते![4]

---

1. *पौ फटने से पहले*, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 80.
2. द्रष्टव्य : *स्वर्ण धूलि*, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 72-73.
3. *पतझर: एक भाव-क्रांति*, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 222.
4. *किरण वीणा*, पृष्ठ 82.

इस तरह पंत जी 'वृहत् लोक मंगल' ('वृहत् लोक शुभ'[1]) के आकांक्षी थे और ये इसे साहित्य, शिल्प तथा कला के लिए भी आवश्यक मानते थे-

यह दीक्षा का युग न कला में-
वृहत् लोक शुभ से हो प्रेरित
भू रचना के स्वर्णिम युग के
कला शिल्प स्वर शब्द हों अमित![2]

अत: नवीन सगुणवादी पंत जी कवि को 'समष्टि का दूत' कहते थे

वह समष्टि का दूत,
गिरा का सुत, सौन्दर्य पुरोहित![3]

इनकी कविताओं में लोक-पक्ष और लोक मंगल की ऐसी सशक्त अभिव्यक्ति अनेकत्र मिलती है-

एक समूचे कर्म जागरित
लोकराष्ट्र की
आत्मा का रस-सूर्य
सांस्कृतिक स्वर्णोदय बन
उदित हो रहा
अस्त कर तमस![4]

आशय यह कि अपने नव चेतना काव्य में भी 'शील-नम्र' कवि ने लोक-मंगल को—'शिव' को सर्वाधिक महत्त्व दिया है-

शिव से वंचित सत्य
तथ्य भर,
शिव ही सुंदर अक्षत![5]

किन्तु, यह कवि दार्शनिकों, बौद्धिक लेखकों और कवि-कलाकारों की शक्ति की सीमाओं से अवगत है। इसे ज्ञात है कि कांक्षित परिवर्त्तन या रूपांतर लाना दार्शनिकों और कवि-कलाकारों के बूते से बाहर की बात है—

---

1. जिसे पंत जी ने 'सैद्धांतिक शुभ' और 'रचना-शुभ' में बाँटते हुए यह मंतव्य व्यक्त किया है कि 'मात्र सैद्धांतिक शुभ से रचना-शुभ अधिक वास्तविक तथा संपूर्ण होता है।'—*चिदंबरा,* भूमिका (चरण-चिह्न), पंत, प्रथम संस्करण, पृष्ठ 32.
2. *स्वर्णिम रथचक्र,* पृष्ठ 237.
3. *गीतहंस,* पृष्ठ 163.
4. *किरणवीणा,* पृष्ठ 158. लोक पक्ष से संबंधित अपने चिन्तन को मूर्त्त रूप देने के लिए पंत जी ने सन् 1947 ईस्वी में *लोकायतन* नामक संस्था की स्थापना की थी।
5. *गीतहंस,* पृष्ठ 4.

निखिल दार्शनिक भी मिल जग को
बना न पाएँगे सुंदरतर![1]

सत्तर साल की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते कवि भाव और शब्द की असमर्थता तथा अपर्याप्तता को और भी महसूस करने लगा। इनके चिन्तन और सर्जन में यह बात बारंबार उभर कर आने लगी कि इनके जीवन का अधिकांश भाग 'भाव' में और शब्द साधना में बीत गया; अब इनके शेष जीवन को 'कर्म' से घनिष्ठ रूप में जुड़ जाना चाहिए—

मन अब गीत गा चुका अनगिन,
भावों के तिन
चुन कर बुन कर
भू-स्वप्नों के नीड़
बसाता रहा सभी दिन!
अब इन गीतों के स्वर को
भू कर्म में पिरो
मुझे सँजोने दो जन हित
जीवन के घर को![2]

तभी यह कवि 'कर्म के रस' से जीवन, मन और समाज को सींच सकेगा। इस प्रकार इनका जो 'नवीन सगुण' हमारे समक्ष 'आकांक्षा-काव्य' के रूप में प्रकट हुआ है, उसमें कर्म-रस से जगत जीवन को अभिसिंचित करने की प्रबल कामना है। ऐसी ही अनेक कामनाओं और आकांक्षाओं के साथ ये 'युग प्रभात का चारण' बनना चाहते थे। मानो, 'नवीन सगुण' ने छायावाद-युग के कल्पना-प्रिय कर्म-भीरु कवि-मन में कर्म-लालसा या सक्रिय जीवन की ओर अभिमुखता भर दी हो—

अब एकांत शांत जीवन से भाता मुझको सक्रिय जीवन
आमंत्रण दे जहाँ बुद्धि को पग पग पर जग का संघर्षण![3]

संभवत: अपनी जीवन दृष्टि में इन्हीं परिवर्तनों और नवीन प्रस्थानों के कारण कवि को अपने 'बूढ़े गीत' 'भाव-तरुण' तथा 'अंतर के अतद्रित तारुण्य' से दीपित प्रतीत होते हैं।

दूसरी ओर यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि महत् स्फुरण, प्रेमा के संचरण, महत्तर सांस्कृतिक समन्वयन और एक नवीन सांस्कृतिक हृदय के संयोजन का आकांक्षी कवि भाव और शब्द की सीमाओं के साथ ही कवि-कर्म की सीमाओं से परिचित तथा कवि

---

1. *गीत हंस*, पृष्ठ 54
2. *गीत हंस*, पृष्ठ 167
3. *गीत हंस*, पृष्ठ 182

की शक्ति की मिति के प्रति भी सचेत है। उसे यह ज्ञात है कि कवि 'दृष्टि'-भर देता है, वह 'परिवर्त्तन' या 'क्रांति' की 'अथ-इति' का एकमात्र कर्त्ता-धर्त्ता, नियामक और नियंता नहीं होता-

कवि होता सम्राट न वह सेना अधिनायक,
होता सित चित् रस-चातक,
जन भू उन्नायक!
नहीं बदलता वह जीवन को,
मात्र दृष्टि भर देता जन को![1]

दूसरी ओर, धुर प्रतीप यह है कि अनेक विचारक मानव-चेतना में नवीन सूर्योदय के आकांक्षी पंत जी के 'नवीन सगुण' या 'नव चेतना-काव्य' को कवि के विभ्रम, दिग्भ्रम या आदर्श कल्पना-लोक की उपज मानते हैं। कवि को दृष्टि-भ्रम और श्रुति-भ्रम सहित यह बारंबार प्रतीत होता है कि उनका 'यूटोपिया' इस धरा पर रूपाकार ग्रहण कर रहा है—अवतरित हो रहा है—

सहसा घूमा ज्योति चक्र-सा
उर के भीतर,
एक नया ही अंतरिक्ष
खुल गया दृष्टि में![2]

अथवा

सृष्ट हो रहा नया जगत
मानव अंतर में-
उदय हो रहा सूर्यों का
नव सूर्य—नव हृदय—
चिदाकाश में
नव प्रभात होने को भू पर![3]

किन्तु, वास्तव में कुछ ऐसा घटित नहीं हो रहा है -न तो कोई 'नई देव श्रेणी' जन्म ले रही है, न कहीं रश्मि-किरीटी रूपांतरण दीख रहा है और न 'दारु योषित दृष्टि'[4] शीर्षक कविता में संकेतित आध्यात्मिक साम्यवाद की छटा ही कहीं फैल रही है। मानो, 'नवीन सगुण' में परिकल्पित कवि का 'आध्यात्मिक उद्‌विकास' कवि का मनोविजृंभण भर है।

1. *पौ फटने से पहले,* पृष्ठ 84
2. *आस्था,* पृष्ठ 101.
3. *आस्था,* पृष्ठ 122.
4. *किरणवीणा* में संकलित, पृष्ठ 53-55.

कारण, कवि की यह परिकल्पना (यूटोपिया!)या स्वस्तिमयी विभ्रमवती प्रतीति आज की दैनंदिन जीवनानुभूति और सामान्य जनानुभूति से भिन्न होने के कारण पाठकों के लिए विश्वसनीय नहीं होती। हम प्रतिदिन यह देखते हैं और अनुभव करते हैं कि दुनिया में—हमारे समाज में सामूहिक नरसंहार, नैतिक गिरावट, बलात्कार, राहजनी, जातिवादी संकीर्णता, धार्मिक कट्टरता, भ्रष्टाचार, दहशतगर्दी इत्यादि में वृद्धि हो रही है, किन्तु पंत जी हमें यह उल्टी बात कहते हैं—

आज नया मानव ईश्वर अवतरित हो रहा
स्वर्ण रश्मियों से स्थित ऊषाओं के रथ पर

....

आज नाश के कर गढ़ रहे नवल मानव को,
नव इन्द्रिय वह, विकसित इंद्रिय, अति इंद्रिय अब!
बदल रहा अब मानव ईश्वर—बदल रहा अब
मानव जग मानवता का रूपांतर कर![1]

अथवा

आज रुपहले अंतर हिम शिखरों पर
सुनता मैं स्वर्णिम रथ-चक्रों का स्वर,
उतर रहे भावी के भुवन अगोचर
सप्त अश्व रवि कवि पंखों पर भास्वर![2]

अत: यह निरीक्षा की जा सकती है कि पंत जी के पास युग के दूषणों और समाज की बीमारियों की सही पहचान थी। उनका निदान शास्त्र (Etidogy) ठीक-ठाक था, लेकिन सही 'निदान' रहने पर भी उनका नुस्खा ग़लत था --दवाओं की सिफ़ारिश सही नहीं थी। भला प्रेमा, महाभाव, राग, अनुराग, आस्था, भाव-साधना और शोभा की कोमल पंखुड़ियों के परस से आज के भोथरे समाज को, त्रस्त-बधिर समाज को — जाति-वर्ग की सरंचनागत त्रुटियों से ग्रस्त समाज को कैसे और कितनी दूर तक बदला जा सकता है? राग-साधना या प्रेमा के संचरण की धारणा बीसवीं सदी के सातवें-आठवें दशक में ही प्रभावहीन और निष्फल साबित हो चुकी थी। पंत जी अपने जीवन के लगभग अंतिम पंचाब्द में शोभा के चरणों पर श्रद्धा का जावक रचते-रचते थक गए थे, किन्तु मानव-समाज 'काली घृणा' से और भी विरूप-कुरूप बनता गया। पौ फटना तो दूर रहा--इनके द्वारा कल्पित 'पौ फटने का पूर्व प्रहर' भी आज के राग-रुद्ध जीवन में चतुर्दिक फैली 'काली घृणा' के बीच अवतरित नहीं हो सका---धरा पर उतर नहीं सका। इतना ही नहीं,

1. 'शांति और क्रांति' शीर्षक कविता, *मुक्ताभ*, पृष्ठ 75-76.
2. 'आत्मिका' शीर्षक कविता, *स्वर्णिम रथचक्र*, पृष्ठ 246.

इनके द्वारा प्रवर्त्तित 'भाव-प्रीति' भी 'देह प्रीति' पर अपनी विजय-ध्वजा नहीं फहरा सकी और न इनके द्वारा निगदित 'भव विकास के शुभ क्षण' का आगम कभी हो सका। बहुतों की दृष्टि में इनका सम्पूर्ण 'नवीन सगुण'-काव्य 'सवाक् स्वप्न' है या स्वप्न-कल्पना की ललित जल्पना है। रूढ़िगत जाड्य को तोड़ने और वैराग्य तथा निवृत्ति के अनम्य दर्शन को छोड़ने के लिए इनका आह्वान तो बोधगम्य और अंशत: व्यावहारिक है; किन्तु, ये 'इंद्रिय जीवन' तथा 'भागवत जीवन' में जो अविरोध और समन्वय स्थापित करना चाहते हैं, वह बहुत कुछ दूरारूढ़ प्रतीत होता है। इसमें संदेह नहीं कि इनका 'नवीन सगुण'-काव्य सभी प्रकार के एकांगी दृष्टिकोणों का परित्याग कर जड़-चेतन, राग-विराग और भूत-अध्यात्म के 'द्वैत' या 'द्वंद्व' का समन्वय कर एक व्यापक, 'समग्र मति' 'सक्रिय सामंजस्य' का निरूपण करता है तथा एक पूर्वग्रहहीन 'सर्वग्राही मानव-मन' का आह्वान करता है।

कुल मिलाकर उद्बोधन, शुभैषणा, स्वस्ति और समन्वय पंत जी के अंतिम काव्य-चरण के चौखंभ हैं, जिनके सहारे बने कालिब पर इन्होंने, पंथिक और पुनरुत्थानवादी आग्रहों से तथा 'एकदेशीय' आध्यात्मिकता और 'एकदेशीय' संस्कृति से ऊपर उठकर, एक 'महत्तर सांस्कृतिक समन्वय' तथा एक 'नवीन सांस्कृतिक हृदय' के निर्माण का प्रयत्न किया है; जबकि इनके विश्रुत समकालीन सहचर कवि अपने काव्योत्कर्ष-काल में भी पंथिक और पुनरुत्थानवादी आग्रहों से पूर्णत: मुक्त नहीं हो सके थे। छायावाद, मानववाद, भूवाद और जागरणवाद से लेकर जनवाद (*मुक्ताभ* की भूमिका, पृष्ठ ८) और 'यंत्र-युग की जनवादी सौन्दर्य-भावना'[2] तक को घेरनेवाले पंत जी अपने दृष्टि-विस्तार से कभी-कभी पाठकों को आश्चर्यचकित कर देते हैं।

इनके कवि-जीवन के अंतिम काल की इस अवधारणा को निर्दिष्ट किया जा सकता है कि कविता को शब्दों तक सीमित रखना एक भुलावा है। शब्दों के साथ तदनुरूप कर्म करना चाहिए अन्यथा शब्दों की विश्वसनीयता आने वाले युगों में और भी घटती जाएगी। कवि और विचारक के रूप में इनके जीवनानुभव का एक रेखांकित निष्कर्ष यह था कि लोक-चेतना अब अपसंस्कृति, उपभोक्तावाद, कुशिक्षा और परिग्रह की लोलुपता के कारण भोथरी होती जा रही है, जिसे कविता-जैसी कोमल-नम्र विधा के माध्यम से धारणीय प्रभाव और सकारात्मकता के साथ झकझोर पाना या उद्बोधित करना कठिन है—

युग जीवन-कर्दम के दादुर
समवेत कंठ गाते बेसुर।

इसलिए पंत जी अगले जन्म में 'कवि' के बदले 'कर्मी' बनना चाहते थे। इन्होंने

---

2. *परिदर्शन (रश्मिबंध की भूमिका) पृष्ठ 11.*

अपने जीवन की सांध्य वेला में रचित एक कविता में लिखा है—

भगवन्, जब मैं
पुनर्जन्म लूँ इस पृथ्वी पर
'कवि' के बदले मैं
'कर्मी' बन सकूँ जगत में!

इससे यह प्रकट होता है कि पंत जी केवल छायावादी या नवीन सगुणवादी कवि अथवा स्वस्ति-काव्य (सर्वे भवंतु सुखिन: ....) की रचना में शब्दातिशय से काम लेनेवाले 'अप्सरा-लोक' के शब्द-शिल्पी नहीं थे, बल्कि ये अपने युग की वास्तविकताओं और अपने समय की संवेदनाओं के सहृदय अनुभविता थे तथा ये अपने युग के तौर और तेवर को अच्छी तरह समझते थे।

यह कह देने में कोई अपविन्दुता नहीं होगी कि इस संचयन के पूर्व पंत जी के जीवन-काल में ही इनके अनेक संचयन— *पल्लविनी*, *आधुनिक कवि* (भाग-2), *तारापथ*, *चिदंबरा*, *संयोजिता*, *चित्रांगदा*, *हरी बाँसुरी सुनहरी टेर*, *स्वर्णिम रथचक्र*, *समाधिता*, *अभिषेकिता*, *रश्मिबंध*, *गंधवीथी* इत्यादि—प्रकाशित हो चुके थे। इनमें से कई संचयन स्वयं कवि द्वारा प्रस्तुत किए गए थे और अन्यकृत कुछ संचयन 'दो शब्द' या 'विज्ञापन' के जरिए कवि द्वारा अधिप्रमाणित (ऑथेन्टिकेटेड) थे, किन्तु साहित्य अकादेमी द्वारा प्रायोजित पंत के इस मरणोत्तर रचना-संचयन का पृथक महत्त्व है; क्योंकि इसमें पंत जी की केवल कविताएँ ही संकलित नहीं हैं; बल्कि इसमें इनकी अन्य विधाओं में लिखित रचनाओं के चुने हुए अंशों का भी समावेश किया गया है।

96, एम.आई.जी.एच.,
लोहिया नगर,
पटना–800020

डॉ. कुमार विमल

---

1 *आस्था, पंत, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1973, पृष्ठ 224*

कविताएँ

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनी!
पाया तूने यह गाना?
सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर,
ऊँघ रहे थे घूम द्वार पर
प्रहरी से जुगनू नाना;
शशि-किरणों से उतर-उतरकर
भू पर कामरूप नभचर,
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना;
स्नेह हीन तारों के दीपक,
श्वास-शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मंडप ताना,
कूक उठी सहसा तरुवासिनी!
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अंतर्यामिनि!
बतलाया उसका आना?
निकल सृष्टि के अंध गर्भ से
छाया तन बहु छाया हीन
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना माना;
छिपा रही थी मुख शशि बाला
निसि के श्रम से हो श्रीहीन,

कमल क्रोड़ में बंदी था अलि,
कोक शोक से दीवाना,
मूर्छित थीं इंद्रियाँ स्तब्ध जग,
जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर में केवल
साँसों का आना-जाना;
तूने ही पहले बहुदर्शिनि
गाया जागृति का गाना,
श्री सुख सौरभ का नभचारिणि!
गूँथ दिया ताना-बाना!
निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगत जाल में
धर कर नाम रूप नाना;
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम दल
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर,
हिल मोती का सा दाना;
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि,
खिली सुरभि, डोले मधु बाल;
स्पंदन, कंपन औ' नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना;
प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि!
पाया यह स्वर्गिक गाना?

ग्रंथि

चयनित अंश

इंदु पर, उस इंदु-मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे; —पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था!
बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के बदन के बीच में;
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकंपित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय संबंध था।
लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब-से
छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से।
इन गढ़ों में-रूप के आवर्त्त-से-
घूम-फिर कर, नाव से किसके नयन
है नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण सौन्दर्य के?

जब प्रणय का प्रथम परिचय मूकता
दे चुकी थी हृदय को, तब यत्न से
बैठ कर मैंने निकट ही, शांत हो,

विनत वाणी में प्रिया से यों कहा—
'सलिल-शोभे! जो पतित आहत भ्रमर
सदय हो तुमने लगाया हृदय से,
एक तरल तरंग से उसको बचा
दूसरी में क्यों डुबाती हो पुनः ?
'प्रेम कंटक से अचानक विद्ध हो
जो सुमन तरु से विलग है हो चुका,
निज दया से द्रवित उर में स्थान दे
क्या न सरस विकास दोगी तुम उसे ?
'मलिन उर छूकर तिमिर का अरुण-कर
कनक आभा में हैं कमल,
प्रिय बिना तम-शेष मेरे हृदय की
प्रणय कलिका की तुम्हीं प्रिय कांति हो।

'यह विलंब! कठोर हृदये! मग्न को
बालुका भी क्या बचाती है नहीं।
निठुर का मुझको भरोसा है बड़ा,
गिरि शिलाएँ ही अभय आधार हैं।
'म्लान तम में ही कलाधर की कला
कौमुदी बन कीर्ति पाती है धवल,
दीनता के ही विकंपित पात्र में
दान बढ़ कर छलकता है प्रीति से।

प्रिय! निराश्रिति की कठिन बाँहें नहीं
शिथिल पड़ती हैं प्रलोभन भार से,
अल्पता की संकुचित आँखें सदा
उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से।
'दयानिल से विपुल पुलकित हो सहज
सरल उपकृति का सजल मानस प्रिये!
क्षीण करुणालोक का भी लोक को
है वृहत् प्रतिबिंब दिखलाता सदा।

'शरद के निर्मल तिमिर की ओट में
नव मिलन के पलक दल सा झूमता
कौन मादक कर मुझे है छू रहा
प्रिय! तुम्हारी मूकता की आड़ से?
'यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
जो अपांगों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा?'

इंदु की छवि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल वीचि में,
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में!
निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणी ने उठा,
एक पल निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप से।

प्रकृति-दर्शन

अमरों के ऐश्वर्य लोक सा
था निःसंशय—
कौसानी का शुभ्र
स्वर्ग सिरमौर हिमालय!

पर्वत-प्रदेश

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश,
पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश!

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल!!

गिरि का गौरव गाकर झर् झर्
मद से नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों-से सुंदर
झरते हैं झाग भरे निर्झर!

गिरिवर के उर से उठ-उठ-कर
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्ता पर!

-उड़ गया, अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार वारिद के पर!
रव शेष रह गए हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अंबर!

धँस गए धरा में सभय शाल
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल!!
–यों जलद यान में विचर, विचर,
था इंद्र खेलता इंद्रजाल!

पूर्व-सुधि

बादलों के छायामय मेल
घूमते हैं आँखों में, फैल!
अवनि औ' अंबर के वे खेल
शैल में जलद, जलद में शैल!
शिखर पर विचर मरुत रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमनों-से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर!

द्विरद दंतों-से उठ सुंदर
सुखद कर सीकर-से बढ़ कर,
भूति-से शोभित बिखर बिखर
फैल फिर कटि के-से परिकर,
बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर!

इंद्रधनु की सुनकर टंकार
उचक चपला के चंचल बाल,
दौड़ते थे गिरि के उस पार
देख उड़ते-विशिखों की धार

मरुत जब उनको द्रुत चुमकार,
रोक देता था मेघासार!
अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,

विहंगम सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अंबर!

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर झर,
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गंभीर घहर;
बिन्दुओं की छनती छनकार,
दादुरों के वे दुहरे स्वर,

हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर!

खैंच-ऐंचोला भ्रू सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारंबार-
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल-हार;
जलद पट से दिखला मुख चंद्र,
पलक पल पल चपला के मार;
भग्न उर पर भूधर सा हाय!
सुमुखि! धर देती है साकार!

परिवर्तन

अहे निष्ठुर परिवर्तन!
तुम्हारा ही तांडव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन!
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन!

अहे वासुकि सहस्र फन!
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर!
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर!
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुंडल
दिङ्मंडल!

काल का अकरुण भृकुटि विलास
तुम्हारा ही परिहास;
विश्व का अश्रु पूर्ण इतिहास
तुम्हारा ही इतिहास!
एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर;
भूमि चूम जाते अभ्र ध्वज सौध, शृंगवर,
नष्ट भ्रष्ट साम्राज्य-भूति के मेघाडंबर!
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भू कंपन,
गिर गिर पड़ते भी पक्षि पोतों- से उडुगन;
आलोड़ित अंबुधि फेनोन्नत कर शत शत फन,
मुग्ध भुजंगम सा, इंगित पर करता नर्तन!
दिक् पिन्जर में बद्ध, गजाधिप सा विनतानन,
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन!

तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमारा भ्रम मिथ्याहंकार;

अहे महांबुधि! लहरों-से शत लोक, चराचर
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
तुंग तरंगों से शत युग, शत शत कल्पांतर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;
शत सहस्र रवि शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडुगण,
जलते बुझते हैं स्फुलिंग-से तुममें तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल, दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्हीं चिरंतन
अहे विवर्तन हीन विवर्तन!

आँसू

विरह है अथवा यह वरदान!
कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है!

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
वही होगी कविता अनजान!

हाय, किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार!

किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणों का हार!!

मेरा पावस ऋतु सा जीवन,
मानस सा उमड़ा अपार मन;
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले,
मेघों-से मेरे भरे नयन!

कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों-से हाय!
अरुण कलियों-से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय!

इंद्रधनु सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे सी धूमिल घोर,
दीखती भावी चारों ओर।

तड़ित सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर,

जुगनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान!
धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल;
आज सोने का संध्याकाल
जल रहा जतुगृह सा विकराल;

पटक रवि को बलि सा पाताल
एक ही वामन पग में--

लपकता है तमिस्र तत्काल,
--धुएँ का विश्व विशाल!

चिनगियों-से तारों को डाल
आग का सा अंगार शशि लाल
लहकता है, फैला मणि ज्वाल
जगत को डसता है तम व्याल!
पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि!
सरल शुक सी सुखकर सुर में

तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती है उर में;

अगन से मेरे पुलकित प्राण
सहस्रों सरस स्वरों में कूक,
तुम्हारा करते हैं आह्वान,
गिरा रहती है श्रुति सी मूक!

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को;

नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर;

अकेली आकुलता सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!

देखता हूँ, जब पतला
इंद्रधनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद कला;

तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अंतर्धान;
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान!

मोह

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!

तज कर तरल तरंगों को,
इंद्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू भंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग सा मन?
भूल अभी से इस जग को!

कोयल का वह कोमल बोल,
मधुकर की वीणा अनमोल,
कह, तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूँ सजनि! श्रवन?
भूल अभी से इस जग को!

ऊषा सस्मित किसलय दल,
सुधा-रश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन?
भूल अभी से इस जग को!

बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर;
मेघदूत की सजल कल्पना,
चातक के प्रिय जीवनधर;

मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर;
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जलधर!

जलाशयों में कमल दलों सा
हमें खिलाता नित दिनकर,
पर बालक सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर;

लघु लहरों के चल पलनों में
हमें झुलाता जब सागर,
वही चील सा झपट, बाँह गह,
हमको ले जाता ऊपर!

भूमि गर्भ में छिप विहग-से,
फैला कोमल रोमिल पंख,

हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते साँस, छुड़ा जड़ पंक;

विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अंक,
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते,
छा अनंत उर में निःशंक!

कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते,
मत्त मतंगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते;

कभी कीश-से अनिल डाल में
नीरवता से मुँह भरते,
वृहद् गृद्ध-से विहग छदों को
बिखराते नभ में तरते।

कभी अचानक, भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क, कड़क, जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार;

फिर परियों के बच्चों-से हम
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना मे,
पकड़ इंदु के कर सुकुमार!

अनिल विलोड़ित गगन सिन्धु में
प्रलय बाढ़-से चारों ओर
उमड़ उमड़ हम लहराते हैं,
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर;

बात बात में, तूल तोम सा
व्योम विटप से झटक, झकोर,
हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत
दल बल युत घुस वातुल चोर!

बुद्द द्युति तारक दल तरलित
तम के यमुना जल से श्याम
हम विशाल जंबाल जाल-से
बहते हैं अमूल, अविराम;

दमयंती सी कुमुद कला के
रजत करों में फिर अभिराम
स्वर्ण हंस-से हम मृदु ध्वनि कर,
कहते प्रिय संदेश ललाम!

दुहरा विद्युद्दाम चढ़ा द्रुत,
इंद्रधनुष की कर टंकार;
विकट पटह-से निर्घोषित हो,
बरसा विशिखों सा आसार;

चूर्ण चूर्ण कर वज्रायुध से
भूधर को अति भीमाकार
मदोन्मत्त वासव सेना से
करते हम नित वायु विहार!

स्वर्ण भृंग तारावलि वेष्टित,
गुंजित, पुंजित, तरल, रसाल,
मधुगृह-से हम गगन पटल में,
लटके रहते विपुल विशाल!

जालिक सा आ अनिल, हमारा
नील सलिल में फैला जाल,

उन्हें फँसा लेता फिर सहसा
मीनों के-से चंचल बाल!

व्योम विपिन में जब वसंत सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते हम तब अनिल स्रोत में
गिर तमाल तम के-से पात;

उदयाचल से बाल हंस फिर
उड़ता अंबर में अवदात,
फैल स्वर्ण पंखो-से हम भी,
करते द्रुत मारुत मे बात!

संध्या का मादक पराग पी,
झूम मलिन्दों-से अभिराम
नभ के नील कमल में निर्भय
करते हम विमुग्ध विश्राम;

फिर बाड़व-से सांध्य सिन्धु में
सुलग, सोख उसको अविराम,
बिखरा देते तारावलि-से
नभ में उसके रत्न निकाम!

धीरे धीरे संशय-से उठ,
बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड़ मोह-से
फैल लालसा-से निशि भोर;

इंद्रचाप सी व्योम भृकुटि पर
लटक मौन चिन्ता-से घोर
घोष भरे विप्लव भय-से हम
छा जाते द्रुत चारों ओर!

पर्वत से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत बन, पल में, साकार-
काल चक्र-से-चढ़ते गिरते
पल में जलधर, फिर जलधार;

कभी हवा में महल बनाकर,
सेतु बाँध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव भूति ही-से निस्सार!

नग्न गगन की शाखाओं में
फैला मकड़ी का सा जाल,
अंबर के उड़ते पतंग को
उलझा लेते हम तत्काल;

फिर अनंत उर की करुणा-से
त्वरित द्रवित होकर, उत्ताल-
आतप में मूर्छित कलियों को
जाग्रत् करते हिम जल डाल!

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि वसन, वसुधा के मूल;

नभ में अवनि, अवनि में अंबर,
सलिल भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल!

व्योम बेलि, ताराओं की गति,
चलते-अचल, गगन के गान,

हम अपलक तारों की तंद्रा,
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान;

पवन धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल अनल के विरल वितान,
व्योम पलक, जल खग, बहते-थल,
अंबुधि की कल्पना महान!

धूम धुँआरे, काजरकारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन राज के वीर बहादर,
पावस के उड़ते फणिधर;

चमक झमकमय मंत्र वशीकर,
छहर घहरमय विष सीकर;
स्वर्ग सेतु-से इन्द्रधनुषधर,
कामरूप घनश्याम अमर!

मौन निमंत्रण

स्तब्ध ज्योत्सना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व की पलकों पर सुकुमार
विरचते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन!
सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,

दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस धार,
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन!
देख वसुधा का यौवन भार
गूँज उठता है तब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्‌गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास
न जाने, सौरभ के मिस कौन
संदेशा मुझे भेजता मौन!
क्षुब्ध जल शिखरों में जब वात
सिन्धु में मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने, मुझे बुलाता मौन!
स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग -कुल की कल कंठ हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;
न जाने, अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन!
तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार
कँपा देती तंद्रा के तार;
न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन!
कनक छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल

तड़प, बन जाते हैं गुंजार;
न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन!
बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में, श्रमित अपार,
जुड़ाती जब मैं आकुल प्राण;
न जाने मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया जग में मौन!
न जाने कौन, अये द्युतिमान!
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख-दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!

गुंजन

वन-वन उपवन-
छाया उन्मन-उन्मन गुंजन,
नव वय के अलियों का गुंजन!

रुपहले, सुनहले आम्र मौर,
नीले, पीले औ 'ताम्र भौंर,
रे गंध-अंध हो ठौर-ठौर

उड़ पाँति-पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के वन मे गुंजन!

वन के विटपों की डाल-डाल
कोमल कलियों से लाल-लाल,
फैली नव मधु की रूप ज्वाल,

जल-जल प्राणों के अलि उन्मन
करते स्पंदन, भरते गुंजन!

अब फैला फूलों में विकास,
मुकुलों के उर में मदिर वास,
अस्थिर सौरभ से मलय-श्वास,

जीवन-मधु-संचय को उन्मन
करते प्राणों के अलि गुंजन!

तप रे मधुर-मधुर मन!

विश्व-वेदना में तप प्रतिपल,
जग-जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष,उज्ज्वल औ 'कोमल,
तप रे विधुर-विधुर मन!

अपने सजल-स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन!

तेरी मधुर मुक्ति ही बंधन
गंध-हीन तू गंध-युक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन,
मूर्तिमान बन, निर्धन!
गल रे गल निष्ठुर मन!

मैं नहीं चाहता चिर सुख

मैं नहीं चाहता चिर सुख,
मैं नहीं चाहता चिर दुख;
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।

सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण,
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन!

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जाएँ
दुख सुख से औ 'सुख दुख से!

अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न,
दुख-सुख की निशा-दिवा में,
सोता-जगता जग-जीवन!

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का;
चिर हास-अश्रुमय आनन
रे इस मानव-जीवन का!

भावी पत्नी के प्रति

प्रिये, प्राणों की प्राण!
न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान!
नवल कलिकाओं की सी वाण,
बाल रति सी अनुपम, असमान-
ना जाने, कौन कहाँ, अनजान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

जननि अंचल में झूल सकाल
मृदुल उर कंपन सी वपुमान,
स्नेह सुख में बढ़ सखि! चिरकाल

दीप की अकलुष शिखा समान
कौन सा आलय, नगर विशाल
कर रही तुम दीपित, द्युतिमान?
शलभ-चंचल मरे मन-प्राण,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

नवल मधुऋतु निकुंज में प्रात
प्रथम कलिका सी अस्फुट गात,
नील नभ-अंत पुर में, तन्वि!
दूज की कला सदृश नवजात,
मधुरता. मृदुता सी तुम, प्राण!
न जिसका स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात,
कल्पना हो, जाने, परिमाण?
प्रिये,प्राणों की प्राण!

हृदय की पलकों में गति-हीन
स्वप्न संसृति सी सुखमाकार,
बाल भावुकता बीच नवीन
परी सी धरती रूप अपार,
झूलती उर में आज, किशोरि!
तुम्हारी मधुर मूर्ति छविमान,
लाज में लिपटी उषा समान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास,
स्वर्ण सुख, श्री, सौरभ का सार,
मनोभावों का मधुर विलास,
विश्व सुखमा ही का संसार;
दृगों में छा जाता सोल्लास
व्योम-बाला का शरदाकाश;
तुम्हारा आता जब प्रिय ध्यान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात,
मोतियों-सा हिलता-हिम-हास,
इंद्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल-विद्युत् का पावस-लास;
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले-अंगों का मधुमास,
तुम्हारी छवि का कर अनुमान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

खेल सस्मित सखियों के साथ
सरल शैशव सी तुम साकार,
लोल कोमल लहरों में लीन
लहर ही-सी कोमल, लघु भार,
सहज करती होगी, सुकुमारि!
मनोभावों से बाल विहार
हंसिनी सी सर में कल-तान
प्रिये, प्राणों की प्राण!

खोल सौरभ का मृदु कच-जाल
सूँघता होगा अनिल समोद,
सीखते होंगे उड़ खग-बाल
तुम्हीं से कलरव, केलि विनोद;
चूम लघु पद चंचलता, प्राण!
फूटते होंगे नव जलस्रोत,
मुकुल बनती होगी मुसकान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान,
मुग्ध कवि के उर के छू तार
प्रणय का-सा नव गान;
तुम्हारे शैशव में, सोभार,

पा रहा होगा यौवन प्राण;
स्वप्न-सा विस्मय सा अम्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात!
विकंपित मृदु-उर, पुलकित-गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित पद, नमित-पलक-दृग-पात,
पास जब आ न सकोगी, प्राण!
मधुरता में सी मरी अजान
लाज की छुईमुई सी म्लान
प्रिये, प्राणों की प्राण!

सुमुखि, वह मधुक्षण! वह मधुबार!
धरोगी कर में कर सुकुमार!
निखिल जब नर-नारी संसार
मिलेगा नव सुख से नव बार;
अधर-उर-से उर-अधर समान
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान।
प्रिये, प्राणों की प्राण!

अरे चिर गूढ़ प्रणय आख्यान!
जब कि रुक जाएगा अनजान
साँस-सा नभ उर में पवमान;
समय निश्चल, दिशि-पलक समान;
अवनि पर झुक आएगा, प्राण!
व्योम चिर विस्मृति से म्रियमाण;
नील सरसिज-सा हो-हो म्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

अनजान

आज शिशु के कवि को अनजान
मिल गया अपना गान!

खोल कलियों ने उर के द्वार
दे दिया उसको छबि का देश;
बजा भौरों ने मधु के तार
कह दिए भेद भरे संदेश;
आज सोए खग को अज्ञात
स्वप्न में चौंका गई प्रभात;
गूढ़ संकेतों में हिल पात
कह रहे अस्फुट बात;

आज कवि के चिर चंचल-प्राण
पा गए अपना गान!

दूर, उन खेतों के उस पार,
जहाँ तक गई नील झंकार,
छिपा छाया-वन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार!

वहीं, उन पेड़ों में अज्ञात
चाँद का है चाँदी का वास,
वहीं से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते उड़-उड़ कर पास;
इन्हीं में छिपा कहीं अनजान
मिला कवि को निज गान!

आज शिशु के कवि को अम्लान
मिल गया अपना गान!

ज्योतिर्मय जीवन

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन!

बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय-धन;
स्मिति-स्वप्न अधर-पलकों में,
उर-अंगों में सुख-यौवन!

छू-छू जग के मृत रज-कण
कर दो तृण-तरु में चेतन,
मृण्मरण बाँध दो जग का
दे प्राणों का आलिंगन!

बरसो सुख बन, सुषमा बन,
बरसो जग-जीवन के धन!
दिशि-दिशि में औ' पल-पल में
बरसो संसृति के सावन!

एक तारा

नीरव संध्या में प्रशांत
डूबा है सारा ग्राम प्रांत!
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर!

खग कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि हीन,
सर भुजंग-सा जिह्म, क्षीण!
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशांति को रहा चीर,
संध्या-प्रशांति को कर गंभीर!
इस महा शांति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार
ज्यों बेध रही हो आर-पार!
अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन!
गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल!
लहरों पर स्वर्ण रेख सुंदर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर!
तरु शिखरों से वह स्वर्ण विहग उड़ गया, खोल निज पंख सुभग
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग!
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील- नील, कोमल-कोमल
छाया तरु-वन में तम श्यामल!
पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमंद नक्षत्र एक!
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक!
किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिए हुए? किसके समीप?
मुक्तालोकित ज्यों रजत-सीप!
क्या उसकी आत्मा का चिर धन? स्थिर अपलक नयनों का चिन्तन?
क्या खोज रहा वह अपनापन!
दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन!
आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बंधन-विवेक!
चिर आकांक्षा से ही थर-थर, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर!
अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि, शशि, उडुगन,
दुस्तर आकांक्षा का बंधन!

रे उडु, क्या जलते प्राण विकल? क्या नीरव-नीरव नयन सजल!
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल!
एकाकीपन का अंधकार, दुस्सह है इसका मूक भार,
इसके विषाद का रे न पार!

नौका-विहार

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल!
अपलक अनंत, नीरव भूतल!
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रांत, क्लांत, निश्चल!
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि-मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कुंतल!
गोरे अंगों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुंदर
चंचल अंचल सा नीलांबर!
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर!
चाँदनी का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर!
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ीं, उठा लंगर!
मृदु मंद मंद, मंथर मंथर, लघु तरणि, हंसिनी सी सुंदर,
तिर रही,खोल पालों के पर!
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर!
कालाकाँकर का राजभवन सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन
पलकों पर वैभव-स्वप्न सघन!

नौका से उठती जल हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर!
विस्फारित नयनों से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अंतस्तल;
जिनके लघु दीपों को चंचल, अंचल की ओट किये अविरल
फिरती लहरें लुक-छिप पल-पल!
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल!
लहरों के घूँघट से झुक-झुक दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता, मुग्धा सा रुक-रुक!

अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार!
दो बाँहों से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर!
अति दूर, क्षितिज पर विटप-माल लगती भ्रू-रेखा सी अराल,
अपलक-नभ नील-नयन विशाल;
माँ के उर पर शिशु सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप;
वह कौन विहग? क्या विकल कोक, उड़ता हरने निज विरह शोक?
छाया की कोकी को विलोक!

पतवार घुमा,अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार!
डाँडों के चल करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार!
चाँदी के साँपों सी रलमल नाचती रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिँच तरल-सरल!
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ-सौ शशि, सौ-सौ उडु झिलमिल
फैले फूले जल में फेनिल!
अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले-ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सहोत्साह!

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार!
इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम!
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास!
हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर-पार,
शाश्वत जीवन-नौका विहार!
मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व दान!

तेरा कैसा गान?

तेरा कैसा गान,
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान,
काव्य, रस, छंदों की पहिचान?
न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर, मनन, शकुनि नादान!

हँसते हैं विद्वान,
गीत खग, तुझ पर सब विद्वान!
दूर, छाया-तरु-वन में वास,
न जग के हास-अश्रु ही पास,
अरे, दुस्तर जग का आकाश,
गूढ़ रे छाया ग्रथित प्रकाश,
छोड़ पंखों की शून्य उड़ान,
वन्य खग! विजन नीड़ के गान!

मेरा कैसा गान,
न पूछो मेरा कैसा गान!
आज छाया वन-वन मधुमास,
मुग्ध मुकुलों में गंधोच्छ्वास;
लुढ़कता तृण-तृण में उल्लास,
डोलता पुलकाकुल वातास;
फूटता नभ में स्वर्ण विहान,
आज मेरे प्राणों में गान!

मुझे न अपना ध्यान,
कभी रे रहा न जग का ज्ञान!
सिहरते मेरे स्वर के साथ
विश्व-पुलिकावलि से तरु-पात;
पार करते अनंत अज्ञात
गीत मेरे उठ सांय-प्रात;
गान ही में रे मेरे प्राण,
अखिल प्राणों में मेरे गान!

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र!

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त ध्वस्त, हे शुष्क शीर्ण!
हिम-ताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीतराग, जड़ पुराचीन!!

निष्प्राण विगत युग! मृत विहंग!
जग नीड़ शब्द औ' श्वास हीन,
च्युत, अस्तव्यस्त पंखों -से तुम
झर-झर अनंत में हो विलीन!

कंकाल-जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर,--पल्लव लाली!
प्राणों की मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली!

मंजरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय-स्वर मदिरा से
भरदे फिर नव युग की प्याली!
गा, कोकिल.......

गा, कोकिल, बरसा पावक कण!
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन!

पावक-पग धर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन!

गा, कोकिल, भर स्वर में कंपन!
झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन,
अंध नीड़-से रूढ़ि रीति छन,
व्यक्ति-राष्ट्र-गत राग-द्वेष रण,
झरें, मरें विस्मृति में तत्क्षण!

गा, कोकिल, गा,-कर मत चिन्तन!
नवल रुधिर से भर पल्लव-तन,
नवल स्नेह-सौरभ से यौवन,
कर मंजरित नव्य जग जीवन,
गूँज उठें पी-पी मधु सब जन!

गा, कोकिल, नव गान कर सृजन!
रच मानव के हित नूतन मन,
वाणी, वेश, भाव नव शोभन,
स्नेह, सुहृदता हो मानस-धन,
करें मनुज नव जीवन यापन!

गा, कोकिल,संदेश सनातन!
मानव दिव्य स्फुलिन्गर चिरंतन,
वह न देह का नश्वर रज कण!
देश काल हैं उसे न बंधन,
मानव का परिचय मानवपन!
कोकिल, गा, मुकुलित हों दिशि-क्षण!

बाँसों का झुरमुट

बाँसों का झुरमुट-
संध्या का झुटपुट-
लो, चहक रहीं चिड़ियाँ
टी-वी-टी--टुट्-टुट्!

वे ढाल ढाल कर उर अपने
ज्यों बरसा रहीं मधुर सपने
श्रम जर्जर विधुर चराचर पर,
गा गीत स्नेह वेदना सने!

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग,
भारी है जीवन! भारी पग!

आः गा गा शत शत सहृदय खग,
संध्या बिखरा निज स्वर्ण सुभग
चल गंध पवन चल मंद व्यजन
भर रहे नया इनमें जीवन,
ढीली हैं जिनकी रग रग!

-यह लौकिक औ' प्राकृतिक कला,
यह काव्य अलौकिक सदा चला
आ रहा,-सृष्टि के साथ पला!

गा सके खगों सा मेरा कवि,
विश्री जग की संध्या की छवि!
गा सके खगों सा मेरा कवि,
फिर हो प्रभात,-फिर आवे रवि!

ताज

हाय! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन!
स्फटिक सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास विहीन रहें जीवित जन?

मानव! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति!!
प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण को वरण?
स्थापित कर कंकाल, भरें जीवन का प्रांगण?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का?
गत युग के मृत आदर्शों के ताज मनोहर
मानव के मोहांध हृदय में किए हुए घर!
भूल गए हम जीवन का संदेश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर!

मानव

सुंदर हैं विहग, सुमन सुंदर,
मानव! तुम सबसे सुंदरतम,
निर्मित सबकी तिल सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम!
यौवन ज्वाला से वेष्टित तन,
मृदु त्वच, सौन्दर्य प्ररोह अंग,
न्योछावर जिनपर निखिल प्रकृति,
छाया-प्रकाश के रूप-रंग!

धावित कृश नील शिराओं में
मदिरा से मादक रुधिर धार,
आँखें हैं दो लावण्य लोक,
स्वर में निसर्ग संगीत सार!
पृथु उर, उरोज ज्यों सर, सरोज,
दृढ़ बाहु प्रलंब प्रेम बंधन,
पीनोरु स्कंध जीवन तरु के,
कर, पद अंगुलि, नख-शिख शोभन!

यौवन की मांसल, स्वस्थ गंध,
नव युग्मों का जीवनोत्सर्ग!
आह्लाद अखिल, सौन्दर्य अखिल,
औ' प्रथम प्रेम का मधुर स्वर्ग!
आशाऽभिलाष, उच्चाकांक्षा,
उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय,
विश्वास, असद्सत् का विवेक,
दृढ़ श्रद्धा, सत्य-प्रेम अक्षय!
मानसी भूतियाँ ये अमंद,
सहृदयता, त्याग, सहानुभूति,
जो स्तंभ सभ्यता के पार्थिव,
संस्कृति स्वर्गीय,-स्वभाव-पूर्ति!

मानव का मानव पर प्रत्यय,
परिचय, मानवता का विकास,
विज्ञान ज्ञान का अन्वेषण,
सब एक, एक सब में प्रकाश!
प्रभु का अनंत वरदान तुम्हें,
उपभोग करो प्रतिक्षण नव नव,
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव!

संध्या

कहो, तुम रूपसि कौन?

व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया छबि में आप,
सुनहला फैला केश कलाप

मधुर, मंथर, मृदु, मौन!

मूँद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप,
भाव संकुल, बंकिम, भ्रू चाप,
मौन, केवल तुम मौन!

ग्रीव तिर्यक्, चंपक द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख जलजात,
देह छबि-छाया में दिन-रात,
कहाँ रहती तुम कौन?

अनिल पुलकित स्वर्णांचल लोल,
मधुर नूपुर ध्वनि खग कुल रोल,
सीप-से जलदों के पर खोल,

उड़ रही नभ में मौन!

लाज से अरुण अरुण सुकपोल,
मदिर अधरों की सुरा अमोल,-
बने पावस घन स्वर्ण हिंदोल,
कहो, एकाकिनि, कौन?
मधुर, मंथर तुम मौन!

भारत गीत

जय जन भारत, जय आभा रत
जय जन राष्ट्र विधाता!

गौरव भाल हिमाचल उज्ज्वल
हृदय हार गंगा जल,
विन्ध्य श्रोणवत्, सिन्धु चरण नत
महिमा शतमुख गाता!

आम्र बौर, तालीबन, मलय पवन, पिक कूजन
जन मन नित हर्षाता!
अरुणोदय-प्रभु ज्योति छत्र नभ
ऊपर नील सुहाता!
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे

हरे खेत लहरे निर्मल सरिता सर
जीवन शोभा से जन धरणी उर्वर
कोटि हस्त नित विश्व कर्म हित तत्पर
बढ़ते अगणित चरण अडिग ध्रुवपथ पर!
प्रथम सभ्यता संस्कृति ज्ञाता, साम ध्वनित गुण गाथा,
जय नव मानवता निर्माता,
सत्य अहिंसा दाता!

सुनोस प्रयाण के विषाण तूरि भेरि बज उठे,
घनन, पणव पटह प्रचंड घोष कर गरज उठे,
विशाल सत्य सैन्य, वीर युद्ध वेश सज जुटे,
झनन, कराल अस्त्र-शस्त्र युक्त क्रुद्ध भुज उठे!
शक्ति स्वरूप, अमित बलधारी, वंदित भारतमाता
धर्म चक्र रक्षित तिरंग ध्वज उठ अविजित फहराता

मंगल वादन जन मन स्पंदन
देव द्वार भू प्रांगण,
मुक्त कंठ करते जय कीर्तन
निर्भय मस्तक वंदन!

जय जाग्रत, ज्ञानोन्नत, जय शिव सुंदर शाश्वत,
जय जन भव-भय त्राता!
धरा स्वर्गवत्, श्रद्धा से नत,
जनमत शीश उठाता
जय हे, जय हे, जय हे, जय जय जय जय हे!

जय जन भारत, जन मन अभिमत,
जन गण तंत्र विधाता!

गौरव भाल हिमाद्रि तपोज्ज्वल,
हृदय हार गंगा जल,
कटि विन्ध्याचल, सिन्धु चरण तल
महिमा शाश्वत गाता!

हरे खेत लहरे नद निर्झर
जीवन शोभा से भू उर्वर,
विश्व कर्म रत कोटि बाहु कर
अगणित पद ध्रुव पथ पर!

प्रथम सभ्यता ज्ञाता, साम ध्वनित गुण गाथा,
जय नव मानवता निर्माता
सत्य अहिंसा दाता!
जय हे जय हे जय हे, जय भव भय त्राता!

प्रयाण तूर शृंग भेरि बज उठे
धनन घनन पटह विकट गरज उठे,
प्रबुद्ध वीर युद्ध वेश सज जुटे
विशाल सत्य सैन्य, लौह भुज उठे!

शक्ति स्वरूपिणि, वहु बल धारिणि, वंदित भारत माता!
धर्मचक्र रक्षित तिरंग ध्वज अपराजित फहराता!
जय हे जय हे जय हे, शांति अधिष्ठाता!

जय जन भारत, जन मन अभिमत
जन गण तंत्र विधाता!
गौरव भाल हिमालय उज्ज्वल
हृदय हार गंगा जल,
कटि विन्ध्याचल, सिन्धु चरण तल
महिमा शाश्वत गाता!

हरे खेत लहरे नद निर्झर
जीवन शोभा उर्वर,
विश्व कर्म रत कोटि बाहु कर
अगणित पद ध्रुव पथ पर!

प्रथम सभ्यता ज्ञाता,साम ध्वनित गुण गाथा,
जय नव मानवता निर्माता
सत्य अहिंसा दाता!
जय हे जय हे जय हे, शांति अधिष्ठाता!

प्रयाण तूर्य बज उठे
पटह तुमुल गरज उठे
विशाल सत्य सैन्य, लौह भुज उठे!
शक्ति-स्वरूपिणि, बहु बल धारिणि, वंदित भारत माता!
धर्मचक्र रक्षित तिरंग ध्वज अपराजित फहराता!
जय हे जय हे जय हे, अभय, अजय, त्राता!

युगवाणी

युग की वाणी,
हे विश्वमूर्ति, कल्याणी!
रूप रूप बन जायँ भाव स्वर,
चित्र-गीत झंकार मनोहर,
रक्त मांस बन जायँ निखिल
भावना, कल्पना, रानी!
युग की वाणी!

आत्मा ही बन जाय देह नव,
ज्ञान ज्योति ही विश्व स्नेह नव,
हास, अश्रु, आशाऽकांक्षा
बन जायँ खाद्य, मधु पानी!
युग की वाणी!

स्वप्न वस्तु बन जाय सत्य नव,
स्वर्ग मानसी ही भौतिक भव,
अन्तर जग ही बहिर्जगत
बन जावे, वीणापाणि, इ!
युग की वाणी!

सर्व मुक्ति हो मुक्ति तत्व अब,
सामूहिकता ही निजत्व अब,
बने विश्व जीवन की स्वरलिपि
जन मन मर्म कहानी!
कवि की वाणी!

नवदृष्टि

खुल गए छंद के बंध,
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त,
औ' युग वाणी बहती अयास!
बन गए कलात्मक भाव
जगत के रूप नाम,
जीवन संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम!

सुंदर, शिव, सत्य
कला के कल्पित माप-मान,
बन गए स्थूल,
जग जीवन से हो एकप्राण!
मानव स्वभाव ही
बन मानव आदर्श सुकर
करता अपूर्ण को पूर्ण,
असुंदर को सुंदर!

पुण्य प्रसू

ताक रहे हो गगन?
मृत्यु-नीलिमा-गहन गगन?-
निःस्पन्द, शून्य, निर्जन, निःस्वन?

देखो भू को!
जीव प्रसू को!

हरित भरित
पल्लवित मर्मरित
कूजित गुंजित
कुसुमित
भू को!

कोमल
चंचल
शाद्वल
अंचल, -
कल कल
छल छल
चल - जल निर्मल,

कुसुम खचित
मारुत सुरभित
खग कुल कूजित
प्रिय पशु कूजित
जिस पर अंकित
सुर मुनि वंदित
मानव पद- तल!

देखो भू को,
स्वर्गिक भू को,
मानव पुण्य-प्रसू को!

गंगा की साँझ

अभी गिरा रवि, ताम्र कलश सा,
गंगा के उस पार,
क्लांत पांथ, जिह्वा विलोल
जल में रक्ताभ प्रसार!
भूरे जलदों से धूमिल नभ-
विहग-पंख से बिखर-
धेनु-त्वचा-से सिहर रहे
जल में रोओं-से छितरे!

दूर, क्षितिज में चित्रित-सी
उस तरु माला के ऊपर
उड़ती काली विहग पाँति
रेखा-सी लहरा सुंदर!
उड़ी आ रही हलकी खेवा
दो आरोही लेकर,
नीचे ठीक तिर रहा जल में
छाया-चित्र मनोहर!

शांत, स्निग्ध संध्या सलज्ज मुख
देख रही जल तल में,
नीलारुण अंगों की आभा
छहरी लहरी दल में!
झलक रहे जल के अंचल से
कंचु-जलद स्वर्ण-प्रभ,
चूर्ण कुंतलों सा लहरों पर
तिरता घन ऊर्मिल नभ!

द्वाभा का ईषत् उज्ज्वल
कोमल तम धीरे घिर कर

दृश्य पटी को बना रहा
गंभीर, गाढ़ रँग भर-भर!
मधुर प्राकृतिक सुषमा यह
भरती विषाद है मन में,
मानव की जीवित सुंदरता
नहीं प्रकृति दर्शन में!

पूर्ण हुई मानव अंगों में
सुंदरता नैसर्गिक,
शत ऊषा संध्या से निर्मित
नारी प्रतिमा स्वर्गिक!
भिन्न भिन्न बह रही आज
नर नारी जीवन धारा,
युग युग के सैकत-कर्दम से
रुद्ध,-छिन्न सुख सारा!

गंगा का प्रभात

गलित ताम्र भव : भृकुटि मात्र रवि
रहा क्षितिज से देख,
गंगा के नभनील निकष पर
पड़ी स्वर्ण की रेख!
आर पार फैले जल में
घुल कर कोमल आलोक,
कोमलतम बन निखर रहा
लगता जग अखिल अशोक!
नवकिरणों ने विश्वप्राण में
किया पुलक संचार,
ज्योति जड़ित बालु का पुलिन

हो उठा सजीव अपार!
सिहर अमर जीवन कंपन से
खिल खिल अपने आप,
केवल लहराने को लहराता
लघु लहर कलाप!

सृजन शीलता से अपनी ही
हो ज्यों अवश, अकाम--
निरुद्देश्य जीवन धारा
बहती जाती अविराम!
देख रहा अनिमेष,-हो गया
स्थिर, निश्चल, सरिता जल,
बहता हूँ मैं, बहते तट,
बहते तरु, क्षितिज, अवनि तल!

यह विराट् भूतों का भव
चिर जीवन से अनुप्राणित,
विविध विरोधी तत्वों के
संघर्षण से संचालित!
निज जीवन के हित अगणित
प्राणी हैं इसके आश्रित,
मानव इसका शासक,-आतप,
अनिल,अन्न, जल शासित!

युग संघर्ष

आज चेतना का गत वृत समापन
नूतन का अभिवादन करता कवि मन!

रजतातप

(आत्म निर्माण)

आज चेतना के प्लावन सा
निखर रहा रजतातप सुंदर,
ऊषा संध्या के स्वप्नों के
स्वर्णिम पुलिनों को मज्जित कर!
चंद्रातप सी स्निग्ध नीलिमा
यज्ञ धूम सी छाई ऊपर,
किरणों के स्पर्शों से गुंफित
ज्योति वृत्त सा खिँचा दिगंतर!

किन स्वर्गिक शिखरों को छूकर
बहता रजत समीरण मंथर,
गंध हीन, निज सूक्ष्म गंध से
सहसा प्राणोज्वल कर अंतर!
निर्मलता ही जल धारा सी
बह बह धोती भू के रज कण,
भूतों की चिर पावनता में
हृदय सहज करता अवगाहन!

लौट मुग्ध विस्मित लोचन मन
अंतर्मुख करते अवलोकन,
निभृत स्पर्श पाकर निसर्ग का
आत्मा गोपन करती चिन्तन!

श्रांत इंद्रियाँ अनुप्राणित हो
देवों का करतीं आवाहन,
अंतर्नभ के दुग्धामृत से!
भरें पुनः वे इनमें जीवन!

दीप शिखा सी जगे चेतना
मिट्टी के दीपक से उठकर,
तैल धारवत् मर्म स्नेह पा
स्वर्ग विभा से भूतल दे भर!

अंतरतम की नीरवता में
जाग्रत हो सुर मादन गुंजन,
खंडित भव विशृंखलता को
बाँध अमर गति लय में चेतन!

फिर श्रद्धा विश्वास प्रेम से
मानव अंतर हो अंतःस्मित,
संयम तप की सुंदरता से
जग जीवन शतदल दिक् प्रहसित!

व्यक्ति विश्व में व्यापक समता
हो जन के भीतर से स्थापित,
मानव के देवत्व से ग्रथित
जन समाज जीवन हो निर्मित!

करें आत्म निर्माण लोकगण
आत्मोज्ज्वल भू मंगल के हित,
बहिरंतर जड़ चेतन वैभव
संस्कृति में कर निखिल समन्वित!

सहृदयता का सागर हो मन
हृदय शिला हो प्रेरणा सरित,

भू जीवन के प्रति रुचि जन में
मानव के प्रति मानव प्रेरित!

प्राणों के स्तर स्तर में पुलकित
अमर भावनाएँ हों विकसित,
प्रीति पाश में बँध सुंदरता
काम भीति से हो अकलंकित!

देव वृत्तियों के संगम में
डूबें भू विप्लव, संघर्षण,
जीवन के संगीत में अमित
परिणत हो धरती का क्रंदन!

ऊर्ध्वग शृंगों के समीर को
आओ, साँसों से उर में भर
इस पवित्रता से हम तन का
मन का पोषण करें निरंतर!

मुक्त चेतना के प्लावन सा
उमड़ रहा रजतातप निर्झर,
आज सत्य की बेला बहती
स्वप्नों के पुलिनों के ऊपर!

स्वर्ण निर्झर

(सौन्दर्य चेतना)

स्वर्ण रजत के पत्रों की रत्नच्छाया में सुंदर
रजत घंटियों सा झरता स्वर्णिम किरणों का निर्झर!

सिहर इंद्रधनुषी लहरों में इंद्रनीलिमा का सर
गलित मोतियों के पीतोज्वल फेनों से जाता भर!!

वहाँ सूक्ष्म छायाभा के तन तैर अमृत में मादन
वर्ण विभा से भरी अंगभंगी से हर लेते मन!
वह शोभा की द्वाभा का नीहार लोक चिर मोहन
सहज स्फुरित हो उठता नीरव अंतस्तल में गोपन!

ऊषा की लाली से कल्पित नव बसंत के कोंपल,
सौरभ वाष्पों पर पुष्पों के शत रँग खिलते प्रतिपल!
शशि किरणों के नभ के नीचे, उर के सुख से चंचल,
तुहिनों का छाया वन कँपता रहता नित तारोज्वल!

वहाँ एक अप्सरी, स्वर्ण तन चंद्रातप से निर्मित
नवल अवयवों की जलतल की जाल व्रतति सी शोभित!
फूल देह को उसकी घेरे स्वर्ग लालसा गुंजित,
एकाकी प्रिय अंगों पर कोमल लावण्य अनावृत!

सुप्त स्वर्ण के चक्रांगों-से सुघर उरोजों पर स्थित
शुभ्र सुधा के मेघों की जाली उठती गिरती नित!
उठे कामना शिखरों-से, श्वासों से स्वर्गिक स्पंदित,
रजत प्रीति के उन कलशों पर स्वर्ण शिराएँ वेष्टित!

ज्योति भँवर सी सुघर नाभि प्रिय रजत फुहार उदर में
स्वर्ण वाष्प का घन लटका जघनों के माणिक सर में।
रजत शांति आत्मा के नभ की, झंकृत उसके स्वर में।
मुक्ता घट में स्वर्ण प्रीति की सुरा लिए वह कर में!

मृदुल कामना लतिकाओं सी बाँहें प्रीति प्रलंबित
आलिंगन भरने को अति कोमल पुलकों से कल्पित!
अरुण सुरा प्यालों-से करतल, प्रणय रुधिर से रंजित,
दीप शिखा-सी अंगुलियों पर हीरक छवि नख ज्योतित!

भौंरों की गुंजारों-से श्लथ कुंतल मसृण तरंगित,
जिनके कोमल सुरभित तम में स्वप्न काम के निद्रित!
वाणी के उद्ग्रीव हंस-सी ग्रीवा की शोभा सित,
भाल भृकुटि श्रुति चिबुक नासिका उसके सतत निरुपमित!

स्वर्णिम निर्झर सी रति सुख की जंघाओं पर पेशल,
लिपटी जीवन की ज्वाला उद्दीपन करती शीतल!
नव प्रभात किरणों से चुंबित रक्त कमल-से पदतल,
लहरा उठती पग पग पर स्वर्गंगा भू पर चंचल!

खिले कपोलों में सुषमा के पाटल छवि से लज्जित,
अधरों पर मदिरा प्रवाल की बनी मधुर अधरामृत!
इंदु रश्मि के कुंद मुकुल दशनों में द्रवित सहज स्मित,
नील कमल नयनों में नीरव स्वर्ग प्रीति का विकसित!

स्निग्ध स्पर्श बहता प्राणों में अमर चेतना सा नव,
उर को होता चिर प्रतीति की मधुर मुक्ति का अनुभव!
मन में भर जाता स्वर्गिक भावों का स्वर्णिम-वैभव,
हृदय हृदय का मिल, अभिन्न बनना हो जाता संभव!

यह सौन्दर्य विभा रे उसके अमर प्रेम की छाया,
दिव्य प्रेम देही, सुंदरता उसकी सतरंग काया!
प्रेम सत्य, शिव सार, प्रेम ही में आनंद समाया,
दृढ़ प्रतीति को उसने अपनी चिर पद-पीठ बनाया!

हिमाद्रि और समुद्र

वह शिखर शिखर पर स्वर्गोन्नत,
स्तर पर स्तर ज्यों अंतर्विकास

चढ़ सूक्ष्म सूक्ष्मतम चिद् नभ में
करता हो शुचि शाश्वत विलास!
वह मौन गभीर प्रशांत ऊर्ध्व
स्थित धी असंग चिर निरभिलाष
आत्मा की गरिमा का भू पर
बरसाता हो अकलुष प्रकाश!
वह निर्विकल्प चेतना शृंग
उठ स्वर्ग क्षितिज से भी ऊपर
अंतर्गौरव में समाधिस्थ
अपनी ही सत्ता पर निर्भर!
वह ज्यों असीम सौन्दर्य अमर
जो तृण तृण पर से रहा निखर,
वह रोमांचित आनंद, नृत्य करता
विमुग्ध भव जिस लय पर!

यह ज्यों अनंत जीवन वारिधि
अहरह अशांत औ' उद्वेलित,
जिसके निस्तल गहरे रँग में।
अगणित भव के युग अंतर्हित!
जग की अबाध आकांक्षा से
इसका अंतस्तल आंदोलित,
सुख दुख आशा आशंका के
उत्थान पतन से चिर मंथित!

यह मनश्चेतना ज्यों सक्रिय
भू के चरणों पर बिखर बिखर
शत स्नेहोच्छ्वसित तरंगों की
बाँहों में लेती भू को भर!
नभ से बन पवन, पवन से जल,
लालायित यह चेतना अमर
सोई धरती से लिपट, जगाने
उसे, युगों की जड़ता हर!

वह महाकाल सा रे अलंघ्य,
जो शाश्वत स्वर्ग मर्त्य प्रहरी,
यह महादिशा सा ही अकूल
जिसमें विराट् संसृति लहरी!
हिमगिरि की गहराई ऊँची,
सागर की ऊँचाई गहरी
छाया प्रकाश की संसृति के
जीवन रहस्य पट में छहरी!

द्वासुपर्णा

दो पक्षी हैं: सहज सखा, संयुक्त निरंतर,
दोनों ही बैठे अनादि से उसी वृक्ष पर!
एक ले रहा पिप्पल फाल का स्वाद प्रतिक्षण,
बिना अशन, दूसरा देखता अंतर्लोचन!

दो सुहृदों-से मर्त्य अमर्त्य सयोनित होकर
भोगेच्छा से ग्रसित भटकते नीचे ऊपर;
सदा साथ रह, लोक लोक में करते विचरण,
ज्ञात मर्त्य सब को, अज्ञात अमर्त्य चिरंतन!

कहीं नहीं क्या पक्षी? जो चखता जीवन फल,
विश्व वृक्ष पर नीड़, देखता भी है निश्चल!
परम अहम् औ' द्रष्टा भोक्ता जिसमें सँग सँग,
पंखों मे बहिरंतर के सब रजत स्वर्ण रँग!
ऐसा पक्षी, जिसमें हो संपूर्ण संतुलन,
मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु जीवन!
मानवीय संस्कृति रच भू पर शाश्वत शोभन
बहिरंतर जीवन विकास का जीवित दर्पण!

भीतर बाहर एक सत्य के रे सु-पर्ण द्वय,
जीवन सफल उड़ान, पक्ष संतुलन जो, विजय!

कौवे के प्रति

तरु की नग्न डाल पर बैठे लगते तुम चिर सुंदर,
कोविदार के शकुनि, पार्श्वमुख, सांध्य कपिश नभ पट पर!
कृष्ण कुहू में जनमे तुम तरु कोटर में, वन नभचर,
तारों की ज्यों छाँह गले पड़ गई नीड़ से छन कर!

पंखों की काली उड़ान तुम भरते नित ऋजु कुंचित,
शुभ्र ज्योति का तुम पर कभी प्रभाव न पड़ता किञ्चित्!
रंग नहीं चढ़ता जिस पर वह यती वृती है निश्चित,
समित् पाणि मैं प्रश्न पूछता तुमको मान विपश्चित!

तुम भविष्य वक्ता जग विश्रुत, प्रणय दूत कवि कीर्तित,
मढ़वा चुके चोंच सोने से फिर फिर प्रीति पुरस्कृत!
क्या है जग के दुरित दैन्य का कारण? खग, दो उत्तर,
कलुष कालिमा की होगी कालिमा तुम्हारी सहचर!

मंत्री वृद्ध तुम्हारे कौशिक, दिवाभीत चमगादर,
जाग्रत् रहते भूत निशा में तरु सेवी तापसवर!
गरदन मटका हिला करट, कुछ विस्मित, कुछ चिन्तनपर,
एक चक्षु को पलट, दूसरे लोचन पुट में सत्वर!

मैंने कहा, मुखर भाषी, क्या तुमको कहने में डर?
यह महत्त्व का प्रश्न, लोक जीवन है इस पर निर्भर!
काँव काँव कर कहा काक ने ग्राम्य भणिति में निश्चय,
काम, काम है तापों का कारण था उसका आशय!

मैंने पूछा, मोह काम से पीड़ित जग निःसंशय,
किन्तु, कौन पा सकता, बलिभुज्! अमिट कामना पर जय?
पक्ष–पात कर उड़ा विहग, काले प्रकाश से भर मन,
समाधान मेरी शंका का उस तम में था गोपन!

पक्षपात है नाम कामना का, जो दुख की कारण,
उज्ज्वल सभी प्रकाश नहीं रे, काला नहीं सभी तम!
इस प्रकाश के शिखी पिच्छ से रूप अनेक मनोहर,
जिनमें लिप्त मनुज मन रहता लोभ स्वार्थ हित तत्पर!
अंधकार के रूप विविध, घनश्याम इंद्रधनु जलधर
उर्वर रखते भू को, मोहक काली कोयल के स्वर!

ज्योति हंस औ' तमस काक इन दोनों से जो है पर
उसी सर्वगत पर जो केन्द्रित रहे मनुज का अंतर,
हंस रहें जग में, मयूर औ' वायस रहें परस्पर,
सब के साथ अपाप विद्ध, स्थित प्रज्ञ रहे जग में नर!

श्वेत कृष्ण मिल, रंग पूर्ण नित धरें जगत जीवन पथ,
पक्षपात से रहित मनुज हो विरत विश्व में भी रत!
किया हृदय ने ज्योति श्याम परभृत् का मन में स्वागत,
दीप तले के तम के छाया खग, तुम दीप शिखावत्!

गीत विहग

मैं गीत विहग, निज मर्त्य नीड़ से उड़ कर
चेतना गगन में मन के पर फैलता,
मैं अपने अंतर का प्रकाश बरसा कर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता!

स्वर्ण धूलि

स्वर्ण बालुका किसने बरसा दी रे जगती के मरुस्थल में,
सिकता पर स्वर्णांकित कर स्वर्गिक आभा जीवन मृग जल में!

स्वर्ण रेणु मिल गई न जाने कब धरती की मर्त्य धूलि से,
चित्रित कर, भर दी रज में नव जीवन ज्वाला अमर तूलि से!

अंधकार की गुहा दिशाओं में हँस उठी ज्योति से विस्तृत,
रजत सरित-सा काल बह चला फेनिल स्वर्ण क्षणों से गुंफित!

खंडित सब हो उठा अखंडित, बने अपरिचित ज्यों चिर परिचित,
नाम रूप के भेद भर गए स्वर्ण चेतना से आलिंगित!

चक्षु वाक् मन श्रवण बन गए सूर्य अग्नि शशि दिशा परस्पर,
रूप गंध रस शब्द स्पर्श की झंकारों से पुलकित अंतर।

दैवी वीणा पुनः मानुषी वीणा बन नव स्वर में झंकृत,
नवल युग पुरुष को निज तप से आत्मा फिर से करती सर्जित!

बीज बनें नव ज्योति वृत्तियों के जन मन में स्वर्ण धूलि कण,
पोषण करे प्ररोहों का नव अंध धरा रज का संघर्षण!

चीर आवरण भू के तम का स्वर्ण शस्य हो रश्मि अंकुरित,
मानस के स्वर्णिम पराग से धरणी के देशांतर गर्भित!

ज्योति वृषभ

(आर्षवाणी)

स्वर्ण शिखर-से चतुःशृंग हैं उसके शिर पर,
दो उसके शुभ शीर्ष : सप्त-रे ज्योति हस्त वर!
तीन पाद पर खड़ा, मर्त्य इस जग में आकर
त्रिधा बद्ध वह वृषभ, रँभाता है दिग्ध्वनि भर!

महादेव वहःसत्यः पुरुष औ' प्रकृति शीर्ष द्वय,
चतुःशृंग सच्चिदानंद विज्ञान ज्योतिमय!
सप्त चेतना-लोक, हस्त उसके निःसंशय,
महादेव वहःसत्यःज्योति का वृष वह निश्चय!

सत् रज तम से त्रिधा बद्ध, पद अन्न प्राण मन,
मर्त्य लोक में कर प्रवेश वह करता रेभण!
महादेव वहः सत्य : मुक्ति के लिए अनामय
फिर फिर हंभा रव करताः जय, ज्योति वृषभ, जय!

प्रच्छन्न मन

वेद ऋचाएँ परम व्योम में अक्षय जीवित,
निखिल देवगण चिर अनादि से जिसमें निवसित!
जिसे न अनुभव परम तत्व का अक्षर पावन
मंत्र पाठ से नहीं प्रकाशित होता वह मन!
जिसे ज्ञात वह सत्य, वही रे विज्ञ विपश्चित,
ज्योतित उसका बहिरंतर, आनंद रूप नित!

एक अंश भर मात्र बहिर्मुख इंद्रिय जीवन,

शेष अंश प्रच्छन्न मनस् में रहते गोपन!
अंतजीवन से जो मानव हो संयोजित
पूर्ण बने वह, स्वर्ग बने यह वसुधा निश्चित!
अन्न प्राण मन अंतर्मन से हों परिपोषित,
सत्य मूल से युक्त, ज्योति आनंद प्रस्नवित!

वाणी के रे तीन अंश उर गुहा मध्य स्थित
अधिमानस से दिव्य ज्ञान हो उनका प्रेरित!
बहिरंतर मानव जीवन हो सत्य समन्वित,
अंतर्वैभव से हो भौतिक वैभव दीपित!
आत्मा का ऐश्वर्य, भूत श्री सुख हो अविरत,
ऊषाओं के पथ से उतरे पूषण का रथ!

सृजन शक्तियाँ

आज देवियों को करता मन भूरि रे नमन,
सृजन शक्तियाँ चिन्मयि जो करतीं भव सर्जन!
माहेश्वरी महेश्वर की आज्ञा का पालन,
लक्ष्मी श्री सौन्दर्य विभव नव करती वितरण!
सरस्वती विस्तार सूक्ष्म करती संपादन,
काली भरती प्रगति, विघ्न कर निखिल निवारण!

आभा देही अदिति, देवताओं की माता,
वह अभिन्न अविभाज्य, एकता की चिर ज्ञाता!
उसके सुत आदित्य सत्य से युक्त निरंतर
भेद बुद्धि दिति के सुत दैत्य, अहंमय तमचर!

आदि सत्य का सक्रिय बोध इला देतीं नित,

सरस्वती चिर सत्य स्रोत अंतर में समुदित!
मही-भारती, वाणी-जिसका ज्ञान अपरिमित,
सद् का देती बोध दक्षिणा, हवि कर वितरित!

शर्मा है प्रेरणा, श्वान जो अचित् में उतर
चित् का छिपा प्रकाश ढूँढ़ लाता चिर भास्वर!
देवों की शक्तियाँ देवियाँ रे चिर पूजित,
मानव का प्रच्छत्र चित्त जिनसे नित ज्योतित!

चौथी भूख

'भूखे भजन न होय गुपाला,'
यह कबीर के पद की टेक,
देह की है भूख एक!

कामिनी की चाह, मन्मथ दाह
तन को हैं तपाते,
नित लुभाते विषय भोग अनेक;

चाहते ऐश्वर्य सुख जन,
चाहते स्त्री पुत्र भू धन,
चाहते चिर प्रणय का अभिषेक!
देह की है भूख एक!

दूसरी रे भूख मन की!
चाहता मन आत्म गौरव,
चाहता मन कीर्ति सौरभ,
ज्ञान मंथन, नीति दर्शन,
मान पद अधिकार पूजन!

मन कला विज्ञान द्वारा
खोलता नित ग्रंथियाँ जीवन मरण की!
दूसरी यह भूख मन की!

तीसरी रे भूख आत्मा की गहन!
इंद्रियों की देह से ज्यों है परे मन,
मनोजग से परे त्यों आत्मा चिरंतन:
जहाँ मुक्ति विराजती नित
डूब जाता हृदय क्रंदन!

वहाँ सत् का वास रहता,
वहाँ चित् का लास रहता,
वहाँ चिर उल्लास रहता,
यह बताता योग दर्शन!

किंतु ऊपर हो कि भीतर
मनोगोचर या अगोचर,
क्या नहीं कोई कहीं ऐसा अमृत घन
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन?
जाति वर्गों से निखर जन
अमर प्रीति प्रतीति में बँध
पुण्य जीवन करें यापन,
जन धरा हो ज्योति पावन!

जन्मभूमि

जननी जन्मभूमि प्रिय अपनी, जो स्वर्गादपि चिर गरीयसी!

जिसका गौरव भाल हिमाचल,
स्वर्ण धरा हँसती चिर श्यामल,

ज्योति ग्रथित गंगा यमुना जल,
वह जन जन के हृदय में बसी!
जिसे राम लक्ष्मण औ' सीता
बना गए पद धूलि पुनीता,
जहाँ कृष्ण ने गाई गीता
बजा अमर प्राणों में वंशी!

सावित्री राधा सी नारी
उतरीं आभा देही प्यारी,
शिला बनी तापस सुकुमारी
जड़ता बनी चेतना सरसी!

शांतिनिकेतन जहाँ तपोवन,
ध्यानावस्थित हो ऋषि मुनि गण
चिद् नभ में करते थे विचरण,
जहाँ सत्य की किरणें बरसीं!

आज युद्ध जर्जर जग जीवन,
पुनः करेगी मंत्रोच्चारण
वह वसुधैव बना कुटुम्बकम्,
उसके मुख पर ज्योति नव लसी!

जननी जन्मभूमि प्रिय अपनी, जो स्वर्गादपि है गरीयसी!

लोक सत्य

बोला माधव
'प्यार यादव'

'जब तक होंगे लोग नहीं अपने सत्वों से परिचित
जन संग्रह बल पर भव संस्कृति हो न सकेगी निर्मित!
आज अल्प हैं जीवित जग में औ' असंख्य उत्पीड़ित,
लौह मुष्टि से हमें छीननी होगी सत्ता निश्चित!'

बोला यादव,
'प्यारे माधव'

मुझको लगता आज वृत्त में घूम रहा मानव मन,
भौतिकता के आकर्षण से रण जर्जर जग जीवन!
समतल व्यापी दृष्टि मनुज की देख न पाती ऊपर,
देख न पाती भीतर अपने, युग स्थितियों से बाहर!

'नहीं दीखता मुझे जनों का भूत भ्रांति में मंगल,
बाह्य क्रांति से प्रबल हृदय में क्रांति चल रही प्रतिपल!
मध्य वर्ग की वैभव तंद्रा के स्वप्नों से जग कर
हमको अभिनव लोक सत्य है स्थापित करना भू पर!'

'युग युग के जीवन से औ' युग जीवन से उत्सर्जित
सूक्ष्म चेतना में मनुष्य की, सत्य हो रहा विकसित!
आज मनुज को ऊपर उठ औ' भीतर से हो विस्तृत
नव्य चेतना से जंग जीवन को करना है दीपित!'

बोला यादव
'प्यारे माधव',

'वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन
भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन,
औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गंभीर चिरंतन
जिसमें मूल सृजन विकास के, विश्व प्रगति के गोपन!'

'आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख,

मनुष्यत्व में मज्जित करने युग जीवन के सुख दुख!
पिघला देगी लौह मुष्टि को आत्मा की कोमलता
जन बल से रे कहीं बड़ी है मनुष्यत्व की क्षमता!'

मर्म कथा

बाँध दिए क्यों प्राण प्राणों से!
तुमने चिर अनजान प्राणों से!

गोपन रह न सकेगी
अब यह मर्म कथा,
प्राणों की न रुकेगी
बढ़ती विरह व्यथा,

विवश, फूटते गान, प्राणों से!

यह विदेह प्राणों का बंधन,
अंतर्ज्वाला में तपता तन!
मुग्ध हृदय, सौन्दर्य शिखा को
दग्ध कामना करता अर्पण!

नहीं चाहता जो कुछ भी आदान प्राणों से!
बाँध दिए क्यों प्राण प्राणों से!

उत्तरा

विचरो प्रिय, उत्तरा गीत पथ!
बढ़ते अगणित ध्वनित चरण,
विचरण करते नीरव युग शत शत!

चुभते शूल, मर्त्य पग लोहित,
झरते फूल, मनोदृग मोहित,
यह बहिरंतर क्रांति, श्रांत श्लथ!
चलता जन जीवन, भू लथपथ!

बदल रहा अब स्थूल धरातल,
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल,
विस्तृत होता बहिर्जगत अब
विकसित अंतर्जीवन अभिमत!

जड़ चेतन के चक्र निरंतर
घूम रहे चिर प्रलय सृजन कर,
जयध्वनि हाहारव में बढ़ता
युगपथ पर मानवता का रथ!

चिर विकास प्रिय जन-भू का मग,
भावी धरती स्वप्नों के पग,
गत भू जीवन, युग मन ही रे,
सत्य नहीं, मानव के इति अथ!
विचरो प्रिय, उत्तरा काव्य पथ!

युग-छाया

दारुण मेघ घटा घहराई युग संध्या गहराई!
आज धरा प्रांगण पर भीषण झूल रही परछाई!

तुम विनाश के रथ पर आओ,
गत युग का हत शव ले जाओ,
गीध टूटते, श्वान भूँकते,
रोते शिवा बिदाई!

मनुज रक्त से पंकिल युग पथ,
पूर्ण हुए सब दैत्य मनोरथ,
स्वर्ग रुधिर से अभिषेकित अब
नव युग की अरुणाई!

नाचेगा जब शोणित चेतन,
बदलेगा तब युग निरुद्ध मन,
कट मर जाएँगे युग दानव,
सुर नर होंगे भाई!

ज्ञात मर्त्य की मुझे विवशता,
जन्म ले रही नव मानवता,
स्वप्न द्वार फिर खोल उषा ने
स्वर्ण विभा बरसाई!

युग-संघर्ष

गीत क्रांत रे इस युग के कवि का मन,
नृत्य मत्त उसके छंदों का यौवन!
वह हँस हँस कर चीर रहा तम के घन,
मुरली का मधुरव कर भरता गर्जन!

नवल चेतना से उसका उर ज्योतित,
मानव के अंतर वैभव से विस्मित!
युग विग्रह में उसे दीखती बिम्बित
विगत युगों की रुद्ध चेतना सीमित!

उसका जाग्रत मन करता दिग् घोषण,
अंतर्मानव का यह युग संघर्षण!
शोषक हैं इस ओर, उधर हैं शोषित,
बाह्य चेतना के प्रतीक जो निश्चित!

धनिकों श्रमिकों का स्वरूप धर बाहर
ह्रास शक्तियाँ आत्मनाश हित तत्पर;
क्षोभ भरे युग शिखर उभड़ते दुर्धर
टकराता भू ज्वार: क्षुब्ध भवसागर!

नृत्य कर रही क्रांति रक्त लहरों पर,
घृणा द्वेष की उठीं आँधियाँ दुस्तर!
कौन रोक सकता उद्वेग प्रलयकर,
मर्त्यों की परवशता, मिटते कट मर!

महा सृजन की तड़ित टूटती दु:सह
अंधकार भू का विदीर्ण कर दुर्वह!
युग-युग की जड़ता कँप उठती थर थर
आज स्वप्न प्रज्वलित चकित रे अंतर!

नव्य चेतना का विरोध करते जन,
यह जड़त्व भू मन का अंध पुरातन!
आज मनोजग में जन के भय संशय
द्वेष प्रेम का देता पहिला परिचय!

संभव है, नभ में छाएँ करुणा घन
अंतर मन में भर जाए, युग क्रंदन,
बरसाए उर भू पर आभा के कण
द्रोही मानव के प्रति विद्रोही बन!

ध्यान मौन आराधक, साधक, गायक,
सोच मग्न रे मनोजगत के नायक,
आंदोलित मानवता के अभिभावक,
विश्व क्रांति यह: आपद् काल भयानक!

....

रक्त पूत अब धरा: शांत संघर्षण,
धनिक श्रमिक मृत: तर्कवाद निश्चेतन!
सौम्य शिष्ट मानवता अंतर्लोचन
सृजन-मौन करती धरती पर विचरण!

उज्ज्वल मस्तक पर मुक्ता-से श्रम कण,
शांत धीर मन से करती वह चिन्तन;
भू जीवन निर्माण निरत, नव चेतन
साधारण रे वास वसन, मित भोजन!

विद्युत अणु उसके सम्मुख अब नत फन,
वसुधा पर नव स्वर्ग सृजन के साधन,
आज चेतना का गत वृत्त समापन
नूतन का अभिवादन करता कवि मन!

गीत विहग

मैं नव मानवता का संदेश सुनाता,
स्वाधीन लोक की गौरव गाथा गाता;
मैं मन: क्षितिज के पार मौन शाश्वत की
प्रज्वलित भूमि का ज्योतिवाह बन आता!

युग के खँडहर पर डाल सुनहली छाया
मैं नव प्रभात के नभ में उठ, मुसकाता;
जीवन पतझर में जन मन की डालों पर
मैं नव मधु के ज्वाला पल्लव सुलगाता!

आवेशों से उद्वेलित जन सागर में
नव स्वप्नों के शिखरों का ज्वार उठाता;
जब शिशिर क्रांत, वन-रोदन करता भू-मन
युग पिक बन प्राणों का पावक बरसाता!

मिट्टी के पैरों से भव-क्लांत जनों को
स्वप्नों के चरणों पर चलना सिखलाता;
तापों की छाया से कलुषित अंतर को
उन्मुक्त प्रकृति का शाभा वक्ष दिखाता!

जीवन मन के भेदों में सोई मति को
मैं आत्म एकता में अनिमेष जगाता;
तम-पंगु,बहिर्मुख जग में बिखरे मन को
मैं अंतर सोपानों पर ऊर्ध्व चढ़ाता!

आदर्शों के मरु जल से दग्ध मृगों को
मैं स्वर्गंगा स्मित अंतर्पथ बतलाता;
जन मन को नव मानवता में जाग्रत कर
मैं मुक्त कंठ जीवन रण शंख बजाता!

मैं गीत विहग, निज मर्त्य नीड़ से उड़ कर
चेतना गगन में मन के पर फैलाता,
मैं अपने अंतर का प्रकाश बरसा कर
जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता!

मैं स्वर्दूतों को बाँध मनोभावों में
जन जीवन का नित उनको अंग बनाता,
मैं मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग बसा कर
जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता!

मैं जन्म मरण के द्वारों से बाहर कर
मानव को उसका अमरासन दे जाता,
मैं दिव्य चेतना का संदेश सुनाता,
स्वाधीन भूमि का नव्य जागरण गाता!

जागरण गान

ग्रहण करो फिर असि धारा व्रत,
भारत के नव यौवन,
धरा चेतना में अब फिर से
छिड़ा तुमुल आंदोलन!

यह रण क्षेत्र पुरातन रे चिर नूतन
बढ़ा विकट जड़ चेतन का संघर्षण,
युग युग के अधि शृंग ढह रहे,
यह मानस-भू कंपन,
टूट रहे आदर्श तारकों-से
धँसता भू प्रांगण!

वीर, करो फिर क्षुब्ध मनोदधि मंथन,
मानव का यह कठिन परीक्षा का क्षण,
कर दोगे फूल विसर्जन!

वृद्ध धरा पर छाया धूम भयानक,
धक् धक् करता महा प्रलय का पावक,
विश्व ग्लानि में क्या न करोगे,
मनः संगठन भू जन?
मानवीय क्या नहीं बनाओगे
जन भू का जीवन?

उठे जूझने विश्व समर में दुर्धर
लोक चेतना के युग शिखर भयंकर,
विश्व सभ्यता रुग्णः हृदय में
व्याप्त हलाहल भीषण,
अमृत मेघ भारत क्या छिड़केगा
न प्राण संजीवन?

धीर, करो भूजन हिताय व्रत धारण,
सार्थक हों युग युग के जप तप साधन,
बाँधों मानव की बाँहों में
जड़ चेतन का जीवन,
मनुज चेतना गढ़े मूल भूतों से
नव मानवपन!

विश्व सृजन का यह विनाश परिचायक,
गर्जन भरता उर में रुद्र बलाहक,
उतर रहा शत ज्वलित तड़ित
निर्झर सा युग परिवर्तन,
आज गहनतम उचेतन
भुवनों में जगता गुंजन!

मेघों के पर्वत

यह मेघों की चल भूनि घोर
बह रहे जहाँ उनचास पवन,
तुम बसा सकोगे यहाँ कभी
क्या मानव का गृह, मनोभवन?

जन जन का मन करता गर्जन
बरसातीं चितवन विद्युत् कण,
टकराते दुर्दम फेन शिखर
सागर सा उफनाता भू मन!

यह विश्व शक्तियों की क्रीड़ा
गत छायाएँ बनतीं चेतन,
जन मन विमूढ़ जिनका वाहक,
बढ़ता जाता युग संघर्षण!

पर्वत पर पर्वत खड़े भीम,
अड़ते तृष्णा, अज्ञान, अहं,
उन्मथित धरा-चेतना सिन्धु
आंदोलित अवचेतन का तम!

मन स्वर्ग-शिखर पर मँडराता
उर में गहराता नव जीवन,
वह अंतर आभा से स्वर्णिम
झरता भू पर, स्वप्नों का घन!

रूपांतर

खोलो हे, मन का अवगुंठन!
युग प्रभात में देख सकूँ मैं
नव मानव का आनन!

छिन्न करो जड़ पाश पुरातन,
भग्न रुद्ध-प्राणों के बंधन,
गत आदर्शों की बाँहों से
मुक्त करो जन जीवन!

आज शिखर सब उच्च उच्चतर
ज्योति द्रवित ढह रहे धरा पर,
रक्तोज्वल चेतना ज्वार में
नव स्वप्नस्थ दिशा क्षण!

उतर तुम्हारी आभा चेतन
नव मानव मन करती धारण,
भावी की स्वर्णिम छायाएँ
भू पर करतीं विचरण!

नव प्रकाश रेखाओं से भर
मन:स्वर्ग नव उठा अब निखर,
अंतर्वैभव से तुम निर्मित
करते नव मानवपन!

काव्य चेतना

तुम रजत वाष्प के अंबर से
बरसातीं शुभ्र सुनहली झर,
शोभा की लपटों में लिपटा
मेघों का माया कल्पित घर!

सुर प्रेरित ज्वालाएँ कँपती
फहरा आभाएँ आभा पर,
शत रोहितप्रभ छायाओं से
भर जाता तडित चकित अंतर!

सुषमा की पंखड़ियाँ खुलतीं
फैला रहस्य स्पर्शों के दल,
भावों के मोहित पुलिनों पर
छाया प्रकाश बहता प्रतिपल!

सतरंगे शिखरों पर उठ गिर
उड़ता शशि सूरज सा उज्ज्वल,
चेतना ज्वाल सी चंद्र विभा
चू पड़ती प्राणों में शीतल!

जलते तारों सी टूट रहीं
अब अमर प्रेरणाएं भास्वर,
स्वप्नों की गुंजित कलिकाएँ
खिल पड़ती मानस में निःस्वर!

तुम रहस द्वार से मुझे कहाँ
गीते, ले जाती हो गोपन,
शोभा में जाता डूब हृदय
पा स्पर्श तुम्हारा सुर-चेतन!

नव पावक

अब नव ऊषा के पावक का
पल्लवित हो रहा भू-जीवन
शोभा की कलियों का वैभव
विस्मित करता मन के लोचन!

मैं रे केवल उन्मन मधुकर
भरता शोभा स्वप्निल गुंजन,
कल आएँगे उर तरुण भृंग
स्वर्णिम मधुकण करने वितरण!

यह स्वर्ण चेतना की ज्वाला
मानव अंत:पुर की गोपन
जो कूद कूद नव संतति में
बढ़ती जाएगी नव चेतन!

वे पूर्ण मानवों का मानव
जो मन में धरता क्रमिक चरण,
वह मर्त्य भूमि को स्वर्ग बना
जन भू को कर लेगा धारण!
अब धरा हृदय-शोणित से रँग
नव युग प्रभात श्री में मज्जित,
अब देव नरों की छाया में
भू पर विचरेंगे अंत:स्मित!

नव अरुणोदय

तुम कहते, उत्तर बेला यह,
मैं संध्या का दीप जलाऊँ!
तुम कहते, दिन ढलने को अब,
मैं प्राणों का अर्घ्य चढाऊँ!

मेरा पंथ नहीं, मैं कातर
ज्योति क्षितिज निज खोजूँ बाहर,
रहा देखता भीतर, अब क्या
तथ्यों का कटु तम लिपटाऊँ!

मैंने कब जाना निशि का मुख?
पृथक् न सुख से ही माना दुख!
अंधकार की खाल ओढ़ अब
कज्जल में सन, प्राण तपाऊँ!

कभी न निज हित सोचा क्षण भर
क्यों अभाव, क्यों दैन्य, घृणा ज्वर,
अब क्या तारों के खँडहर में
नग्न व्यथा की गाथा गाऊँ!

देख दिवाकर को अस्तोन्मुख
पंकज उर होता अंतर्मुख,
युग संध्या, तम सिन्धु, ह्रास तट,
स्वर्ण तरी किस तीर लगाऊँ!

मैं प्रभात का रहा दूत नित,
नव प्रकाश सन्देशवाह स्मित,
नव विकास पथ में मुड़ मैं अब
क्यों न भोर बन फिर मुसकाऊँ!

जग जीवन में रे अस्तोदय,
मैं मानस धर्मा, अक्षय वय,
आओ, तम के कूल पार कर
नव अरुणोदय तुम्हें दिखाऊँ!

गीतों का दर्पण

यदि मरणोन्मुख वर्तमान से
ऊब गया हो कटु मन,
उठतें हों न निराश लौह पग,
रुद्ध श्वास हो जीवन!

रिक्त बालुका यंत्र,-खिसक हों
चुके सुनहले सब क्षण,
तर्कों वादों में बंदी हो
सिसक रहा उर स्पंदन!

तो मेरे गीतों में देखो
नव भविष्य की झाँकी,
नि:स्वर शिखरों पर उड़ता
गाता सोने का पाँखी!

चीर कुहासों के क्षितिजों को
भर उड़ान दिग् भास्वर,

वह प्रभात नभ में फैलाता
स्वर्णिम लपटों के पर!
दुविधा के ये क्षितिज,-
मौन वे श्रद्धा शुभ्र दिगंतर,
सत्यों के स्मित शिखर,
अमित उल्लास भरे वे अंबर!

नीलम के रे अंतरिक्ष,
विद्रुम प्रसार दिग् दीपित,
स्वप्नों के स्वर्गिक दूतों की
पद चापों से कंपित!

प्राणों का पावक पंछी यह,
मुक्त चेतना की गति,
प्रीति मधुरिमा सुषमा के स्वर,
अंतर की स्वर संगति!

उज्ज्वल गैरिक पंख, चंचु
मणि लोहित,गीत तरंगित,
नील पीठ, मुक्ताभ वक्ष,
चल पुच्छ हरित दिग् लंबित!

दृढ़ संयम ही पीठ, शांति ही
वक्ष, पक्ष मन चेतन,
पुच्छ प्रगति क्रम, सुरुचि चंचु,
कुंठित छाया भू जीवन!

हीरक चिवन, मनसिज शर से
स्वर्ण पंख निर्मम स्वर,
मर्म तमस को बेध, प्रीति व्रण
करते उर में निःस्वर!

दिव्य गरुत रे यह, उड़ता
सत् रज प्रसार कर अतिक्रम,
पैने पंजों में दबोच, नत
काल सर्प-सा भू तम!

वह श्रद्धा का रे भविष्य,
जो देश काल युग से पर,
स्वप्नों की सतरंग शोभा से
रँग लो हे निज अंतर!

मन से प्राणों में, प्राणों से
जीवन में कर मूर्तित,
शोभा आकृति में जन भू का
स्वर्ग करो नव निर्मित!

उस भविष्य ही की छाया
इस वर्तमान के मुख पर,
सदा रेंगता रहा रहस छवि-
इंगित पर जो खिँचकर!

यह भावी का वर्तमान रे
युग प्रभात-सा प्रहसित,
कढ़ अतीत के धूमों से जो
नव क्षितिजों में विकसित!

यदि भू के प्राणों का जीवन
करना हो संयोजित,
तो अंतरतम में प्रवेश कर
करो बाह्य पट विस्तृत!

वर्तमान से छिन्न तुम्हें जो
लगता रिक्त भविष्यत्-
वह नव मानव का मुख,
अंकित काल पटी पर अक्षत!

नहीं भविष्यत् रे वह,
मानवता की आत्मा विकसित,
जड़ भू जीवन में, जन मन में
करना जिसे प्रतिष्ठित!

यदि यथार्थ की चकाचौंध से
मूढ़ दृष्टि अब निष्फल,—
डूबो गीतों में, जिनका
चेतना द्रवित अतंस्तल!

लहराता आनंद अमृत रे
इनमें शाश्वत उज्ज्वल,
ये रेती की चमक न,
प्यासा रखता जिसका मृगजल!

यदि ह्रासोन्मुख वर्तमान से
ऊब गया हो अब मन,
गीतों के दर्पण में देखो,
अपना श्री-नव आनन!

आवाहन

ओ जन युग की नव ऊषाओ,
आओ, नव क्षितिजों पर आओ!
स्वर्गिक शिखरों के प्रकाश में
भू के शिखरों को नहलाओ!

आत्म मुक्त स्वर्णिम उड़ान भर,
शून्य नील के कूल पार कर,

शिखरों से समतल पर उतरो,
आगे के अरुणोदय लाओ!

महत् स्फुरण का यह नीरव क्षण,
पौ फटने के पहले का तम,
दीपित कर निशिएँ अतीत की
नव ज्वालाओं में लिपटाओ!

गीत अधजगे तरु नीड़ों में,
स्वप्न अधमुँदे उर पलकों में,
मौन प्रतीक्षा का अनंत यह,
वातायन से मुख दिखलाओ!

ओ नव युग की नव ऊषाओ,
जन मानस क्षितिजों पर आओ!

उच्च नभस्वत पथ की वासिनि,
तुहिन पंक्ति रजतोज्वल हासिनि,
धूलि धूसरित भू के मग में
विचरो, कंचन घट ढलकाओ!

ज्योतिर्मय नभ शतदल में जग,
शुभ्र पीत पंखड़ियों में हँस,
अमृत कोष भुवनों की सौरभ
जन की साँसो में भर जाओ!

शाश्वत ऊषाओं के क्रम में
नव चेतन केतन फहरा कर
तृण तरु पर, गिरि सरि सागर पर
रश्मि पंख शोभा बरसाओ!
अंध गुहाओं में प्रवेश कर

कुंठित सत्यों के सोए स्तर
प्रीति शिखाओं में प्रोज्ज्वल कर
मनोभूमि पर उन्हें जगाओ!

ओ जन युग की नव ऊषाओ,
नव विकास क्षितिजों पर आओ!

सप्त वर्ण स्मित अश्वों पर चढ़,
मरुतों के पथ पर सवेग बढ,
ज्योति रश्मियाँ निज कर में धर
भू का रथ निर्बाध चलाओ!

वस्तु तमस को दिक् प्रहसित कर,
रुद्ध दिशाओं को विस्तृत कर,
आनेवाले सूर्योदय के
मुख से तेजः पटल हटाओ!

विगत नवागत ऊषाओं में
अंत:स्मित नव स्वर संगति भर,
ओ प्राचीन प्रभातों की श्री,
नये प्रभातों में मुसकाओ!

निज असीम आभा प्रसरित कर
भावी ऊषाओं के नभ में,
विगत अनागत के छोरों पर
रश्मि सेतु बन, उन्हें मिलाओ!

ओ नवयुग की नव ऊषाओ,
नव प्रकाश क्षितिजों पर आओ!
स्वर्गिक शिखरों के प्रवाह में
भू के शिखरों को नहलाओ!

स्वर्ण मरंदों से अयि विरचित,
सूक्ष्म रजत क्षौमों में भूषित,
शत सुरधनुओं से हो वेष्टित
जन युग का अभिवादन पाओ!

ओ नव युग की नव ऊषाओ
युग प्रभात क्षितिजों पर आओ!

अंतर्ध्वनि

वीणा बोल उठी अंतर की!
नाच उठे लय में रवि शशि ग्रह,
जगी मूर्छना सी अंबर की!

मानस का आनंद नील घन
बरसाता गल पावक जल कण,
अकथनीय रस शोभा की झर
अमृत बिन्दुओं के निर्झर की!

मुक्त छंद का रे जन्मोदय
जीवन गति को मिली भाव लय,
कूलों से गाती अकूल के
गीत, लहर उठ-गिर सागर की!

मौन शांति मज्जित अंतस्तल
पावक स्पर्श हुआ हिम शीतल,
हर्ष तीर से मर्म बेधती
रहस वेदना वंशी स्वर की!

सुलगी जीवन वह्नि दिग् हरित,
कूदो, तन मन करो समर्पित,
इस पावक जल के मज्जन में
सार्थकता रे मर्त्य अमर की!

विरह दाह दुख से पीड़ित तन,
मिलन वारि सुख से पुलकित मन,
बजते निःस्वर मरकत नूपुर
बिसरी सुधि बुधि सचराचर की।

कृतज्ञता

मैं कृतार्थ हूँ, देह, तृणों के लघु दोने में
तुम मेरी आत्मा का पावक करती धारण, -
बहता सुर संगीत तुम्हारी शिरा शिरा में
जब मैं कर्म क्षुधित अवयव करता संचालन!

मैं कृतज्ञ, मन, अंधकार को टोह अनुक्षण
तुम प्रकाश अंगुलि बन करते पथ निर्देशन;
भाव, बुद्धि, प्रेरणा,-ब्राह्म श्रेणियाँ पार कर
तुम तन्मय हो बनते शाश्वत मुख के दर्पण!

प्राण, धन्य तुम, रजत हरित ज्वारों में उठकर
आशा आकांक्षा के मोहित फेनिल सागर,
चंद्र कला को बिठा स्वप्न की ज्वाल तरी में
तुम बखेरते रत्न-छटा आनंद तीर पर!

मैं उपकृत, इंद्रियों,-रूप रस गंध स्पर्श स्वर
लीला द्वार खुले अनंत के बाहर भीतर;
अप्सरियों से दीपित सुरधनुओं के अंबर
निज असीम शोभाओं में तुम पर न्योछावर!

प्रेम,प्रणत हूँ, मेरे हित तुम बने चराचर,
ज्योति, मुग्ध हूँ, तुम उज्जवल उर मुकुर अगोचर:

शांति, देह मन की तुम सात्त्विक सेज अनश्वर,
प्रिय आनंद, छंद तुम मेरे, आत्मा के स्वर!

वाणी

कहने दो, कहने दो!
शुभ्र नील से स्वर्ण स्रोत नव
बहने दो, बहने दो!

जो अव्यक्त रहा अंतर में,
मुक्त, अगीत रहा ध्वनि स्वर में,
उसे प्रतीकों ही में बिम्बित
रहने दो, रहने दो!

अमित मौन में कर रस मज्जन
हुए प्राण मन चेतन पावन,
मर्म प्रीति के स्मृति दंशन को
सहने दो, सहने दो!

अविदित पथ, अवचेतन मन बन,
श्लथ गति रथ, गति रोध अति गहन,
युग तम की पर्वत बाधाएँ
ढहने दो, ढहने दो!

अतल हरित पावक जल सागर,
भरो चेतना रस की गागर,
श्रद्धा की स्वर्णिम लपटों को
दहने दो, दहने दो!

यह न ऊर्ध्वमुख शिखरारोहण
निस्तल निश्चेतन मन मंथन,
धरा गर्त तम में निज पद तल
गहने दो, गहने दो!

विकास-क्षेत्र

स्वच्छ सच्चिदानंद सिंधु, आलोक राशि जल,
हीरोज्ज्वल शत वीचि, गुह्य मरकत अंतस्तल!
मैंने मन की तरी छोड़ दी इंद्रिय विह्वल,
रुचि स्वभाव संस्कार भरी बहु, जीवन चंचल!

निरुद्देश्य निःस्पृह यात्रा : पथ प्रीति अकारण,
कूलहीन, दिशि लक्ष्य हीन, साहसिक निदर्शन!
चिन्मय मुक्त प्रसार: अतल अस्तित्व रस गहन,
प्राणों से आनन्द तरंगित तट जड़ चेतन!

नीलम, हीर, प्रवाल द्वीप कल्पित रत्नाकर
निज अनन्य छबि से आर्किषत करता अंतर :
फालसई, धानी, मूँगी, ईंगूरी, भास्वर
रत्नच्छाय ध्वजा फहराती मणि दंडों पर!

भक्ति ज्ञान वैराग्य योग तप फिरते मूर्तित,
सुर बालाएँ विहँस पिलातीं स्वर्ग रसामृत!
लहरों की वेणी छहरा शत सुर धनु मंडित
सीप पंख स्मित अप्सरियाँ करतीं मधु इंगित!

मेरा मन उस इंद्रजाल पर हुआ न मोहित-
मैं बढ़ता ही गया गूढ़ जिज्ञासा प्रेरित -

दूर उसे उस पार दिखा पशु तम में निद्रित
मिट्टी का लघु द्वीप, क्षीण दीपक लौ कंपित!

स्वर्ण शस्य लहराते पुलकावलि-से हँसकर,
अग्नि वीर्य गर्भस्थ योनि थी रज की उर्वर!
वहाँ मांस तन था, श्रम फल था, जय विघ्नों पर,
श्रम जल का मुक्ता किरीट मस्तक पर सुंदर!
अरुण कमल अधरों पर मधु चुंबन से अंकित
नील पीत थे भ्रमर गीत पंखों पर गुंजित!
शुभ्र सरोरुह वृक्षों को कर ग्रीवा मंडित
राजहंस तिरते स्वर्णिम लहरों पर बिम्बित!

वहाँ प्रेम था, विरह मिलन था, भाव सृजन था,
हर्ष शोक था, रस था, अनुभव था, चिन्तन था!
मैंने तट पर नाव बाँध दी,-हरित विजन था;
सम्मुख फैला अमित कल्पना नील गगन था!

वहाँ साँवली ग्राम्या थी,-शैशव की विस्मय!
उलझे थे धम्मिल्ल युगों से, आँखों में भय!
वह असभ्य थी, वन्य, -हृदय था प्रेम मधु निलय,
नगरों की लघु समारंभ, प्राणों की सी लय!

दिव्य द्वीप था और नहीं वैसा सागर में,
रूप कर्म था मुख्य, सिन्धु घट की गागर में!
पथ विकास का खुला, स्वर्ग था उर गह्वर में,
निशि में शशि, स्वर्णिम प्रभात भावी अंबर में!

मुझको भाया यह प्रदेश : बोला अंतर्मन,-
"ग्राम्या का संस्कार करो, जड़ हो नव चेतन!
मूल प्रकृति संस्कृति में दृढ़ संबंध सनातन
प्रकृति खेत : कृषि संस्कृति : बीज अतल में गोपन!"

"ईश्वर दर्शन काम्य? सृष्टि ही उसका दर्पण,
भाव स्वर्ग की साध? रूप का करो उन्नयन!
क्या प्रकाश तम भिन्न? पृथक् सदसत्, जड़ चेतन?
एक गतिक्रम मर से व्याप्त अमर तक अनुक्षण!"

"प्रभु ने भू को चुना अनंत विकास क्षेत्र हित,
तुच्छ तृणों को पुष्प-मुकुट से कर वह भूषित
क्या न लुटाता निर्जन वन में मधु सौरभ नित?
पूर्ण प्रेम वह,-करुणा का ऐश्वर्य अपरिमित!"

घोंघे शंख

(सभी नहीं)

घोंघे, शंख, चाँद के टुकड़े, सीप, कौड़ियाँ.
राज मरालों से उड़ते
भावों के पर छटपटा
रिक्त कल्पना गगन में!
घोंघे ..शंख...

मोम, फूल, मेमनों,
मेंढकों, वन चूहों की
काव्य सैन्य नव देख
गीदड़ों, चीलों के सँग
भाव सहस्रों जलते बुझते
फुलझड़ियों से मन में!

रह रह तड़ित तमक उठती,
शत प्रश्न चिह्न जग, गरज
घुमड़ते सिन्धु धूम के गहरे घन में!
घोंघे...शंख...

जगमग, जगमग,
नव खद्योतों से दीपित मग
प्रतिपग,
जगमग!

बदल गई कविता की सज्जा
रक्त, अस्थि, त्वक्, मज्जा!
बिगड़ गई भावों की धज्जा,
ढीठ दीठ अब, उर में लज्जा!
सूना छज्जा!!

छाया छाँव बनी पछाड़ खा,
कुत्ता लैंडी बना हाड़ खा;
(चूहा शेर बना पहाड़ खा!)
पथ अँधियारा गलियारा बन
भटक गया, खो गहन व्यथा के वन में,
चंदा के आँगन में!

छायावादी शब्द योजना
ग्राम बोलियों का आँचल गह,
अटपट स्वर तुतला, क्या कुछ कह,
घुटनों बल चल, उठ-गिर रह-रह
फिर प्रवेश करती अनजाने
नव बचपन में!

छायावादी मुक्त कल्पना
गद्य बद्ध बन गल्प जल्पना,
शाब्दिक रँगोली सँवार कर
फूल बेल बूँटे उतार कर,
अनगिन बिम्बों को उभार कर
रचती नव अल्पना
शारदा के आँगन में!

छायावादी विश्व भावना
सृजन प्रेरणा,
धरा स्वर्ग सौंदर्य सर्जना
लुप्त हो गई, अति वैयक्तिक, अति यथार्थ बन,
कुंठा के नैराश्य वेदना भरे
अँधेरे अवचेतन में!
कहाँ शब्द संगीत आज?
(लिखने में लगती लाज!)
छंद तुक के अंकुश से ऊब
(गया हा! गज गोपद में डूब!)
अर्थ की लय में श्रवणातीत
हुआ रस मग्न शब्द संगीत!
अलंकरणों से नग्न,
कंठ स्वर कुंठा भग्न!!

कछुए सी मंथर अति मंथर
कवि प्रिया चलती पद पद पर,
छंद भाव रस को समेट कर
अपने भीतर–
सुदृढ पीठ को बना चर्म फर!

जगमग जगमग
ज्योतिरिंगणों से ज्योतित जग
पग पग,
जगमग!

बौद्धिक शिशु मत कहो किसी को!
विश्व प्रकृति से, मानवता से,
जन धरणी से नेह निभाना
(आँख लड़ाना?)
क्या संभव है?
क्यों? संभव हैं?

जब सर्वत्र निराशा, कुंठा, अंधकार का
आत्म वेदना, हीन भावना, अहंकार का
उमड़ा जग में पारिप्लव है!
घोर अनास्था का मन में मचता विप्लव है!
क्या संभव है?
बोलो,
क्या संभव है?

अब उदास मुख लगता सुंदर,
अह विषाद सुख से प्रिय बढ़कर!
आशा के गाने
जन मन अभिलाषा के कर्मठ तराने
सभी मूल्य जाने, अनजाने,
अधपहचाने,
आज नहीं रखते कुछ माने,
नहीं, नहीं रखते कुछ माने,
हम कहते, सच जानें!

तभी स्यार भेड़ियों, गिरगिटों, भेड़ों में जम,
छिपकलियों, बीछियों, केचुवों, बर्रों में रम,
जीवन की कल्पना सिसकती
बन कड़ुवाहट!
घुग्घू घबड़ाते प्रकाश से,
रेंगू रहते सरके रहते,
दिन भर
मुख पर
दे
घूँ-
घट
पट!

चैतन्य सूर्य

समय आ गया, समय आ गया,
गाओ, मन, प्रातः युग फेरी,
समय आ गया, धुँध छा गया,
बजने को जीवन रण भेरी!

समय आ गया, समय आ गया,
भीतर से बदलो अब मानव,-
भीतर से बदलो भू दानव,-
मृत्यु अंक में जन्म लो नया,
फिर पुराण हो अभिनव!
बदल रहे बाहर के जग में
भीतर से बदलो युग संभव!
प्रगति कालविंद् की चिर चेरी!

फिर से सोचो:
क्या जग, क्या जीवन, जड़, चेतन,
क्या रस, क्या इच्छा का कारण?
क्या रे प्रेय? सत्य, शिव, सुंदर?
सुख दुख, राग विराग, मृत्यु ज्वर?

सोचो फिर:
क्या आत्मा, क्या मन?
क्या ईश्वर? आनंद तत्त्व घन?
मंथन करो पुनः चित् सागर
नव प्रकाश डालो रत्नों पर!
युग युग की छाया से मुक्त
करो उर दर्पण,
मुक्त राख से करो अग्नि कण,-
सोचो : क्या हो जीवन दर्शन!

विद्युत पंखोवाले हे अणु बल के पर्वत!
बाह्य रूप जीवन का गढ़ कर
सामाजिक ढाँचे में मढ़ कर
कहाँ खोजते तुम संरक्षण?-
अंध, आत्महन्!

कहाँ शांति?-आकाश कुसुमवत्!
भू मंगल, जन अभिमत!
भीतर देखो, भीतर निर्भय,
(बाहर केवल अणु दंशन भय!)
भीतर सुलग रहा सूर्यानल
शत ज्वालागिरियों का दुर्जय!

जीवन मूल्यों का होता क्षय,
अंत: संचय होने को लय,-
भीतर युद्ध क्षेत्र नि:संशय,
अपने पर पाओ जय!

खड़ा आज जग नाश छोर पर,
धूमिल रे भावी के अक्षर!
मानस मृत कंकालों का घर,
मानव शव, भू जीवन खँडहर!

अहे बहिर्गामी युग के मन,
'भीतर से बदलो' का यह रण!
घोर बवंडर घुमड़ रहे अब
भू के उदर सिंधु में भीषण!

स्तब्ध क्षितिज, आँधी आने को,
रक्त नेत्र घिरते पावक घन,
महा रात्रि, हत प्रभ तारागण,
भू विकास का संकट का क्षण!

विश्व प्रकृति पर क्या विजयी तुम ?
झूठ! न होते क्या अंत: स्थित ?
बाह्य प्रकृतिजित आत्म पराजित,
आत्मजयी ही विश्वजयी नित!

बाहर भीतर का विरोध तम
नव प्रकाश में लीन अनामय,
वह अतिक्रम कर चुका द्वंद्व सब,
व्यर्थ खोजती बुद्धि समन्वय!

ओ स्त्रीकामी, यती, विरागी,
भीतर से बदलो जीवन, मन,
भोजन भजन भवन जन वन प्रिय,
नव चेतन को करो समर्पण!

यह अभिनव चैतन्य स्वर्ण प्रभ,
भावी अरुणोदय गर्भित नभ,—
बहिंरतर इसका प्रतीक हो,
यह भू अमृत, सुरों को दुर्लभ!

समय आ गया, समय आ गया—
    व्यर्थ न भटको बाहर
    जड़ मरु में सौरभ मृग!
    निगल न जाए तुम्हें
    नाश की निशा अँधेरी,
    मृत्यु की नींद घनेरी;—

भीतर देखो, स्वागत करो
    सूर्य का अभिनव!
    ओ युग संभव,
समय हो गया, करो न देरी!

भारत माता

(1958)

भारत माता
ग्राम वासिनी!

खेतों में फैला दृग श्यामल
शस्य भरा जन जीवन आँचल,
गंगा यमुना में शुचि श्रम जल
शील मूर्ति,
सुख दुख उदासिनी!

स्वप्न मौन, प्रभु पद नत चितवन,
ओठों पर हँसते दुख के क्षण,
संयम तप का धरती सा मन,
स्वर्ग कला,
भू पथ प्रवासिनी!

तीस कोटि सुत, अर्ध नग्न तन,
अन्न वस्त्र पीड़ित, अनपढ़ जन,
झाड़ फूँस खर के घर आँगन,
प्रणत शीश
तरुतल निवासिनी!

विश्व प्रगति से निपट अपरिचित,
अर्ध सभ्य, जीवन रुचि संस्कृत.
रूढ़ि रीतियों से गति कुंठित,
राहु ग्रसित
शरदिन्दु हासिनी!

सदियों का खँडहर, निष्क्रिय मन,
लक्ष्य हीन, वर्जर जन जीवन,

कैसे हो भू रचना नूतन,-
ज्ञान मूढ़
गीता प्रकाशिनी!

पंचशील रत, विश्व शांति व्रत,-
युग युग से गृह आँगन श्रीहत,
कब होंगे जन उद्यत जाग्रत ?-
सोच मग्न
जीवन विकासिनी!

उसे चाहिए लौह संगठन,
सुंदर तन, श्रद्धा दीपित मन,
भू जीवन प्रति अथक समर्पण,
लोक कलामयि,
रस विलासिनी!

आत्म प्रतारण

"मैंने सुना घनों को भरते
तड़ित्-दंभ दिग्-गर्जन,
देखा, फेन-श्वसित सहस्र फन
सागर का उद्वेलन !"

कला और बूढ़ा चाँद

बूढ़ा चाँद

बूढ़ा चाँद
कला की गोरी बाँहों में
क्षण भर सोया है!

यह अमृत कला है
शोभा असि,
वह बूढ़ा प्रहरी
प्रेम की ढाल!

हाथी दाँत की
स्वप्नों की मीनार
सुलभ नहीं,-
न सही!

ओ बाहरी
खोखली समते,
नाग दंतों
विष दंतों की खेती
मत उगा!

राख की ढेरी से ढँका
अंगार सा
बूढ़ा चाँद
कला के बिछोह में

म्लान था,
नए अधरों का अमृत पीकर
अमर हो गया!

पतझर की ठूँठी टहनी में
कुहासों के नीड़ में
कला की कृश बाँहों में झूलता
पुराना चाँद ही
नूतन आशा
समग्र प्रकाश है।
वही कला,
राका शशि, -
वही बूढ़ा चाँद,
छाया शशि है!

धेनुएँ

ओ रँभाती नदियो,
बेसुध
कहाँ भागी जाती हो?
वंशी रव
तुम्हारे ही भीतर है!

ओ फेन गुच्छ
लहरों की पूँछ उठाए
दौड़ती नदियो,

इस पार उस पार भी देखो,
जहाँ फूलों के कूल,

सुनहले धान के खेत हैं!
कल कल छल छल
अपनी ही विरह व्यथा
प्रीति कथा कहते
मत चली जाओ!

सागर ही तुम्हारा सत्य नहीं!
वह तो गतिमय स्रोत की तरह
गति हीन स्थिति भर है!
तुम्हारा सत्य तुम्हारे भीतर है!-
राशि का ही अनंत
अनंत नहीं,--
गुण का अनंत
बूँद बूँद में है, -

ओ दूध धार टपकाती
शुभ्र प्रेरणा धेनुओ,
तुम जिस वत्स के लिए
व्याकुल हो
वह मैं ही हूँ!

मुझे अपना धारोष्ण प्रकाश
अनामय अमृत पिलाओ!
अपनी शक्ति
अपना जव दो!

मुझे उस पार खड़ी
मानवता के लिए
सत्य का वोहित्थ
खेना है!

ओ तट सीमा में बहने वाली
सीमा हीन स्रोतस्विनियो,
मैं जल से ही
स्थल पर आया हूँ!

गीत-खग

ओ अवाक् शिखरो,
भू के वक्ष-से उभरे,
प्रकाश में कसे,-
दृष्टि तीरों-से तने,-

हृदय मत बेधो,
मर्म मत छेदो!

कौन रहश्चंद्र था
क्षितिज पर,
कैसा तमिस्र सागर?
कब का उद्दाम ज्वार!

धरती के उपचेतन से
उन्मत्त हिल्लोलें उठ
अँगूठे के बल
खड़ी की खड़ी रह गईं!

नील गहराइयों में डूबी
मन की
अवाक् ऊँचाइयों पर
शुभ्र चापें सुन पड़ती हैं!

फालसई सोपानों पर
ललछौंहे पग धर
उषाएँ उतरती हैं!
ओ स्वर्ण हरित छायाओ,
इन सूक्ष्म चेतना सूत्रों में
मुझे मत बाँधो!
मैं गीत खग हूँ,
उड़ता हूँ,-
ज्योति जाल में
नहीं फसूँगा!

ऊँचाइयों को
समतल में बिछा,
गहराइयों को
समजल में डुबा,
इंद्रधनुषी तिनकों का
नीड़ बसा
कलरव बरसाऊँगा,-

नील हरी छाँहों में छिप
स्वप्नों के पंख खोल
धरती को सेऊँगा!

पादपीठ

तुम
किरणों के मुक्ताभ प्यालों में
सुनहली हाला लाई हो!-
मेरा हृदय शुभ्र पद्म सा खिल उठा है!

उसमें चंद्रकला ने
अंतः प्रेम का
रूपहला नीड़ बना लिया है!
पिघली आग सी हाला
नहीं पीएगी
वह, अमृत पीती है!

ओ! सुनहली किरणो,
तुम्हारा स्वागत करता हूँ,
तुम ज्ञान नील गवाक्ष से
मुझ पर बरसती रहो!

यह हीर रश्मि
चंद्रकला
परात्पर ज्योति है!
उसे मेरी
अंतर रचना करने दो,
वह अनन्य प्रेयसी है!
तुम
अपने वैश्व ऐश्वर्य से
मेरे तन मन सँवारो,-

तुम्हारे स्वर्णिम पंखों पर
मैं अनंत शोभाओं के
निःसीम प्रसारों में विचरण करूँ!
नव प्रभात का दूत बन सकूँ!

यह शुभ्र चंद्रकला
रजत पावक का कुंड है!
अचेतन काले सिन्धु में
इसकी असंख्य लपटें
कूद पड़ी हैं!
प्रेम, आनंद और रस का रूप बदल गया है!

हृदय
शांति की स्वच्छ अतलताओं में
लीन होता जा रहा है!
विश्व कहाँ खो गया है!
देश काल? जन्म मरण?
ओ चंद्रकले,
केवल अमृतत्व ही अमृतत्व
अनिर्वचनीय
अस्तित्व ही अस्तित्व
शेष है!

मेरी पाद पीठ
अंधकार है,
जहाँ तुझे
खड़ा रहना है!

अवरोहण

मेरी दुर्बल इंद्रियाँ
तुम्हारे आनंद का उत्पात
नहीं सहेंगी,-
उन्हें वज्र का बनाओ!

तुम्हारा आनंद
समुद्री अतिवात है,
मेरे रोम रोम
दिशाओं में शुभ्र अट्टहास भर
जग की सीमा से टकराकर
मंथित हो उठते हैं!

मन के समस्त दुर्ग
यम नियम की दीवारें
टूट कर
छिन्न भिन्न हो गईं!

तुम्हारे उन्मत्त शक्तिपात की
रति क्रीड़ा के लिए
मेरी कोमल तृणों की देह
लोट पोट हो
बिछ बिछ जाती है!

तुम कामोन्मत्त
प्रेमोन्मत्त पगों से
उसे रौंद कर
जीवन विह्वल
बना देते हो!

सौ सौ अग्नि लपटों में उठ
मेरी चेतना
सजग हो उठती है!
तुम्हारा विद्युत् आनंद
भाव प्रलय मचाकर
नई सृष्टि करता है!

वरदान

सीमा और क्षण को
खोज कर हार गया,
कहीं नहीं मिले!

ओ निःसीम
शाश्वत,
मैं रिक्त और पूर्ण से
शून्य और सर्व से
मुक्त हो गया!

जहाँ कुछ न था,
कुछ-नहीं भी न था,
उसके गवाक्ष से
स्वतःही
सुनहली अलकों से घिरा
तुम्हारा मुख दिखाई दिया!

तुम्हारी अमित स्मिति से
शोभा, प्रीति और आनंद
स्वयं उदित हो गए!

अकूल अतल शांति
साँस लेने लगी,
जिसके
उठते-दबते वक्ष पर
स्वर्ग मर्त्य मैत्री के
दो अमृत गौर कलश
शोभित थे!

तुम्हारे सर्वगामी
सहज स्थिर
रश्मि चरणों पर
दिशा काल
ज्ञान शून्य पड़े थे!

देन

काल नाल पर खिला
नया मानव
देश धूलि में सना नहीं!

समतल द्वंद्वों से ऊपर,
दिक् प्रसारों के
रूप रंग
गंध रज मधु
सौम्य पंखड़ियों में सँवारे,
हीरक पद्म!

एक है वह
अंत:स्थित
बाह्य संतुलित,
भविष्य मुखी
रश्मि पंख
प्राण विहग, -
सूर्य कमल!
वह काल शिखर
देख रहा,
बहिर्देश
बहिर्जीवन
सीमाओं के पार, -
इतिहास पंक मुक्त !

अंत: प्रबुद्ध
बहि: शुद्ध,
पूर्व पश्चिम का नहीं,
काल की देन

अत्याधुनिक
अंतर्विकसित
चैतन्य पुरुष,
ज्योति पद्म!

सिन्धु-मंथन

मंथन कर
आत्म मंथन,-
ओ सागर,
ओ मानस,
ओ स्वाधीन देश,
अंतर मंथन कर!

उत्ताल भुजंग तरंग जगें
शतफन फेन दंश
फूत्कार भरें!-
आँधी तूफान उठें
बिजली और वज्र
कड़कें!

तेरा कालकूट और अमृत
बाहर निकले,-
लक्ष्मी काली
रंभा सूर्पनखा,
कौशल्या कैकेयी-

तेरे दुर्गन्ध भरे मन की
कीचड़ में डूबी

तेरी आत्मा
बाहर निकले!

ओ दंत हीन बूढ़े अजगर,
भय संदेह घृणा की
विद्वेष भरी अँधेरी खोह से
बाहर आ,-

ओ आत्म पराजित,
एक बार क्रुद्ध होकर
अपनी आरीदार पूँछ
समस्त बल से
धरती पर मार--
फटकार-

पुरानी केंचुल झाड़!
नया यौवन
तेरी प्रतीक्षा में खड़ा है।

ओ गुप्त द्रोही,
रीढ़ के बल रेंगना छोड़,
ऊर्ध्व मेरु बन!
नई भूमियाँ निखर आई हैं,-
अपनी झूठी मणि फेंककर
मुक्त नील तले
स्वच्छ वायु में बिहार कर!

ओ आलस्य प्रमाद के
निरुद्यमी
राम चाकर काल सर्प,
दर्शन विष दंत,

श्रद्धा के गरल,-
परंपरा के बिल से निकल,
आत्म वंचना छोड़!
छो....ड़!

पूर्व स्मृति

'नव्य कल्प का आदि काव्य यह अनगढ़,'
वन्य कला-मृदु फूल शूल सँग गुंफित,
सिंह-नाद, कोकिल स्वर-पावक व्यंजक,
नव भू-मानव चरणों पर रस अर्पित!

शब्द रत्न वह कौन? वर्णमाला का
ज्योति-तरल, उर में श्रद्धा-गुण दोलित,
नाम-नींव ध्रुव, रूप-हर्म्य जिस पर स्थित,
नव कल्पों में नवल गुणों में विकसित!

मानव उर, युग सागर का मंथन कर
नव रत्नों से करो ज्ञान पथ दीपित,
दूर, पूर्व पश्चिम के दिग् छोरों पर
इंद्रधनुष स्मित प्रीति सेतु कर विरचित!

भारत चेतस् को कर लोक समंवित
भू-जीवन की ओर करो रत, अ-विरत,
वह विरक्त, जीवन निषेध विष मूर्छित,
जाति पाँति,मृत रूढ़ि रीति से श्री-हत!

पर-भाषा, पर-संस्कृति ओढ़े युग से,
अंतर-गौरव-शून्य, सिद्ध शुक पंडित,
मनोयंत्र निष्क्रिय, पर-धी संचय प्रिय,
बहिरंतर के दैन्यों में शत खंडित!

स्वर्ण सूत्र में, कविते, गूँथों जन मन
युग वाणी में नव मानस कर निर्मित,
हो कृतार्थ जन जीवन मन का अनुभव
निज भाषा में, भाव-कोष पा अतुलित!

जग जीवन के तत्वों को चुन धुन कर
प्रमुख वृत्तियों की पूनी कर निर्मित,
कथा सूत्र बँट, बुनो लोक जीवन पट,
मानव उर कर नव भू गरिमा मंडित!

छंद ग्रथित कर खंड धरा मानस को
जीवन रचना करो, तंत्र में नूतन,
शतियों के मृत संस्कारों से मर्दित
पृष्ठ वंश हो मानव का नव चेतन!

जिसको वेधा ऊर्ध्व-प्राण-शर हर ने,
स्मर ने सहज नवाया मधु सायक धर,
जिसे राम ने उभय छोर अतिक्रम कर
किया प्रीति-नत धरा चेतना को वर!

मनुज मेरु को परिवादिनी बनाकर
सप्त तार कर सप्त लोक के झंकृत,
अभिनव स्वर लिपि रचो विश्व जीवन की
प्राण,अनाहत पर रह स्वतः प्रतिष्ठित!

रश्मि करों से छू उर के तारों को
पद्म पद्म पर कर तंद्रिल अलि मुखरित,
अन्तः सुख स्पर्शों से अमृत स्फुरण भर
लोक चक्र में करो स्वर्ग मधु संचित!

कैसे कह दूँ इड़ा लुब्ध युग मनु से
श्रद्धा सँग वह करे मेरु-नग रोहण,

आत्मबोध की निष्क्रिय समरस स्थिति को
जन भू-पथ पर करना सक्रिय विचरण!

आज, सर्प-मुख से मणि छीन-अधोमुख
अवचेतन पथ करो, चेतने, ज्योतित,
चित्रकूट से नीचे धरा कुहर में
उतर, अचेतन तिमिर जहाँ चिर निद्रित!

उटज गुहा में कौन वहाँ अंत: स्मित
स्वर्ग शिखा सी भेद रही पर्वत तम,
यह निश्चेतन भुवन धरा मानस का
अगणित सर्पों-सा गुंफित भव गति क्रम!

यहाँ सेष शय्या पर धरती सोई,
कालिय कुंडल से वेष्टित इंद्रासन,-
स्वर्ग शुनी, लो, भूँक ऊर्ध्वमुख, युग के
कवि का करती पूँछ हिला अभिवादन!

कौन मौन वह ? अपलक, पूर्व स्मृति सी,
सृष्टि स्वप्न सी निशि पलकों पर अंकित,
अमा निवर्तित प्रतिपत् शशि लेखा सी
सत्य-मूल नव आस्था अंकुर सी सित!

लोक प्रीति में मूर्तित तन्मयता सी,
आदि शक्ति सी, नित नव, स्वयं प्रकाशित,
सुरधनु पट में लिपटी शुभ्र किरण सी
कौन ज्योति शाश्वत निशीथ में जागृत!

भू घट की चेतना सुधा धारा सी
तन मन प्राणों के भुवनों में वितरित,
नील शून्य में पद रज हरित धरा को
सप्त सिन्धु जल से रखती जो सिंचित!

अप्रकेत तम! ज्योति शिरा सी पैठी
अंध गहनताओं को करने दीपित,
जड़ से जीवन में, जीवन से मन में
विकसित करने निज चैतन्य अपरिमित!

अंधकार के निबिड़ मंच पर जैसे
चन्द्रकला रह सकती नहीं तिरस्कृत,
शत ऊषाओं, शत सुरधनु वृत्तों से
आवृत सी वह, करती दृष्टि चमत्कृत!

ध्यान मग्न : अनिमेष, मौन, नत चितवन,
नील कमल दल मुँदते जाते प्रतिपल,
युग संध्या के घने सुनहले तम-से
कंधों पर लहराए कोमल कुंतल!

पूर्ण चन्द्र मुख, गत भू जीवन लांछन
भाल मुकुर पर शोभित बन स्मृति कज्जल,
युग प्रभात सी, अर्द्ध खुले क्षितिजों पर
ज्योति-रेख मानस की स्मिति मुक्तोज्ज्वल!

शुभ्र पयोधर, प्रीति सिन्धु शिखरों-से
स्वर्ग मर्त्य के मधु उभार-से स्पंदित,
जीवन मूल्यों की अमूल्य मणियों से
वक्ष हार अक्षय प्रकाश से मंडित!

रागोज्ज्वल कंचुक चंपक देही में
शरद उषा लिपटी हो हिम शिखरों पर,
पीत क्षौम का मसृण भार अंसों से
झरता स्वर्णिम ज्योत्स्ना का-सा निर्झर!

बाहु लताओं में वह सहज समेटे
भू जीवन की करुणा ममता निःस्वर,

प्रेम गौर हो डोर, छोर युग हों भुज,
राग सूत्र मृदु कर-मुख, स्पर्श मनोहर!

मोड़ सुघर घुटने, बैठी वह निश्चल,
शुभ्र श्रोणि जघनों से धन्य कुशासन,
कनक कौश पट बाँधे कृश कटि तट पर
धरे चिबुक करतल पर, स्थिर नत आनन!

स्वर्ण हरित मखमली शस्य से आवृत
अधोभाग,- भू के प्राणों का जीवन,
धरती की हो हरी ज्वाल में लिपटा
गंध मरंद सना अनंत मधु यौवन!

मर्त्य शूल पदतल छू, फूलों में हँस,
लोट रहे चरणों पर बन कल पायल,
धरा स्वर्ग की उपमा सी वह जीवित,
भावी मधु-शरदों से सुरभित आँचल!

चिन्तनपर मुख, वाष्प-द्रवित शशि मंडल,-
सुलग उठे हों स्मृति में पावक के क्षण,
घूम रहा स्थिर नयनों में गंगा तट,
गूँज रहा श्रवणों में दारुण रथ स्वन!

वह सुमंत्र क्या? एँ, रोते क्यों देवर?
परित्याग? परिहास मत करो जड़ मन!
वन क्रंदन सुन रुका शिखी का नर्तन,
भूल गए तृण चरना स्तंभित मृगगण!

मूर्तिमती पृथ्वी की करुणा-सी वह
गिरी विमूर्च्छित, व्यथा मथित, वज्राहत,
आत्म बोध जब जगा, दैव द्रष्टा मुनि
करते थे बाल्मीकि स्नेह से स्वागत!

अनघे, तुम निर्दोष ज्ञात रघुवर को,
पूतयोनि, रटते तरु मृग, खग गिरि वन,
अंध, अविकसित, संशय-रत जन-भू मन,
अविश्वास ही धरा-नरक का कारण!

जनरव भय से राघव ने पत्नी को
छोड़ा था क्या? कथा पुरातन रे यह,
आई थी वह अग्नि परीक्षा देने,
जन-भू का दुख भार झेलने दु:सह!

यह इतिहास न हो तथ्यों पर कल्पित,
भारत भू मानस का सत्य सनातन,
देश काल पुलिनों को रहा डुबाता,
यहाँ चेतना के जीवन का प्लावन!

राम राज्य की रानी थी जन सेवा,
राजा भी करता जन-मत का पालन,
क्रौंच शोक के पुण्य-श्लोक कवि ऋषि के
तमसा तट आश्रम में अब वह पावन!

सहसा स्फुरित हुआ स्मृति पट पर,-कैसे
धरा गर्भ में वह संतप्त समाई,-
लोक कार्य करना था उसको गोपन
अवचेतन में रही तमिस्रा छाई!

मर्त्य दैन्य पीठिका स्वर्ग जीवन की,
रह न सकेगी ज्योति तिमिर में गुंठित,
संशयशील स्वभाव धरा की रज का
श्री स्वर्णिम आस्था में होगा कुसुमित!

स्पर्श चेतना-कर का पा करुणोज्ज्वल
चिर विकास पथ में जन धरणी का तम,

राग द्वेष, हिंसा स्पर्द्धा, संघर्षण
भू जीवन अरुणोदय के लघु उपक्रम!

उसे स्मरण था, कैसे निर्वासन सुन
विहँसा आत्म प्रबुद्ध गुह्य उसका मन,
जल-जलार्द्रता से जो नित्य अखंडित
उन्हें बिलग कर सकते कब भंगुर क्षण?

उदय हृदय में हुए राम पुरुषोत्तम,
दीप्त नीलमणि पर्वत-से दृग् मोहन,
बोले विचलित-सी लगती तुम, सीते,
भूलो बीती को, गत वृत्त समापन!

मृत संस्कारों का उपचेतन भू-मन,
चिर अनादि जड़ चेतन का संघर्षण,
नव प्रकाश में गढ़ना तुम्हें धरा-मुख,
भावी मानव के सम्मुख भीषण रण!

चेतन ही जड़, जड़ ही चेतन, जीवन,
बूझ न पाती सूक्ष्म तत्व तार्किक मति,
मन ही बाहर स्थिति, स्थिति ही भीतर मन,
ह्रास विकासमयी गुण की गति, परिणति!

राज्य तंत्र का सूर्य क्षितिज में ओझल,
राम राज्य था कृषि-मन का युग दर्पण,
गत युग के जीवन मन के संचय को
जगद्धात्रि, लो, करता तुम्हें समर्पण!

देखोगी तुम लोकतंत्र स्वर्णोदय,
मानव जीवन मूल्यों का नव वितरण,
नए कल्प की प्रसव व्यथा पृथ्वी की,
छिड़ा निशिल जग में बाहर भीतर रण!

रहा मनोमय पुरुष रूप वह मेरा
कृषि-युग की मर्यादा से निर्धारित,
खेत इकाई था, कुटुंब का जीवन
जिसकी जड़ सीमा पर था आधारित!

धर्म नीति, संस्कृति विचार, विधि दर्शन,
विविध शास्त्र, बहु यज्ञ, नियम व्रत साधन,
शासन पद्धति, चतुर्वर्ण, चतुराश्रम
अर्पित तुमको गत गुण कर्म विभाजन!

हँसी जानकी,-राम, तत्व ज्ञाता तुम,
स्वीकृत मुझको यह सर्वस्व समर्पण,
नाम रूप गुण से अतीत स्थित मुझमें
बनो पुनः, प्रिय, नए कल्प के दर्पण!

अवचनीय अयुगलता, प्रेम, हमारी
नहीं समझता भेद बुद्धि रत जन मन,
वहीं जानता, जिसे जनाते, प्रिय, तुम
गुह्य रहस्य परम वह, कहते धी-जन!

प्रभु सोए थे जगे, कौन कह सकता?
जगे परम यदि, मुझमें जगे असंशय,
देखी मुझमें ही निज महिमा गरिमा,-
भाव रूप लीला भर शेष,-न विस्मय!

पुरुषोत्तम सौवर्ण राम, नव रवि-से
विश्व क्षितिज पर पुनः परम श्री शोभित,
चित् सलिलों में फुल्ल सूक्ष्म मधुरस मय
स्वर्णिम भू हृत्-कमल मौन दिक् प्रहसित!

तुम अनंत चैतन्यों के मणि पर्वत
शत शत सुरधनु आभाओं से मंडित,

भगवत् करुणा के कोमल मरकत घन,
जन-भू दुख से उर मुक्ता-जल विगलित!

सौम्य, चाप-शर हीन,खड़े दृग सम्मुख,
आँखों को नव विश्व रूप देता सुख,
जन समूह में श्रम-प्रिय साधारण-से
देख रही तुम में, नव मानव का मुख!

राजा थे तब, सर्व एक में पूजित,
लोकतंत्र अब, सब में सहज प्रजाजन,
बँधा चेतना मुकुल एक मुख था जो
आज खिल उठा वह, सहस्र दल बहु बन!

विश्व रूप भगवत् सागर तुम जन प्रिय,
वृत्त छोर भर जिसके व्यक्ति परात्पर
अभिव्यक्ति पाता तुम में जग जीवन
भाव लहरियों में उच्छ्वसित निरंतर!

सच कहती तुम बोध-स्वरूपे, सीते,
विश्व रूप ही में होता मैं विकसित
लोक कर्म में रत अजस्र जो मानस
वे जीवन-शिल्पी मेरे प्रिय जन नित!

मध्य युगों से विरत, शून्य में खोए
मनुज खोजते मुक्ति कर्म बंधन से,
सर्व मुक्ति ही व्यक्ति मुक्ति, मेरा मत,
प्राप्त सतत जो विश्व-यज्ञ साधन से!

भव विभीत जन, जन्म मरण से पीड़ित,
मूढ़, मुंड-मत, व्यक्ति-परक, जीवन-मृत,
विमुख बृहत् सामाजिक जीवन के प्रति
कर्म भूमि में रह सकते कब जीवित!

परम तत्व अद्वैत हमारा अविगत
जहाँ दृष्टि मति वृत्ति न वाणी जाती,
अपने को मैं, प्रिये, देखता तुममें
तुम अपने को मुझमें केन्द्रित पाती!

अविज्ञेय का बोध न मन से संभव
नेति बुद्धि की खोज, अनिर्वच अद्वय
पूर्ण समर्पण, कर जीवन मन तुमको
जन-भू रचना करें लोक गण निर्भय!

तुम्हें करें नित व्यक्त विश्व जीवन में
प्रति युग में भू स्वर्ग बने सुंदरतर,
देवि, तुम्हारे ही शत कर-पद सुर-नर
सृजन कर्म जन तुम पर करें निछावर!

अमिट अभीप्सा तुम श्रम-रत भू-मन की
जिसकी स्वर्णिम पूर्ति लोक रूपांतर,
मैं निमित्त भर, तुम्हीं अविद्या विद्या,
जिसमें सोते जगते निखिल चराचर!

दिए नए साधन तुमने भू जन को
विश्व क्षितिज पर हँसता स्वर्ण युगांतर,
सफल तुम्हारी महत् साधना, सीते,
जड़ भू-तम विज्ञान-रश्मि से भास्वर!

प्रिये, अचेतन में प्रवेश कर तुमने
दी वैज्ञानिक दृष्टि अंध भू-मन को,
जड़ जग का विश्लेषण कर देखें नर
एक शक्ति शासित करती त्रिभुवन को!

युग-युग से निष्क्रिय जड़ भू जीवन स्थिति
हुई विश्व-सक्रिय पा नव संजीवन,

युक्त प्रकृति बल से अब भौतिक मानव
नए स्वर्ण युग में कर रहा पदार्पण!

ध्वंस न ढा दे, वह लघु स्वार्थों में रत
अणु बल का कर धरणी पर आवाहन,
भेद-बुद्धि पर जय न पा सका भू-मन
विश्व ऐक्य ही सृजन-मुक्ति का साधन!

निखर रही मन के सागर से धरती
देशों के खंडों में राष्ट्र विभाजित,
शुभ्र सुनहले संबंधों पर निर्मित
नव मानवता धरा-स्वर्ग पर स्थापित!

अंतश्चेतन वर्तमान जो, प्रेयसि,
भू स्तर पर वह भावी में संपादित,
भगवत् क्षण में महत् कर्म घटते नित,
ब्रह्म दिवस होता कल्पों में साधित!

देख रहा मैं मनश्चक्षु के सम्मुख
जन भविष्य का स्वप्न तुम्हारा उज्ज्वल,
चूम रहा नत स्वर्ग मुग्ध भू पद तल,
विहँस रही जड़िमा बन चेतन मंगल!

नई चेतना सुधा प्रीति-स्वर्णिम तुम
नई पात्रता देनी अब जन मन को,
आत्मा इंद्रिय बीच भेद तम भ्रम हर
स्वीकृति देनी पूर्ण जगत जीवन को!

आदि शक्ति, अंसों से स्वर्णांचल सा
झरता काल प्रवाह अकूल तरंगित,
धूपछाँह सूत्रों में मानव जग का
क्रम विकास लीला विलास में गुंफित!

मूल प्रकृति तुम, धरा योनि में धँसकर
अनघ-विद्ध रह, मुक्त-प्रीति, आत्मस्थित,
करुणा स्पर्शों से जड़ भू-मानस के
अंध स्तरों को करती रही प्रकाशित!

बदल रही तुम, बदल रहा तुम में जग,
निर्विकल्प भूमिजा तत्त्वतः निश्चित,
भाव बोध, आचार-विचार पुरातन
नव भू जीवन-प्रतिमा में नव सर्जित!

खोल रही तुम गत सज्जा रुचि मंडन,
मुक्त हो रहे मृत मर्यादा बंधन,
तुम अरूप, नव युग दर्पण में बिम्बित
ज्ञात मर्म द्रष्टा-कवि-ऋषि को गोपन!

तुम्हें समझना चाहे यदि भूजन मन
तद्गत,-व्यक्त जगत को कर दे विस्मृत,-
देखे मुझमें, देश-काल से पर तुम
नाम रूप गुण, देश-काल में भी स्थित!

ध्यान लीन उर में ज्यों भगवत् करुणा
इष्ट रूप धर होती सहज उपस्थित,
उदित हो रही तुम अंतः शिखरों पर
सुमुखि, उषा सी, नव सुषमा में मंडित!

जन आशा की संजीवनी लता में
अग्नि प्ररोह खिला हो कनक तपोज्ज्वल,
देख रहा, तुम धरा कक्ष के तम में
चंद्र कला सी उग बरसाती मंगल!

चंद्र कला क्या सही? पार्श्व मुख शोभा
अभिनव आभा रेखाओं में अंकित,

फूलों का प्रिय धनुष खिंचा तनु छवि का,
मर्म भिंगोते रस के शर मधु विरचित!

लो, ये अनुज-वधू छाया-से पीछे,
लक्ष्मण, सीता राम,-पूर्ण रामायण,
चक्र भरत, आदर्श महत् कृषि युग के,
माँ कैकेयी कटु सापत्न्य निदर्शन!

दो माताओं के प्रतिनिधि हम भ्राता
हनुमत् प्राणों के अजेय पौरुष कण,
पिता सत्यव्रत नृप, विदेह मानस स्थिति,
निशिचर, वनचर युग के क्रूर समापन!

अहं वृत्ति रावण, लंका दुर्मति गढ़,
विषय वप्र, बंदी चिति इंद्रिय वन में,
मुक्त हुई तुम, मिटा अविद्या भय तम,
हनुमत् प्रेरित जगी चेतना जन में!

प्रति युग की निर्मम विकास सीमाएँ
भगवत् सत्ता होती सदसत् खंडित,
मुझे मारना पड़ा रक्त विष दशमुख,
तुम्हें हृदय परिवर्तन जन का स्वीकृत!

सोने का मृग रहा मूक नारी के
मन से पावन रज तन का मूल्यांकन,
लक्ष्मण रेखा सीमा घर आँगन की,
लीक लाँघना लोक दृष्टि का लांछन!

धनुष भंग थी विगत सांस्कृतिक घटना
युग-युग से बिछुड़े थे दक्षिण-उत्तर,
रुद्र विष्णु का शिव में हुआ समन्वय,
गला शिला उर, हुई अहल्या उर्वर!

सीता जन भू हृदय, राम जन के बल
नर चरित्र धर, मानस पात्र अनश्वर,
प्रीति प्रणत लक्ष्मण अनंत पौरुष बल,
शील मूर्ति ऊर्मिला विरह रस गागर!

यह रूपक संक्षिप्त, प्रिये, गत युग का,
काल चक्र हो रहा कल्प-परिवर्तित,
मूक ऊर्मिला के सहृदय आँचल में
नव युग स्वप्न करो तुम लीला गुंफित!

त्याग शुभ्र ऊर्मिला स्फटिक रस पात्री,
स्नेह दुग्ध घट सौम्य सुमित्रानंदन,
सृष्टि मंच की निरुपम नटी, प्रिये तुम,
रचो भूमिका-मानवता की नूतन!

अनघे, तुम्हीं धरा निशीथ में घुसकर
जड़ को चित् में कर सकती युग दीपित,
नई ज्योति में देख रहा अब तुमको
तुममें भावी जन-भू मंगल मूर्तित!

प्रिये, दाशरथि वैदेही ही क्या हम?
परब्रह्म मैं, पराशक्ति तुम सुविदित,
सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वगत, शाश्वत,
बहुरूपों में भी हम एक अखंडित!

सहसा उज्ज्वल इंद्रधनुष मंडल स्मित
नील मध्य चित्- रश्मि व्यूह दिक् स्फूर्जित
प्रकट हुआ अभिनव श्री सूक्ष्माकृति में,
स्वर्ण शुभ्र हो नई चेतना शोभित!

दिव्य रंध्र से हुए राम अंतर्हित, -
बोले लक्ष्मण, पुलकित अपलक लोचन,

मुझे तुम्हीं सर्वत्र दीखती, जीजी,
धन्य आज का अंतर्दर्शन का क्षण!

स्वर्णिम छाया-सा भुवनों का जीवन
रजत चेतना पट में हो चल चित्रित, -
तुम आद्यंत रहित, अनन्त जगधात्री,
बिन्दु बिन्दु में अगणित सिन्धु तरंगित!

चिन्मुक्ता तुम, अमृत प्रीति अणु,-जिसमें
ये असंख्य ब्रह्मांड लोक ग्रह प्रसरित,
दिशा काल, नीलिमा, सिन्धु जल, पावक,
हरित धरा रेशमी समीरण परिवृत!

ऊपर ज्योति अरूप, अंध नीचे तम,
रश्मि सेतु दिव में शत अज हरि हर स्थित,
जड़ से तृण, कृमि, खग, पशु, नर,सुर वर तक
छहरा दीप्त सृजन सोपान अपरिमित!

जहाँ अगोचर तुम, सापेक्ष जगत के
वहीं दुःख सुख, पाप पुण्य,आभा तम,-
चिदानंद रस की लय में बँध जाते
तुम में कर भव-द्वंद्व भेद निज अतिक्रम!

मन से ही जाना जन ने जीवन को,
प्राणों से छूँ भोगा तन नें सुख दुख,
भेद न पाए भव का भगवत् आशय,
चीन्ह न पाए चित् प्रकाश में भू-मुख!

तुम्हीं अचेतन जड़ में, देवि, निवर्तित,
प्राणों में प्रहसित, मानस में दीपित,
हृदय कमल में स्थित, आत्मा में केन्द्रित,
युग-युग में चैतन्य ज्योति में विकसित!

कनक शुभ्र तुम, सतरँग-प्रभ सीपी में
हँसता हो स्वर्णोज्ज्वल सित मुक्ताफल,
हरित स्वर्ण, स्मित पारिजात पुष्पों से
शोभित हो वन श्री का मरकत करतल!

ज्ञात तुम्हें मन के रहस्य सब, भाभी,
ऊर्मि सहित लक्ष्मण का जीवन अर्पित,
सम्मोहन वश जीवन उन्मुख जन मन,
यंत्र मात्र हम, प्रीति श्वास से जीवित!

चिन्तित हो उठता रह-रह मेरा मन-
कभी स्वर्ग होगा क्या यह भू जीवन?
जहाँ छोड़ आए थे हम भू मन को
वहीं पड़ा वह, कल्प न बीते हों क्षण!

वही स्वार्थ, कटु राग-द्वेष जन-मन में,
दु:ख दैन्य, स्पर्द्धा, हिंसा, पर-लांछन
काम, क्रोध मद, लोभ मोह, भय संशय,
सावधान करते जिनके प्रति बुधजन!

एकांगी भौतिक गति से भय जग को
जुटते भीषण अणु विनाश के साधन,
बँटा विपक्षी शिविरों में स्थापित बल,-
जीवन सुख-सर्जन बनता संघर्षण!

कमी महत् युग-मूल्यांकन में निश्चित
बाह्य, नहीं अंतर्प्रकाश में निर्मित,
इह पर, स्वर्ग नरक भय में खंडित जन,
भौतिक आध्यात्मिक जग में न समंवित!

नहीं जानता, विधि को क्या कुछ स्वीकृत
एक रोग के सौ निदान जन सम्मुख,

महा मरण फन खोले फण मणि जन युग
विषम न हो जाए भव-व्याधि, -मुझे दुःख!

धीर वीर मेरे प्रिय देवर लक्ष्मण,
ज्ञात मुझे, वे जीवन गति से परिचित,
उन्हें सालता जन मन का घायल दुःख
उनके स्वर में मेरा आशय मुखरित!

कर्म क्षेत्र भू जीवन, जिसका गुण मन,
सूक्ष्म निरीक्षक यंत्र, नहीं संचालक,
कर्म चेतना के प्रकाश में जन को
गढ़ने नव आदर्श क्षेम-सुख पालक!

गत मर्यादाएँ भी थीं कृति दर्पण
जिनमें बिम्बित था कृषि जीवन का मुख,
जकड़े हुई मनुज आत्मा को पिछली
छायाएँ, मृत भाव बोध, स्मृति सुख दुःख!

भावों की नावों पर पार न होगी
दिशा शून्य जन भावी भव सागर पर,
प्रबल ज्वार उठ रहा लोक जीवन में
कर्म-पूर भू-गर्तों को देगा भर!

भाव कर्म में जहाँ संतुलन हो ध्रुव
वहाँ दिशा में करती नित संचालित,
स्थूल सूक्ष्म, जड़ चेतन धर्मों से ही
करती जीवन में समग्रता स्थापित!

काल कराल खड़ा जग के सिरहाने
झूल विपद् में पैन्ग भरेगी भव गति,
बैर भुलाएँगे सम छल बल के अरि
अति संकट में जब उठती सोई मति!

अंतरतम की आस्था मैं भू मन की
युद्ध शांति में शांति चुनेगा जन मन,
दनुज ध्वंस से मनुज सृजन होगा प्रिय,
मरघट से प्रिय स्त्री-शिशु स्मित घर आँगन!

उबल रहा विद्रोह, उर्मिला बोली,
भगवत् जीवन भू जीवन में कब ते
भित्ति खड़ी दुर्बोध भेद की दुर्गम,
बंध्या भू सींची हमने प्राणों से
बालू में बोए जप तप व्रत संयम!

शोध सत्य, परिणाम रहे दिग् भ्रामक,
तत्व नित्य, उपयोग अलीक, असंगत,
मूर्त न कर पाए जीवन में उसको
मन जिसको पा रहा ध्यान में तद्गत!

धुनते आए गत संस्कारों का मन,
उसे मान युग-युग से सत्य सनातन,
बुन न सके जन धरा-स्वर्ग जीवन पट,
बट न सका सूत्रों में वाष्पों का घन!

व्यक्ति मुक्ति के सर्प-पाश में फँसकर
कर्म पंगु, मर गया जाति गत जीवन,
शुष्क प्राण रह गए रिक्त मति पंजर
इंद्रिय रचना वंचित सामाजिक जन!

जड़ से पर चैतंय तत्व तक हमको
निर्मित करनी सत्य श्रेणि युग विस्तृत,
अर्थ काम सँग धर्म मोक्ष, इह सँग पर,
व्यक्ति विश्व सँग ईश्वर कर संयोजित!

ज्योतिर्मय व्यक्तित्व जगत में पूजित,
बुझी चिनगियों से निष्प्रभ साधारण,

वन फूलों-सी हँसमुख दिङ मानवता
उग न सकी,-चैतन्य शून्य भू-प्रांगण!

ज्योतिरिंगणों के सँग भास्वर रवि शशि
शोभा देंगे क्या अकूल अंबर में?
उनके प्रिय सहचर समूह में हँसते
जो उज्ज्वल नक्षत्र न हों घर घर में!

भारत का आरोहण पथ यह, छोटी,
भगवत् जन के योग्य प्रसिद्ध, पुरातन,
साधारण हित समदिग् भगवत् जीवन
तुम्हें इष्ट,-मैं करती पूर्ण समर्थन!

व्यक्त सत्य का अंश मात्र प्रति युग में,
बाह्य बोध में स्वाभाविक किञ्चित् भ्रम,
विश्व सृजन की क्रम विकास श्रेणी में
पूर्ण पूर्ण को करता प्रतिपग अतिक्रम!

मुखर हो उठी मौन ऊर्मि नव युग में
मंगल सूचक यह गूँगी भू के हित,
नारी की चिर मूक व्यथा के गायक
देखें, नव चेतना धरा पर जागृत!

ज्ञात मुझे, जग में आने को नव युग,
जब कृतार्थ होगा भू पर जन जीवन,
स्वर्ण चेतना से परिणीत धरा मन
द्वंद्व-मुक्त, कर देगा पूर्ण समर्पण!

'एवमस्तु'-विहँसे करुणा-मधु के घन,
प्रकट हुए बाल्मीकि भावना-प्रेरित,
बोले, जन भू की दु:ख गाथा सुन मैं
मन के वन में रह न सका ध्यानस्थित!

आशंकित जन, आपद् काल भयानक,
प्रलय सृजन में छिड़ा विश्व घातक रण,
फिर पाताल प्रवेश नहीं कर जाए
धरा चेतना, चिन्तित मन इस कारण!

महा-ह्रास छा जाय न विघटित भू पर
उबर न पाए शतियों तक मानव मन,-
सावधान करने आया मैं जन को
देख जगत पर घिरे घोर संकट घन!

आज्ञा हो, संदेश जगद्धात्री का
एक बार फिर दूँ, जीवन मंगल हित,-
धन्य, आदि कवि, कहा मुग्ध लक्ष्मण ने,
विश्व क्रांति यह, नया कल्प हो मुखरित!

बोले मुनि, सब दया दृष्टि से सम्भव,
जननि चेतना मूर्ति, चरण ध्वनि कवि-स्वर
जन मन में कुंदेन्दु शुभ्र वाणी में
नव स्वरूप धर, नव आस्था का दें वर!

पद रज मैं, विद्या वैभव पद वंचित,
काव्य कला अनभिज्ञ, भाव रस विरहित,
असंतुष्ट जग से, जन से, जीवन से,
कवि पीड़ा करता चरणों पर अर्पित!

भूत भविष्यत् वर्तमान के तम में
देख सकूँ मानव का श्री-नव आनन,
स्वप्नों की निधि से गढ़ सकूँ धरा-मन
अंतर-आभा का जो शोभा दर्पण!

तृण-खर मेरे शब्द, नीड़ युग-गायन,
लोक शाल की हृदय डाल पर निर्मित,

फूट प्राण पिक के रस स्वर, जन मन को
करें अलौकिक धरा-प्रीति से मुखरित!

कहा द्रवित सीता ने, मनोगुहा से
देव अभी निकले तप से तेजोमय,
अंतर्द्रष्टा, नव युग गति से परिचित,
हरें धरा तम, मिटे ध्वंस भय, संशय!

आज बाह्य-पट परिवर्तन के सँग ही
अंतर्मन हो रहा ज्योति दल प्रहसित,
भेद-बुद्धि-गत द्वंद्व लाँघ भू-पथ के
स्वर्ग मर्त्य हो रहे प्रथम संयोजित!

तन मन के नैतिक तट कर रस मज्जित
चित् प्रकाश का झरता स्वर्णिम निर्झर,
भव चैतन्य सरोवर का स्मित शतदल
प्रेम मूर्त आनंद, प्रस्फुटित भीतर!

देव मनुज पशु का नव रूपांतर कर
आप व्यास बन गाएँ जन युग का जय,
नव युग के बाल्मीकि, निकल बाँबी से,
गढ़ें छंद में चिन्मूल्यों का आशय!

महत् अनुग्रह! युद्ध नद्ध जग को मैं
शांति मंत्र दूँगा, जन मत कर संचित,
ललकारूँगा रण भू पर जन अरि को
क्रूर वृत्ति को चिता, मर्म कर दंशित!

लोक जुगुप्सा के बन लक्ष्य अवांछित
रक्त-तृष्ण नर-हिंसक होंगे पद-नत,
धरा घृणा से थूकेगी जब मुख पर
दशमुख भी तब होंगे लज्जित, श्री-हत!

डाकू से कवि बना क्रौंच करुणा वश,
ज्ञात क्षुद्रता विकृति मुझे जीवन की,
अंध स्वार्थ की काम गुह्य गलियों में
ज्योति भटकती पग पग पर भू-मन की!

खादी के पट में लपेट मैं जन को
संधि-पत्र दूँगा,-श्रम-मूल्य समंवित,
विक्रय-स्पर्धा रहित यंत्र युग का श्रम
खादी सा ही हो पावन, जन-आदृत!

संधि-नियम होंगे, भू पर सह-जीवन,
रचना-श्रम का वरण, लोक-क्षय वर्जन,
मंगल उर पात्रों में भर दूँगा मैं
धरा दुग्ध का शुभ्र अहिंसा माखन!

बँधे प्रीति के स्वर्ण सूत्र में भू-मन
एक बने जग, बहु देशों में खंडित,
देश जातियों से निखरे मानवता,
विविध धर्म संस्कृति हों विश्व समन्वित!

सर्वनाश के अणु उद्जन आयोजन
मनुज सिन्धु-जलतल में करें निमज्जित,
हो रचना-संकल्प महत् जन क्षमता,
लोक क्षेम हो दुर्ग, विकृति पर जय नित!

विश्व ऐक्य की रिक्त धारणा भर वह
जिसमें हो जीवन वैचित्र्य न गुंफित,
जन गुण ग्राहक, मनः क्षितिज हो व्यापक,
मिलें विमुख भू भाग, शांति दल रक्षित!

मा, इन युग मूल्यों को अतिक्रम कर मन
देख रहा मानव भविष्य ध्यानस्थित,-

उतर रहा स्वर्णिम प्रकाश रस निर्झर
जिसमें तुम चित् किरणों में रेखांकित!

नई चेतना निखर रही उर मणि से
शत सुरधनुओं की ज्वाला से मंडित,
बदल रहा भव वस्तु ज्ञान विकसित हो,
भाव-बोध, इंद्रिय, मन, प्राण प्रहर्षित!

ज्योति प्रीति आनंद मधुरिमा मंगल,
जन जीवन में मूर्त हो रहे जग में,
अश्रुत चापों से गुंजरित धरा-मन
आभाएँ सी चलतीं जन-भू मग में!

भावी दर्शन पर श्रद्धार्पित कर मन
पाएँगे जन सूक्ष्म दृष्टि, नव जीवन,
रहस कलामयि महाशक्ति जग-धात्री!
अणु में जो करती अनंत भव धारण!

देख रहा, उठता भू-गोलक ऊपर
उर्वर ज्योतिष्पिण्डों से अभिनंदित,
जड़ के मुख पर शक्ति-पात चेतन का,
मनः शृंग पर हों शत तड़ित् प्रकंपित!

स्वर्ण गुंजरण के सँग अंधड़ का स्वन
सुना सभी ने, मधुर भीम रस मिश्रण,
अमृत वृष्टि सँग वज्र लिए पंखों में
घुमड़ रहा हो रजत रेख दारुण घन!

देखा सब ने तम का दुर्धर पर्वत
उठता, खर झंझा बाँहों से वेष्टित,
उत्तर रही हिमवत् से शरद उषा सी
स्वर्ण शुभ्र श्री ज्योति, वृषभ शशि सी स्मित!

शेष नाग के ऊर्ध्व शीश पर शोभित
उदित हुआ भू, हरित जलधि-अंचल धृत,
नील क्षौम का रत्न-छत्र धर सिर पर
पवन डुलाता चँवर, पुष्प रज सुरभित!

उमड़ा हो रस श्यामल नव सावन घन
जन जीवन के बर्ह-भार में पुलकित,
मत्त हुआ रज गंध सूँघ कवि का मन
अगणित तड़ितों के प्रवेग से स्पंदित!

सूक्ष्म सुरभि सी उतरी उमा हृदय में
रजत रश्मि सी, कनक दीप्ति से परिवृत
द्रवित हुआ भू-मर्म मधुरिमा में नव
तिमिर गर्त भर गया शिखर छवि मज्जित!

श्री शिव सुंदर सत्य सार थी मूर्तित,
प्रीति कला सी चंद्र कला थी सिर पर,
सप्त वर्ण मुक्ताभ स्वर्ण देही की
शोभा से शोभाएँ पड़ती झर झर!

हँसी दिशाएँ, गूँजे अलि, कूजे पिक,
पशु न रहे उपचेतन ही में सीमित,
ज्योति पद्म सा खिला निमीलित भू-मन,
चिद् दर्पण में हुआ स्वतः शिव बिम्बित!

पृथ्वी ने सीता को गोदी में भर
सूँघा हरि-प्रिय सिर, ढुलका मुक्ता जल,
घन माला के उर की तड़ित् लता सी
पुत्री पुण्य-प्रसू से थी तेजोज्ज्वल!

मिलीं उमा वैदेही प्रिय सखियों सी
शुभ्र चंद्रिका, स्वर्ण उषा हों शोभित,

ऋषि को सम्मुख कर पुलकित दंपति ने
किया प्रणत स्वागत, शुभ शकुन प्रबोधित!

आर्द्र कंठ से बोली धरती, बेटी,
ज्ञात तुम्हें मेरे मन का संघर्षण,
युग संध्या अब,मची क्रांति अग जग में
मचल रहा मेरे भीतर नव जीवन!

नए कल्प का जन्म, क्षितिज-मख स्वर्णिम,
बाहर भीतर घटते नव परिवर्तन,
स्वर्ग सृजन से कठिन उदर में जग का
चिर विकासमय जीवन करना धारण!

क्रुद्ध शेष फूत्कारों से दिशि, धूमिल
महा मृत्यु मेघों से मंथित अंबर,
मुझे विरोधी शिविरों का भय भ्रम हर
सृजन शांति स्थापित करनी भू तल पर!

भौतिक वैभव के मद से उत्तेजित
शोषक शोषित में विभक्त भू-प्रांगण,
वायुयान में उड़ते बाहर तन-मन,
अंतर्मन प्रस्तर-युग का जड़ पाहन!

इधर अंध भौतिकता का कर्कश स्वर,
उधर रिक्त तप त्याग विरति का रोदन,
दो अपूर्ण मिल सर्व पूर्ण कब होते?
महत् साध्य अनुरूप न मंगल साधन!

बृहत् समूहीकरण अपेक्षित जग में
जिसमें जन भू ओर छोर हो गुंफित,
बीज-भूमि से नया व्यक्ति पनपे फिर
स्वर्ग प्ररोह, -नई क्षमता से भूषित!

मुट्ठी भर मन के जगमग मानों में
किया बौद्धिकों ने मेरा मूल्यांकन,
तत्त्वविदों ने मर्त्य धाम बतलाया
जरा रोग भय पाप ताप का प्रांगण!

धर्मज्ञों ने त्याग विराग सिखा कर
कहा व्यर्थ जग, मिथ्या माया बंधन,
मुक्ति मार्ग विज्ञापित कर यतियों ने
चाहा जन धरणी बन जाए निर्जन!

स्वर्ग नरक, जड़ चेतन द्वंद्वों में रत
ज्ञान दग्ध पा सके न मेरा परिचय,
तर्क वाद में खोए, समझ न पाए,
बुध समग्रता में मेरा महदाशय!

मैं हूँ जीवन क्षेत्र, बड़ी मैं मन से,
क्षण परिमित में हूँ मैं नित्य अपरिमित,
ऋत प्रकाश में मुझको जन जीवन में
सृजन-पूर्णता करनी अपनी निर्मित!

युग मन को अतिक्रम कर मेरा जीवन
बढ़ता उठ-गिर यत्न-सिद्ध निज पथ पर,
नया जन्म ले मेरा अंत यौवन
क्षणिक नित्य के शून्य-पुलिन देता भर!

स्वर्गों का अक्षय प्रकाश ले मुझको
गढ़ना जन का शोभा-भंगुर जीवन,
देवों के अमरत्व सार से विरचित
भू की भंगुरता का सत्य चिरंतन!

विविध लोक, बहु विधि जीवों से उर्वर,
चिन्मय सत् के सूक्ष्म स्थूल नाना स्तर,

सब के गुण वैचित्र्य, महत्ता लघुता,
सभी पूर्ण अपने में, सार्थक सुंदर!

निखिल पूर्णताओं का सार ग्रहण कर
ढली पूर्णता जन धरणी की निश्चित,
जन्म, मृत्यु बहु ह्रास वृद्धि द्वारों से
अभिव्यक्ति जो पाती लोकोत्तर नित!

आदिम मैं, ज्योतिप्रिय,–भूल गए जन,
दीप्त ग्रहों के सँग हँस करती नर्तन,
शीश फूल मेरा रवि, शशि मुख–दर्पण,
उषा माँग रोली, ज्योत्स्ना तन उबटन!

जीवन शोभा की प्रतीक भुवनों में,
नहलाते रस धारा में मुझको घन,
षड् ऋतुएँ करतीं परिक्रमा पद–नत,
तितली फूल विहग करते अभिनंदन!

निश्चेतन के अँधियाले पलने में
मैं हूँ सोई ज्योति, काम कुम्हलाई,
अँगड़ाई भरती मन की द्वाभा में
निज प्रकाश गरिमा में जाग न पाई!

मृद् दीपक, मेरा नित नव भंगुर–तन,
तुम अमरत्व शिखा जिसकी चिन्मणि स्मित,
तुम्हें सँजोए स्नेह–प्राण अंतर में
मैं नर किन्नर अमरों से चिर वंदित!

प्रीति ज्योति तुम मेरे उर की अकलुष
सत्य शिखा अंतरतम, स्वयं प्रकाशित,
बाट जोहती धरती के धीरज से–
श्री, समग्रता में हो जग में स्थापित!

पराशक्ति तुम, निखिल भुवन में व्यापक,
सुर नर मृग मंगल नित जिसके आश्रित,
क्षुद्र सत्य बहु अधिकृत किए धरा मन,
बौनों से जगती का जीवन शासित!

तम प्रकाश, जड़ चेतन को उपकृत कर,
मुझे पूर्णता में होना निज विकसित,
सीमा में निःसीम, क्षणिक में शाश्वत,
भू रज में कर भगवत् स्वर्ग प्रतिष्ठित!

शंखों जड़ी प्रबाल पीठिका भू की
कँपी, कँपा मणि चक्र छत्र सिर ऊपर,
खुले केश स्वर्णिम नीलम निर्झर--से
खिसका अंचल मरकत छाया सुंदर!

देखा ऋषि ने, तप्त-कनक भू गोलक
हरित शक्ति के अमित सिन्धु से परिवृत,
रजत तिमिर से निखर रहे शत रवि-शशि
सुर किन्नर मुनि, नर मृग, खग कृमि अगणित!

देखे कवि ने स्मित ब्रह्मांड अकल्पित
दीप्त भुवन, देवों ऋषियों के आश्रम,
कोटि सभ्यताओं, संस्कृतियों के युग
धरा गर्भ में छिपे स्वर्ग-स्तर निरुपम!

गुह्य हरित तम में अंतर्हित भास्वर
ब्रह्म विष्णु शिव रुद्र वरुण यम वासव,-
नृत्य कर रहे सृजन शक्तियों के सँग
बँधे सृष्टि लय में आनन्द निरत भव!

देखा मुनि ने लोचन वातायन से
प्रेम रश्मि दीपित जन भू का अंतर,

शोभा के सौ स्वर्ग खिले थे भीतर
भावों के शत ऐश्वर्यों से उर्वर!

बोला उन्मेषित स्वर में ऋषि का कवि
धन्य,जननि, मैं उठा बहिर्मुख गुंठन,
सूक्ष्म दृष्टि पा, देख रहा नव युग में
स्वर्ण रश्मि छबि स्फुरित तुम्हारा आनन!

नील शांति के चित् सलिलों में अविगत
महा पद्म सी मूँद ध्यान में लोचन,
खिलती नव आभा सहस्रदल सी तुम,
मनश्चक्षु के सम्मुख धर शोभा-तन!

स्वर्ण मरंदो से विरचित सौरभ वपु
सुधा-शुभ्र मधु भाव-गंध रस सिंचित,
प्राण वृंत पर हरित ज्वाल वेष्टित तुम,-
मर्त्य अमर मधु-लुब्ध भ्रमर-से गुंजित!

देख रहा, नीरव करुणा ममता की
गहराइयाँ भरीं असंख्य उर भीतर,
निरवधि सागर, जी करता चित् जल में
भाव नाव दूँ छोड़, खोल सुख के पर!

जीव जगत के गहरे दुख वाष्पों से
निखर रहे हों क्षितिज स्वर्ग के निःस्वर,
धूम्र नील भावना मेघ पुंजों से
उभर रहे शत शुभ्रारुण आभा स्तर!

महाव्योम में स्वर्गंगा सी पुंजित
शुभ्र अभ्र छबि कनक-रश्मि रेखांकित,
अमित मनोभुवनों को, चित् लोकों को
अंतस्तल में किए मौन अंतर्हित!

जन रक्षा के लिए अभय मुद्रा में
दिव्य तमस ही किए नील वपु धारण,
पौ फटने का सा प्रकाश अंतस् से
फूट रहा, स्मित मार्दव से भर आनन!

कृष्ण सलिल सी अतल मौन चितवन में
उमड़ रहे जीवन-उर्वर करुणा घन,
ओ निश्चेतन शक्ति, सुहाते तुममें
विद्युत्, सुरधनु, हरीतिमा, वज्र स्वन!

नटराज्ञी तुम, निज अंतः सुख में स्थित,
उठा मत्त कर-पद, करती भव नर्तन
शुभ्र स्तनों से ऋत चैतन्य छलकता,
स्वर्णिम जघनों से मरकत भू जीवन!

निखिल विश्व इतिहास रिक्त छाया सा
विगत-प्रयोजन पड़ा प्रणत चरणों पर,
युग कर्दम से गढ़ती तुम नव मानव
भावी वैभव से दीपित कर अंतर!

अर्थ काम की रचना कर मानवता,
विविध युगों के स्वर्ण पाश कर खंडित,
दिग् विकसित हो रही विश्व संस्कृति में
भू जीवन शोभा मंगल कर अर्जित!

धधक रहा चित् पावक की लपटों में
जन मानस का निश्चेतन तम सागर,
मार्जित इंद्रिय जीवन की शोभा में
अमर विचरते श्री साकार धरा पर!

देख रहा मैं, राग चेतना भू की
सुलग रही जीवन शोभा में नूतन,

शुभ्रारुण ज्वालाओं में जल उठता
उपचेतन मन का छाया-तम गुंठन!

इह पर के, नर ईश्वर के छोरों पर
स्वर्ण सेतु, शत रत्न ज्योति स्मित निर्मित,
लोक मुक्ति ही मुक्ति, कर्म अब पूजन,
भव गति में विज्ञान ज्ञान संयोजित!

निखर रहा नव स्वर्ग मर्त्य-भू-रज से
श्री शोभा महिमा मंगल में मूर्तित,
उतर रहीं निःस्वर सहस्र ऊषाएँ
क्षण का वातायन शाश्वत मुख दीपित!

कैसे व्यक्त करूँ शब्दों के मन से
किस प्रकाश से आंदोलित कवि-अंतर,
टूट रही भावी विद्युत् पर्वत सी
फूट रहे क्षितिजों से स्वर्गिक निर्झर!

किरण वीणा

किरणों की वीणा में-
सूर्य चंद्र तूँबे दिग्-उज्ज्वल-
स्मेरमुखी ऊषाएँ हँस हँस
गाती रहतीं प्रतिपल!

यह मेरी रस मानस तंत्री,
साँसों के तारों में नीरव
आत्मा का संगीत भुवन अब
जन्म ले रहा अभिनव।

अंतर्मुख सौरभ में बस कर
बहता चेतस का माणिक जल,
खिलते अश्रुत गीतों के पद
श्वेत पीत सरसिज दल।

स्वर्ग धेनुएँ पूँछ उठा कर
रँभा रहीं सुन मर्म मौन स्वर,
अंत:सलिला स्वर्गंगाके
तीर विचर रस कातर।

किस पावक का लोक अगोचर
उतर रहा प्राणों के भीतर-
नया कल्प अब उदित हो रहा
तम का मुख कर भास्वर!

कौन देव करते आवाहन
चंद्र चेतना की अंजलि भर-
दुग्ध धार सी ज्योति बरसती
नव छंदों में झर-झर!
-किरणों की वीणा में।

सूर्योदय

फालसई तूली से किरणें
नव शोभा की स्वरलिपि लिखतीं
जीवन के आँगन पर!

भू-यौवन के पावक घट सा
उठता सूर्य शून्य दिशि उर भर,
उतर रहे चंपक जघनों से
नव प्रकाश के स्वर्णिम निर्झर!

यह अनंत यौवना प्रकृति
भव-निशि विषाद लेती हर!

सरिता वीणाओं सी गातीं,
रजत वह्नि में लहरें नहातीं,
चपल, मुखर, भंगुर-गति जल में
सोया नील शांति सा निःस्वर!

यह विराट् सुख का रंगस्थल
शाश्वत मुख पर क्षण का अंचल,
सृष्टि नित्य नव स्वर-संगति में
बढ़ती सुंदर से सुंदरतर।

खोलो हे मन का तृण-पिंजर
त्वच-सीमा से निकलो बाहर,
भू-रज भुजग, विहंग बनो उठ,
पंख शून्य में फैला भास्वर!

फालसई तूली से किरणें
श्री शोभा की स्वरलिपि रचतीं
प्राणों के प्रांगण पर!

रस सूर्योदय

सूर्य चंद्रमा के प्रकाश में
मैं न देखता जग को,
भौतिक लोचन दीपित करते
वस्तु जगत् के मग को!

मेरे उर का रस सूर्योदय
देता दृष्टि मुझे नव,
देख रहा अंतर्विधान मैं,
अंतर्जीवन वैभव!

चंद्र-सौम्य आभा में दिखता
सूक्ष्म भाव-जग भास्वर,
स्वर्णिम मानस-भू प्रसार
ऊषाएँ हँसतीं निःस्वर!

अग जग ईश्वर का निवास,
सित प्रेम-तत्त्व ही ईश्वर,

स्थाणु-ब्रह्म में इंद्रिय-अंकुर
फूट रहे रस-उर्वर!

नव जीवन पल्लव, भावों के सुमन,
चेतना सौरभ
वितरित करते सूक्ष्म ब्रह्म को-
उतरा भू पर चिद् नभ!

हुआ कूप-तम में स्वर्णोदय
हृदय गुहा ज्योतिर्मय,
ज्योति तिमिर परिरंभण भरते,
भू पथ अघ से निर्भय!

नया मूल्य देना जीवन को
इसमें मुझे न संशय,
मानव भीतर से विकसित हो
बहिर्जगत् पर पा जय!

फूलों-से ही खिलो सहज -
कहते थे ईसा निश्छल,
बहिरंतर संतुलित विश्व हो
भव विकास का यह पल!

वंशी

छिद्र भरा नर वंश मिला
मुझको धरती पर,
फूँक दिए मैंने इसमें
नव आत्मा के स्वर!

मेरु वंश की मुरली,
सप्त कमल दल सरगम
अगणित रागों का नित
जिनसे होता उद्गम!

जन-भू के छिद्रों को भरने
आता युग कवि,
नए स्वरों में रँग जाता
मानवता की छवि!

रीता बाँस मिला मुझको-
प्रभु प्रति कर अर्पित,
प्रीति श्वास से भर उसको
जन-भू मंगल हित-

मुक्त किया मैंने उर-राग
युगों से कुंठित,
पूर्ण-प्राण पा रसावेश
चिद् वंशी मुखरित!

जो लगते थे छिद्र--राग स्वर
थे वे श्रुति-घर,
जिन्हें सँजो, साकार हो उठा
जीवन-ईश्वर!

सीमित दृष्टि न देख सकी थी
प्रभु का प्रिय मुख,
मानव ईश्वर खड़े परस्पर
लो, अब सम्मुख!

एक सत्य बहता उर में,
रस वंशी स्वर में,
श्रुतियों के पथ से प्रेरित
जन जन अंतर में!

हरित प्राण-वंशी में
आत्मा की हीरक-लय
नए बोध में करे
मनुज-उर को रस-तन्मय!

विहंगिनी

स्वर विहंगिनी
फैला मुक्ताभ पंख
प्राणों में फूँक शंख,
उठती तुम ऊर्ध्व वेग
गगन रंगिणी!

मन के कर क्षितिज पार
खोल हृदय-स्वर्ग द्वार
बरसाती रस निर्झर
ध्वनि तरंगिणी!

भेद बुद्धि-सूक्ष्म व्योम
पीकर अमृतत्व सोम,,
गाती आनन्द मत्त
चिर असंगिनी!

बेध चंद्र, बेध सूर्य,
घोषित कर सत्य-तूर्य,

हरती भव दृष्टि भेद
स्वप्न भंगिनी!

तम की केंचुल उतार
चूम दीप्त सहस्रार,
नाभि विवर में जगती
चिद् भुजंगिनी!

लक्ष्य

मैं न अब रस गीत लिखता,
प्यार करता हूँ!
मौन सर्जन प्रक्रिया
चलती हृदय में–
ताप उसको कहूँ गोपन,
गूढ़ हर्ष कहूँ?...
मैं न अब खग गीत गाता,
प्यार,
तुमको प्यार करता हूँ!

सूक्ष्म चित् सौन्दर्य
उर में उदय होता–
प्रेम के आलोक में
खोया हुआ मुख,
कनक वर्णी...
फालसई परिवेश मंडित–
इंद्र धनुओं के
अछूते रंग कोमल

बिखर बहु छाया स्तरों में
भाव गंधी
मोहते
मन के दृगों को!

ऊब बाहर के जगत से
हृदय को
विश्राम मिलता
डूब भीतर!

जहाँ केवल प्यार
निः स्पृह प्यार
ले जाता तुम्हारे
निकट मुझको -

वही पथ है
लक्ष्य भी,
तुम भी वही
मैं भी वही हूँ··

हाँ, तुम्हीं
इस सत्य को
संभव बनाती!

मैं न शब्दों को पिरोता,
प्यार,
केवल प्यार करता हूँ!

का ते कांता,

कस्ते पुत्रः ?
भू शोभा ही मनुज प्रेयसी,
जीवन महिमा,
लाँघ चुका नव मनुज प्रेम
गत युग की सीमा!

जाग रहा उर में चित् स्पंदन,
स्वप्न चकित, अपलक उर-लोचन,
दौड़ रहा सित रक्त
शिराओं में नव चेतन!--

का ते कांता, कस्ते पुत्रः ?
मनोदृष्टि पर विजयी
भू आत्मा की गरिमा!

एक संचरण बाहर भीतर,
एक सत्यमय निखिल चराचर,
आस्था प्रेरित धी,
शिव शिवतर,
जन भू जीवन बन ढलती
श्रद्धा की प्रतिमा!
का ते कांता, कस्ते पुत्रः ?
व्याप्त अकेला मैं ही जग में,
मैं ही भव-विकास के मग में,
शूल फूल में,
ज्योति तमस में
मूर्त प्रेम हूँ मैं प्रतिपग में!

बिन्दु सिन्धु में, जन्म मरण में
मैं ही स्वर्ग सृजन की अतिमा!
का ते कांता, कस्ते पुत्रः ?

सर्प रज्जु भ्रम

हाय,सर्प को रज्जु बताकर
भ्रम ही आया हाथ,
अधर में अटका औंधा
ब्रह्मवादियों का
दिवांध मन!

जीवन का वासुकि सहस्र फन
कुंडल मारे दिशा काल पर,
स्वतः सिद्ध,
(जड़ ही में चेतन!)
सिर पर धारे चिन्मणि भास्वर!
भव विकास क्रम में
गति के शत चिह्न अगोचर
छोड़ रहा वह अथक, निरंतर!
मिथ्या बतला सिद्ध सत्य को
दीपक से बिलगा
दीपक की लौ अतिचेतन,
ब्रह्मवाद ने, निश्चय,
किया अमंगल जग का
भव तम भ्रम में
भटका भू जन!

अंत जहाँ वेदांत--
देखता परे वहाँ से
कवि का ईश्वर-अंतर,
अविच्छिन्न जग-ब्रह्म,
सत्य भव-सर्प,--
ब्रह्म का मूर्त रूप भर!
रूप शब्द को छोड़
अर्थ की खोज व्यर्थ,
सित शब्द-अर्थ संपृक्त परस्पर,
रूप सर्प ही ब्रह्म, परात्पर!

रज्जु रज्जु, भ्रम भ्रम,
तम भ्रम से शून्य असंशय
ब्रह्म सर्प क्षर-अक्षर!

दीप ज्योति ही में होता
मृद् दीपक गोचर,
ब्रह्म ज्योति ही जगत्
ब्रह्म ही निखिल चराचर!

अन्न प्राण मन छील ब्रह्म से
ब्रह्मवादियों का भ्रम ही
बन गया ब्रह्म --
कवि को प्रिय ईश्वर. -
इह-पर कारण!

सर्प रज्जु भ्रम में फँसकर, हा,
(माया मिली न-राम!)
शून्य में लटका छूँछा
ब्रह्मवाद का
ज्योति अंध मन!

नया बोध

जब अवाक् हो उठता अंतर
बहता तब संगीत मौन में
किस अंबर से झर-झर!

वह अशब्द संगीत
न उसमें भाव, अर्थ, ध्वनि, लय, स्वर,
तन्मयता अज्ञात,
आत्म--पर रहित,
स्वयं पर निर्भर!

चेत नहीं रहता जब मन को
कौन बजाता तब उर-वीणा
संकेतों में नि:स्वर!

ज्योति-कमल खिल कुम्हला जाता,
अंधकार उर घेर न पाता,
भान उपस्थिति का मिटता,
पर,
हृदय शून्य में नहीं समाता!
जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति न,
रहस अवस्था में किस
कौन प्राण अभिषेकित करता
ज्ञान--अगोचर!

कूल नहीं, जल नहीं,सरित वह
मूल नहीं, दल नहीं, हरित वह,
इह-पर, इस-उस पार न उसमें,
पूर्ण रिक्त संग पूर्ण भरित वह,--
नए बोध में जग मन कहता
जो वह, वही जगत् यह,

भिन्न न जग से ईश्वर!
......जब अवाक् रहता हत अंतर!

खोज

अब फिर से
आकाश कुसुम को
शशक शृंग को
खोज रहे वंध्यासुत चिन्तक--
नए क्लीव दर्शन से गर्भित,
अहं समाधित!--
आत्म व्यथा की प्रसव वेदना
सह मर्मांतक!

छाया शब्दों का कोलाहल
मिलता नहीं समस्या का हल,
विश्व समस्या का कोई हल!
भय संशय के
धुँध धुएँ के घिरते बादल,
बढ़ते श्वेत चींटियों के
दल पर शतमुख दल!

विजित पड़ी श्रद्धा आस्था
धरती पर घायल,
सृष्टि पहेली--नहीं कहीं हल,
कुछ भी तो हल!

मध्ययुगों के मूढ
अंध विश्वासों से हो बाहर
विजय--ध्वजा फहराता
आता

अंध आधुनिकता का युग रथ--
यंत्र-अश्व
भौतिक चक्रों पर
बढते युग-यथार्थ के पथ पर--

नव सारथि विज्ञान
ढीलता रश्मि
अनास्था की जन-दुस्तर!

अह यह अणुबम, वह उद्जन बम,
छाया युग-मानस में दिग्भ्रम!
अंध गली में धँसा बुद्धि रथ,
तन-मन-रक्त व्रणों से लथपथ,
व्यथा अकथ,
युग कथा अकथ!

इने गिने अस्तित्व शेष अब
सहते मूक अमूर्त क्लेश सब,
शून्य सत्य से मनोदेश जब
रिक्त अहंता ही अशेष तब,--

बिम्ब प्रतीक उभरते अगणित
संवेदना भंगि परिवर्तित,
कथ्य शून्य हो भले
कलात्मक शब्द-वेश अब!
रस न लेश अब!

बलिहारी, यह नव युग की छवि,
मैं न बन सका युग-स्रष्टा कवि,
जुगनू हो संगठित
चमकते बन नव युग रवि--
मनुष्यत्व पर
गिरा लाज पवि!

पौ फटने से पहले

अंधकार

अंधकार का घोर प्रहर यह
नीरवता गहराती रह रह,
मन में नहीं कहीं भय संशय,
प्राण, अभी पौ फटने वाली!

लोक परीक्षा का दारुण क्षण
दृष्टि ज्योति हत, लक्ष्य भ्रष्ट मन,
बढ़ता ही जाता संघर्षण
निशा और भी घिरती काली!

गरज रहा निस्तल तम सागर
निश्चेतन भू-मन का गह्वर--
शांत, सौम्य आस्था का अंतर
नभ में फूटेगी ही लाली!

भाव स्तब्ध, निर्वाक् दिगंतर
छायाएँ सी चलतीं भू पर,
चीर तीर सी रही क्षितिज-उर
अरुण चूड़ की ध्वनि मतवाली!

मूँद रहीं ताराएँ लोचन
स्वप्नों से उपचेतन उन्मन,
निर्जन तम में रेंग रहा कुछ
केंचुल झाड़ रही निशि व्याली!

रक्त-स्नात, लो, प्राची अंबर
धँसता उर में स्वर्ण पंख शर,
अँगड़ाता सोया समीर जग,
तृण तरुदल देते करताली!

अब प्रकाश-गर्भित लगता तम
यह नवयुग आगम का उपक्रम,
चूर्णिताक्षि, नीलम-प्याली में
तुमने फिर रस-मदिरा ढाली!

प्रीति चंदिरा

तुम अनंत यौवना लता हो
चित् शोभामय,
मेरे प्राणों के निकुंज में
लिपटी तन्मय!

खिल खिल भाव-प्रबोधों के
मुकुलों में नित नव
मेरे अंतर में भरती
रहती सित विस्मय!

साँसों सँग उड़
सूक्ष्म सुरभि
मधु के मकरंद कण
तन मन में भरते
स्वर्गिक
विस्मृति सुख मादन!

मर्म, अधर-मधु -रस हित,
रहता हो न गुंजरित,
स्मरण नहीं
ऐसा कोई
सार्थक जीवित क्षण!

प्रीति चंदिरे,
मूल तुम्हारे
शाश्वत की
आनंद-योनि में,
छाए भाव गगन में
सुषमाओं के पल्लव,-

प्राणों की मरकत छाया से
छवि मांसल तन,
सृजन प्रेरणा में कुसुमित
अंतर्जग-वैभव!

फूलों के
स्तन-शिखरों पर
चिन्तन-श्लथ सिर धर

स्वप्न देखता मैं
भू जीवन के
दिक् सुंदर!-

रूप तुम्हारा खिल
अतिक्रम करता
अरूप को,

शून्य द्रवित हो
बहता उर में
बन रस निर्झर!

कौन सुनहली
जग गुंजार
हृदय में निःस्वर

तुमको करती
श्री साकार
जगत् में भास्वर ?
भाव सखी,
तुम कहाँ समा सकती थी मुझमें,-
मुझको ही तुम
तदाकार
कर रही निरंतर!

माँ धरती

मरकत घट में
माणिक मदिर
सुधा भर जीवित
माँ धरती,
तुझको करता
जीवन-अभिषेकित!

ओ वैराग्य विमूर्च्छित भारत,
छान बीन कर

मैं समस्त
आध्यात्मिक तत्त्वों को
चिद् भास्वर-
तेरे लिए सुधा संजीवन

लाया मादक,
तेरे ही चरणों का रहा
पिता, मैं साधक!

यह नव युग अवतरण सत्य
उतरा जो भीतर
स्वर्ण शुभ्र आलोक अमृत से
अंतर-घट भर;-

पूर्ण— छलकता
सात्त्विक
रजत ज्वार में बाहर—
अमृत पान कर
अग्नि पान,
ओ मरणोन्मुख नर!

सत्यों की अन्वेषी तू-
यह रस संजीवन,-
ओ प्राचीन भरत-भू
सित श्रद्धा कर अर्पण,-

तत्व पान कर,
मुक्ति पान कर,
प्रवयस् जर्जर,
काया कल्प समस्त करेगा
यह बहिरंतर!

मरकत-घट पी
जीवन होगा शस्य श्यामल,
माणिक-मदिरा
मनः शिराओं में तेजोज्ज्वल
चित् शोणित

संचार करेगी
ज्वाला स्पर्शी—

स्वर्ण शुभ्र आलोक
प्रेम का
अंतर्दर्शी
रस समग्र चैतन्य मेरु बन,
भूत जलधि तर
नई दृष्टि देगा
जग के प्रति!-

जीवन-ईश्वर
विचरण करता
तुझे दिखेगा
फिर जन-भू पर;
सित अखंड रस में लय
दीखेंगे क्षर-अक्षर!

मनुज प्रीति की
सुधा पान कर
मुग्ध विश्व जन
धरा-स्वर्ग
निर्माण करेंगे,
सृजन प्राण मन!

कवि

सित स्फटिक प्रेम,
मन जिसकी माला जपता,

स्वर्वह्नि प्रेम,
जिसकी ज्वाला में तपता!
रस अमृत प्रेम,
जिसको उर तन्मय पीता,
अहि दंश प्रेम,
रख गरल कंठ में, जीता!

कवि प्रेम-पीठ
जन-भू पर रचने आता,
सह घृणा द्वेष भय दंश
प्रेम-पद गाता!
विश्वास उसे,
जग प्रेम धाम ईश्वर का,
उर आकांक्षी
जन-भू मंगल के वर का!

लटकी अनंत रस रज्जु
ऊर्ध्व अंबर से
चढ़ता वह,
पकड़े श्रद्धा आस्था कर से!
भू जीवन निधि हित
करता वह आरोहण,
बन सके धरा-मन
प्रभु के मुख का दर्पण!

भावना-रज्जु दृढ़,
सत रज तम गुण निर्मित,
सित स्वर्ण रजत सँग
अयस-शूल भी गुंफित!

छिदते रस ग्राही प्राण-
रक्त रंजित तन,

बढ़ता मन अविरत-
सीती प्रभु करुणा व्रण!

पा सूर्य लक्ष्य
प्रेरणा दीप्त कवि का मन
छेड़ता मुग्ध
नव भू-जीवन के गायन!
मांगल्य-धाम हो
मुक्त धरा रज प्रांगण,
भू जीवन मन हों
मनुज प्रीति के दर्पण!

अंतर-शोभा से निर्मित भू
प्रभु का घर,
भौतिक भव हो
आत्मिक वैभव पर निर्भर!

रे प्रथम बार अब
अहं-भाव केन्द्रित नर
सित प्रेम मूल्य की नींव
धरा-रज पर धर

रचता जीवन प्रासाद-
खोल लोकोत्तर
सामूहिक जन-मंगल के
स्वर्ग दिगंतर!

जन-राशि मनुज-गुण हो
भू पर संयोजित-
जीवन समृद्धि हो
बहिरंतर संपोषित!

जो तम का घोर प्रहर
जन साधारण को,
वह नव प्रभात आगम-क्षण
जाग्रत् मन को!

चढ़ता ज्यों मन
झरता भू पर नव जीवन,
हटता चिन्मय के मुख से
मृण्मय गुंठन!

जन-भू ही ईश्वर का आवास-
न संशय,
अन्यत्र न स्वर्ग, न ईश्वर,-
यह रे निश्चय,
यह रे निश्चय!

निर्माण करें जग का
हम पा प्रभु आशय,
वह प्रेम,-
कृच्छ्र भू-स्वर्ग-सृजन तप में लय!

प्रेमा

जहाँ जहाँ तुम रखतीं
शुभ्र चरण चल,-
भूतल
वहाँ वहाँ हो उठता, श्यामे,
दूर्वा-श्यामल!
ज्योतिर्मय हो उठते रज कण

तड़ित् चंद्र बन,-
प्रेमे,
कौन विश्वास करेगा
जिसने कभी नहीं जाना हो
स्वप्न-चरण तुम सृजन-भूमि पर
कैसे करती विचरण!

खिलते उर सरसी में सरसिज
रूप सृष्टि गढ़ता सित मनसिज
अर्पित कर तुमको पावक निज!

सृजन चेतने,
स्वप्नों के खुलते
अंतर में स्वर्ग दिगंतर
अप्सरियाँ सी उड़तीं
उन शोभा-शिखरों पर!

गा उठते प्राणों के भुवन अचेतन,
देवदूत चलते
मोहित
मरकत घाटी में प्रतिक्षण!

जहाँ तड़ित् अँगुलि
करती सित इंगित
वहाँ मौन बजतीं पग पायल
ध्यान-शयित
जगता अंतस्तल!-

नए सूक्ष्म सौन्दर्य भुवन
उर-मंथन से उद्घाटित
प्राणों में हो उठते जागृत,
भाव बोध संपदा
हृदय में कर रस-वितरित!

संवेदने,
हृदय ही मेरा श्यामल भूतल
सृजन भावना ही दूर्वादल,
रूप प्रेरणा
तड़ित् स्पर्श चल—

अंतस् ही
युग बोध तरंगित
चित् सरसी जल!

रति सुख प्रीते,
मनो लहरियों में नित
नील चरण स्मित
शशि पद चुंबित
भाव कमल अगणित
अपलक
श्री पद चिह्नों-से
हो उठते प्रस्फुटित-
प्राण कर उपकृत!

श्रेय संचरण

सुधा सिन्धु में रहती हो तुम
मुझे न संशय,
प्राण, उपस्थिति से ही
उर का कलुष गरल गल
जीवन मंगल में
परिणत हो जाता मधुमय!

पुराकाल में हुआ
अमृत विष का जब वितरण
शिव को
विष को पड़ा कंठ में करना धारण!-
रहे पृथक् ही अमृत गरल
दो तत्त्व सृजन के—
तुमने रूपांतरित उन्हें कर
जन-भू मन में
दिया विश्व को अंतरैक्य का
परम रसायन!

कल का अमृत गरल बन
गरल अमृत संजीवन
भव विकास का, गौरि,
बन गया श्रेय संचरण!

विगत राशि गुण, महत् क्षुद्र धुल,
पाप पुण्य घुल,
भू श्री शोभा गरिमा में
होते रूपायित,
ज्योति स्पर्श पा,
जीवनमयि, कर आत्म उन्नयन!
क्षमे,
अनंत तुम्हारी बाँहें
अग जग विस्तृत,
नख शिख
आत्म नील तुम,
केवल प्रीति अपरिमित-
रवि शशि दृग, पथ करते दीपित,
उडुगण हार वक्ष पर शोभित!

मैं हूँ विस्मित!-
क्यों भारत
युग युग से आत्मज्ञान से प्रेरित
युग युग से श्रेयस् प्रति अर्पित,
आज, अर्ध-संस्कृत जग का कर
अंध अनुकरण
हाय, खो रहा निज गौरव धन!-

क्यों न पुनः विष पी जन-भू का
युग सागर से मंथित—
अमर प्रेम की बाँहें खोल
नहीं समेटता भू-जीवन को
(जो बहु भेदों में खंडित!)
अंतर्विरोध कर प्रशमित!

उसे नम्र रहना,
विनम्रता आत्मा का गुण,
भू संकट सहना,
जनगण हित अंतर्पथ चुन!

मनुज प्रीति में उसे बाँधना
युग-भू-जीवन-
निज दिग् भ्रांत निकट देशों के
पूज घृणा व्रण!

अणु से कहीं महत्
आत्मा का बल निःसंशय,
(वह ध्वंसात्मक,
यह रचनात्मक)-
सर्व प्रेम ही
चिन्मय आत्मा का गुण निश्चय!

वही श्रेय की शक्ति,
उसी की अंतिम दिग् जय!
दृढ़ आस्था रख
जन हों निर्भय!

भव-जीवन

दृष्टि मुझे दी, प्रेमे,
देखता हूँ मैं जग को!–
वक्र भुजग-से
युग भू जीवन
क्रम विकास मग को!

व्यक्ति न अब,
जन विविध शक्तियों के
प्रतिनिधि भर,
भूत-भविष्यत् में रण,
गुंठित स्वर्ण युगांतर!

कैसा वितरण
विश्व शक्तियों का !
जग की विधि!
उद्वेलित आमूल,
गरजता
क्रुद्ध भव-उदधि!

कृमियों-से रेंगते मनुज
पद-दलित प्राण-मन,

भौतिक तम में
बहिर्भ्रांत
संप्रति भू जीवन!

भोग लालसा मद विस्मृत
जीवात्मा का कण,
शासित करता
अंतर को
आवेश अचेतन!

कौन वनस्पति
पशुओं का जग
आज सँजोए?

मनुज प्रेत
जब स्वयं
मृत्यु निद्रा में सोए!
नहीं जानता,
अणु हुंकार
भरेगा भू मन

या तुम ला
जन भू जीवन में
आत्म संतुलन-

श्रेय प्रेय में
स्वर संगति भर
तम-भ्रम मोचन

क्षुधे, करोगी जन मंगल,
श्री सुख संवर्धन!

एक हाथ में
आणव ध्वंस,-
अपर कर में धर
नव चैतन्य सुधा घट,
स्मेरमुखी,
हँस, निःस्वर-
तुम भंगुर तम का करती
तम ही से भंजन,-
नव प्रकाश का
फहराए
जग मे जय केतन!

स्वप्न तरुणि हे,
देख रहा मैं,
उठती जन-भू,
झुकता अंबर,

नव स्वप्नों के
पग से कंपित
युग नर अंतर!-

बाह्य ध्वंस पट में
अंतर्मन करता सर्जन,
बदल रहे जन,
बदल रहा भू-मन,
भव जीवन!

दारुण रण

युग-नर के सम्मुख दारुण रण!
राग चेतना से रस प्रेरित
उद्वेलित जन भू उपचेतन!

उतर रही रस ज्योति धरा पर
नव स्वप्नों से उर्वर अंतर,
मज्जित करता भू-जीवन तट
नव श्री सुषमा का सित प्लावन!

वमन कर रहा भू-निश्चेतन
कटु कुंठा कर्दम तम प्रतिक्षण,
भय संशय से मर्दित भू-मन
क्रुद्ध उगलता विष पावक कण।

हृदय प्रकाश उधर रस भास्वर,
इधर देह रज तम का सागर
काम-भीति में भाव-प्रीति में
छिडता अब भीषण संघर्षण!

नहीं पूर्णता प्राज्ञ कल्पना,
स्वर्ग स्वप्न भी रिक्त जल्पना,
प्रीति रश्मि को भाव मूर्त हो
जन भू पथ पर करना विचरण!

कभी कूप तम में भय कुंठित
हृदय ज्योति रह सकती गुंठित?
श्री शोभा सुख स्वर्ग बनेगा
निश्चय मृण्मय जन भू प्रांगण!

हिम गिरि ढालों-से सित निःस्वर
स्फटिक भावों के चिद् अंबर
जगते--इंद्रधनुष स्मृति रंजित,

स्वप्न-मुग्ध कर मन के लोचन!

सूर्य मुखी ऊषाएँ हँस कर
भाव दीप्त करतीं उर के स्तर,
रसोन्मेष मंगल प्रहर्ष का
खुलता जीवन में वातायन!

जन्म-दिवस

''बिजली बसती घन में,
आग लगा दी खिल बुरूस ने वन में, तूने मन में!''
''मेंहदी पिसती सिल में,
तू न देख पाए, तेरी ही रंगत टूटे दि़ल में!''
''मन उड़ता पाँखों में,
सुवा घूमता वन-वन, तू घूमा आँखों में!''
''साँझ हुई आँगन में,
तुझे देख कैसे बतलाऊँ क्या हो जाता मन में!''
''बदली छाई दिन में,
नई उमर की बाढ़ नवेली उतर जाएगी छिन में!''

उच्छ्वास*

सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन!
सुरीले, ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान
विकच बचपन को, मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान!

छपी सी, पी सी मृदु मुसकान
छिपी सी; खिंची सखी सी साथ,
उसी की उपमा सी बन, मान
गिरा का धरती थी, धर हाथ!

रंगीले, गीले फूलों-से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित!
-इसी में था असीम अवसित!

* किशोर कवि की प्रारंभिक और प्रथम प्रकाशित रचना

मधुरिमा के मधुमास!
मेरा मधुकर का सा जीवन
कठिन कर्म है, कोमल है मन;
विपुल मृदुल सुमनों से सुरभित,
विकसित है विस्तृत जग उपवन!

यही है मेरे तन, मन, प्राण,
यही है ध्यान, यही अभिमान:
धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान!

पावस ऋतु थी, पर्वत प्रदेश,
पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश!

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार;
जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल!!

गिरि का गौरव गाकर झर् झर
मद से नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुंदर
झरते हैं झाग भरे निर्झर!

गिरिवर के उर से उठ उठ कर
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर!

उड़ गया, अचानक, लो भूधर
फडका अपार वारिद के पर!

रव शेष रह गए हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अंबर!

धँस गए धरा में सभय शाल,
उठ रहा धुँआ, जल गया ताल!
—यों जलद यान में विचर, विचर,
था इंद्र खेलता इंद्रजाल!
(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर!)

आँसू-1

आह, यह मेरा गीला गान!
वर्ण वर्ण है उर की कंपन,
शब्द शब्द है सुधि की दंशन;
चरण चरण है आह,

कथा है कण कण करुण अथाह;
बूँद में है बाड़व का दाह!
....
विरह है अथवा यह वरदान!
कल्पना में है कसकती वेदना;
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छंद हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है!

वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान;
उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान!

हाय, किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार!
....किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणों का हार!!

मेरा पावस ऋतु सा जीवन,
मानस सा उमड़ा अपार मन:
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले,
मेघों-से मेरे भरे नयन

कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों-से हाय!
अरुण कलियों-से कोमल घाव
कभी खुल पड़ते हैं असहाय!

इंद्रधनु सा आशा का सेतु
अनिल में अटका कभी अछोर,
कभी कहुरे सी धूमिल घोर,
दीखती भावी चारों ओर!

तड़ित् सा सुमुखि! तुम्हारा ध्यान,
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गंभीर
मुझे करता है अधिक अधीर,

जुगनुओं-से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हें निदान!

धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल;
आज सोने का संध्याकाल
जल रहा जतुगृह सा विकराल;

पटक रवि को बलि सा पाताल
एक ही वामन पग में--
लपकता है तमिस्र तत्काल,
-धुएँ सा-विश्व विशाल!

चिनगियों-से तारों को डाल
आग का सा अंगार शशि लाल
लहकता है, फैला मणि ज्वाल
जगत को डसता है तम व्याल!

पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि!
सरल शुक सी सुखकर सुर में
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती है उर में;

अगन-से मेरे पुलकित प्राण
सहस्रों सरस स्वरों में कूक,
तुम्हारा करते हैं आह्वान,
गिरा रहती है श्रुति सी मूक!

देखता हूँ, जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को;

नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुक कर
सरकत है सत्वर;

अकेली आकुलता सी प्राण!
कहीं तब करती मृदु आघात,

सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात!

देखता हुँ जब पतला
इंद्र-धनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद कला;

तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अंतर्धान:
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान!

आँसू-2

बादलों के छायामय मेल
घूमते हैं आँखों में, फैल!
अवनि औ' अंबर के वे खेल
शैल में जलद, जलद में शैल!
शिखर पर विचर मरुत रखवाल
वेणु में भरता था जब स्वर,
मेमनों-से मेघों के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर!

द्विरत दंतों-से उठ सुंदर
सुखद कर सीकर-से बढ़ कर,
भूति-से शोभित बिखर बिखर,
फैल फिर कटि के-से परिकर,

बदल यों विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर!

इंद्रधनु की सुनकर टंकार
उचक चपला के चंचल बाल,
दौड़ते थे गिरि के उस पार
देख उड़ते--विशिखों की धार;

मरुत जब उनको द्रुत चुमकार,
रोक देता था मेघासार!

अचल के जब वे विमल विचार
अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,

विहंगम सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अंबर!
पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर झर;

झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गंभीर घहर;
बिन्दुओं की छनती छनकार,
दादुरों के वे दुहरे स्वर,

हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर!

खैंच ऐंचीला भ्रू सुरचाप-
शैल की सुधि यों बारंबार--
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल-हार;

जलद पट से दिखला मुख चंद्र,
पलक पल पल चपला के मार;

भग्न उर पर भूधर का हाय!
सुमुखि! धर देती है साकार!

....

तुम्हारे छूने में था प्राण,
संग में पावन गंगा स्नान;
तुम्हारी वाणी में कल्याणि!
त्रिवेणी की लहरों का गान!
अपरिचित चितवन में था प्रात,
सुधामय साँसों में उपचार!
तुम्हारी छाया में आधार,
सुखद चेष्टाओं में आभार!

करुण भौंहों में था आकाश,
हास में शैशव का संसार;
तुम्हारी आँखों में कर वास
प्रेम ने पाया था आकार!

कपोलों में उर के मृदु भाव
श्रवण नयनों में प्रिय बर्ताव;
सरल संकेतों में संकोच;
मृदुल अधरों में मधुर दुराव!
उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में भास
विचारों में बच्चों के साँस!

बिन्दु में थी तुम सिन्धु अनंत
एक सुर में समस्त संगीत;

एक कलिका में अखिल वसंत,
धरा में थी तुम स्वर्ग पुनीत!

छाया

कौन, कौन तुम परिहत वसना,
म्लान मना, भू पतिता सी,
वात हता विच्छिन्न लता सी
रति श्रांता व्रज वनिता सी?

नियति वंचिता, आश्रय रहिता,
जर्जरिता, पद दलिता सी,
धूलि धूसरित मुक्त कुंतला,
किसके चरणों की दासी?

कहो, कौन हो दमयंती सी
तुम तरु के नीचे सोई?
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि! नल सा निष्ठुर कोई!

पीले पत्रों की शय्या पर
तुम विरक्ति सी, मूर्छा सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह मलिन, दुख विधुरा सी?

गूढ़ कल्पना सी कवियों की
अज्ञाता के विस्मय सी,
ऋषियों के गंभीर हृदय सी,
बच्चों के तुतले भय सी,

भू पलकों पर स्वप्न जाल सी,
स्थल सी-पर, चंचल जल सी
मौन अश्रुओं के अंचल सी,
गहन गर्त में समतल सी?

तुम पथ श्रांता, द्रुपद सुता सी
कौन छिपी हो अलि! अज्ञात
तुहिन अश्रुओं से निज गिनती
चौदह दुखद वर्ष दिन रात?

तरुवर की छायानुवाद सी
उपमा सी, भावुकता सी
अविदित भावाकुल भाषा सी,
कटी छँटी नव कविता सी;

पछतावे की परछाईं सी
तुम भू पर छाई हो कौन?
दुर्बलता सी, अँगड़ाई सी,
अपराधी सी भय से मौन!

मदिरा की मादकता सी औ'
वृद्धावस्था की स्मृति सी,
दर्शन की अति जटिल ग्रंथि सी
शैशव की निद्रित स्मिति सी,

आशा के नव इंद्रजाल सी,
सजनि! नियति सी अंतर्धान,
कहो कौन तुम, तरु के नीचे
भावी सी हो छिपी, अजान?

चिर अतीत की विस्मृत स्मृति सी,
नीरवता की सी झंकार,

आँखमिचौनी सी असीम की,
निर्जनता की सी उद्‌गार,

परियों की निर्जल सरसी सी
वन्य देवियाँ जहाँ विहार
करतीं छिप छिप छाया जल में,
अनिल वीचियों में सुकुमार!

तुम त्रिभुवन के नयन चित्र सी
यहाँ कहाँ से उतरीं प्रात,
जगती की नेपथ्य भूमि सी,
विश्व विदूषक सी अज्ञात!

किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का संसार?

निर्जनता के मानस पट पर
—बार बार भर ठंडी साँस,
क्या तुम छिप कर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास?

सखि! भिखारिणी सी तुम पथ पर
फैला कर अपना अंचल,
सूखे पातों ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल?

पत्रों के अस्फुट अधरों से
संचित कर सुख दुख के गान,
सुला चुकी हो क्या तुम अपनी,
इच्छाएँ सब अल्प, महान?

कालानिल की कुंचित गति से
बार बार कंपित होकर,
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दों में निर्भर

किसी अतीत का करुण चित्र तुम
खींच रही हो कोमलतर,
भग्न भावना, विजन वेदना,
विफल लालसाओं से भर ?

ऐ अवाक् निर्जन की भारति,
कंपित अधरों से अनजान
मर्म मधुर किस सुर में गाती
तुम अरण्य के चिर आख्यान !

ऐ अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरसि !
यह छाया तन, छाया लोक,
मुझको भी दे दो मायाविनि,
उर की आँखों का आलोक !

ज्योतिर्मय शत नयन खोल नित,
पुलकित पलक पसार अपार,
श्रांत यात्रियों का स्वागत क्या
करती हो तुम बारंबार ?

थके चरण चिह्नों को अपनी
नीरव उत्सुकता से भर,
दिखा रही हो अथवा जग को
पर सेवा का मार्ग अमर ?

कभी लोभ सी लंबी होकर,
कभी तृप्ति सी हो फिर पीन,

क्या संसृति की अचिर भूति तुम
सजनि! नापती हो स्थिति हीन?

श्रमित, तपित अवलोक पथिक को
रहती या यों दीन मलीन,
ऐ विटपी की व्याकुल प्रेमसि,
विश्व वेदना में तल्लीन!

दिनकर कुल में दिव्य जन्म पा
बढ़ कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढँक कर अपने कोमल अंग

सदुपदेश सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार,
पर सेवा रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ श्रांति अपार!

हे सखि! इस पावन अंचल से
मुझको भी निज मुख ढँककर,
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षणभर!

चूर्ण शिथिलता सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
पर पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो, कर मद हीन!

गाओ, गाओ, विहग बालिके,
तरुवर से मृदु मंगल गान,
मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान!

—हाँ सखि! आओ, बाँह खोल हम
लग कर गले, जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्धान!

अशोक वन

ध्यान मग्न बैठी वैदेही!

अपलक नील गगन मुख तकती
ऊर्ध्व मना, वह कब थी देही?

मर्मर क्या करता अशोक वन,
शत सहस्र युग करते क्रंदन,
निखिल प्रकृति तृण तरु चलोर्मि जल
सुरभि, किरण, नभ उसके स्नेही!

कँपती तन पर छन तरु छाया
उर का द्वंद्व उमड़ हो आया,
सूने लगते गृह आँगन वन
राम बिना, जो त्रिभुवन गेही!

राम जानकी को बिलगा कर
उमड़ रहा दुख से भव सागर,
लहराती कण कण में आशा
धर्म सेतु प्रभु बाँधेंगे ही!

कैसा था वह परम पुण्य क्षण!

लता भवन से प्रकट हुए थे
जब दो भ्राता श्याम गौर तन!

परम रूप प्रभु नव इंदीवर
प्रीति हंस लक्ष्मण पद अनुचर,

जाग्रत् मानस में अनंत छबि
निद्रित जल में शांत स्मित गगन!

अमित नील ही प्रभु में नर तन,
शुभ्र शरद से निर्मल लक्ष्मण,
देख एक ही शोभा अपलक
बनी सूक्ष्म दर्शनमय चितवन!

खींच लिए प्रभु ने लोचन मन
खुले दृष्टि के भौतिक बंधन,
निज सीमा कर पार नयन ज्यों
भूल गए क्षर रूप विलोकन!

जगा मनोलोचन में तत्क्षण
विश्व श्याम तन आभा का घन!
दिखा, चेतना की छाया सा
दिशि पल में चित्रित जग जीवन!

सूक्ष्म राम ने प्रथम निज चरण
धरे धरा पर, किया अवतरण,
पा सीतामय प्राण पीठ प्रिय,
भू के हृदय कमल की पावन!
....

क्या अशोक वन है, क्या सीता?

वह सुख वैभव स्वर्ग, और यह
जन मंगल की मूर्ति पुनीता!

एक युगांत, रुद्र धनु खंडन,
कृषि युग सर्जन, राम अवतरण
जन मन धरणी, जग जीवन कृषि,
संस्कृति कृषि श्री,—क्षितिजा प्रीता!

गत जीवन ममता ही धर तन
जन मन में थी माया रावण,
मिटा धरा से उस विरोध को
सीता हुई अशेष गृहीता!

रावण था युग वैभव प्रतिमा,
अमित प्रताप बुद्धि बल गरिमा,
युग आकांक्षा से अविद्ध वह,
जन मन शत्रु, मही थी भीता!

जन आकांक्षा को था उठना,
प्रभु को उतर मनुज था बनना,
भू-ईसा को स्वर्ग-दया से
होना था जग हित परिणीता!

जब आते महान् परिवर्तन
प्रभु तब भू पर करते विचरण,
यह इतिहास मनो जीवन का,
सृजन विकास, चेतना गीता!

'क्षिति जल अग्नि पवन नभ से पर
जो ध्रुव राम अमर चिर अक्षर,
मैं...प्रविष्ट जीवन पावक में,
असंदिग्ध हो भव जन गण मन!'

'धन्य देवि, सीते, सखि, प्यारी!
धन्य जग जननि, जनक दुलारी!

ज्वाला वसने, आभा दशने,
धरो धरा पर ज्योति श्री चरण!'

'प्रभु, क्यों ली यह अग्नि-परीक्षा?
सत्यसिन्धु, संशय के तम से
करें विभीषण की निज रक्षा!'

सृजन वह्नि यदि ईश तेज कण
तब क्या नहीं स्वयं वह पावन।
जलज जीव, प्रभु, सहज तरल जो
उसको कठिन अनल की दीक्षा!

'साक्षी राम बिना क्या सीता
नहीं दिव्य, जग जननि पुनीता?
ईशावास्यमिदं न सर्व शुचि?
गुह्य ज्ञान की दें प्रभु भिक्षा!'

'विश्व चेतना में प्रकाश तम,
परम चेतना में न द्वंद्व भ्रम,
सुनो रक्ष, लक्ष्मण का उत्तर,
ब्रह्म तत्त्व की गहन समीक्षा!'

'चिर अक्षर ही जीवों में क्षर,
स्वयं मुक्त वह पूर्ण परात्पर,
विश्व विवर्तन क्षर विकास की
है अनंत शाश्वती प्रतीक्षा!'

'नित सत् राम, शक्ति चित् सीता,
अखिल सृष्टि, आनंद प्रणीता,
प्रकृति शिखा सी उठे, शक्ति चित्
उतरे, निहित जगत में शिक्षा!'

मर्यादा पुरुषोत्तम के प्रति

जय पुरुषोत्तम! विश्व संचरण में धारण कर
विश्व श्याम तन, तुमने मन में किया अवतरण
प्रथम बार त्रेता युग में, मानव संस्कृति का
जो प्रोज्ज्वल निर्माण काल था, जब जन का मन
बहिर्जगत् में बिखरा था इंद्रिय द्वारों से!

जीवन के दशमुख तम से आंदोलित अंतर
प्राणों के आवेगों की झंझा से ताड़ित
प्रलय सिन्धु सा गर्जन करता था दिगंत में
क्रुद्ध लालसा के आवर्तों में आलोड़ित!
विकट अराजकता में पशु आकांक्षाओं की
संभव था तब नहीं शांत स्थिर जीवन यापन, —
वन जीवी, पशु जीवी मनुज, मनोजीवी तब
नहीं बना था : निद्रा भय मैथुनाहार की
देह वृत्तियों से चालित वह जंतु मात्र था!
प्रथम संचरण था वह मन का : भू जीवन पर
नहीं नियंत्रण था उसका : वह असंगठित था!

उतरे थे तुम रजत पुरुष तब अंतर्नभ से
सदाचार की दिव्य शुभ्र आभा से मंडित,

शरद नीलिमा-से नव, शशि किरणों से प्रहसित!
जीवन के तम को, छाया सा, सहज प्रणत कर
मानव के पद तल पर, तुमने तन के ऊपर
मन को किया प्रतिष्ठित था, जन मंगल के हित!
क्षुब्ध उच्छ्वसित प्राणों के उन्मद सागर को
शासित कर, बाँधा मर्यादा सेतु चिरंतन,
मर्यादा पुरुषोत्तम! बहिर्मुखी जीवन के
दश शीशों को मनोभूमि पर किया विलुंठित,

रश्मि शुभ्र चेतना तीर से, चीर भू-तमस,
वैदेही सी मनश्चेतना को विदेह कर!

प्रथम विजय थी वह जीवन पर मानव मन की,
तरुण अरुण-से विहँसे थे तुम मनश्चूड़ पर
सूर्य मनस् के स्वर्ण बिम्ब! जब अर्जित वासना
हुई संयमित संस्कृत : नव जीवन मानों में
ऊर्ध्व प्रस्फुटित, विकसित हो, मनुजोचित बन कर!

पूर्ण किया वह वृत्त कृष्ण युग में था तुमने
प्राणों में जब हुए अवतरित तुम द्वापर में,
मर्यादा के पुलिनों में जीवन शोभा का
दिव्य ज्वार लहरा, --अंतर के रस से झंकृत
जीवन का आनंद, प्रेम, सौन्दर्य बोध दे!
वह विकास परिणति का स्वर्णिम वैभव युग था!

एक बार फिर उतरो, अंतर्मन के सारथि,
भू की आकांक्षा के नव विकसित शतदल पर,
आज मनोजीवन, प्राणों के जीवन के स्तर
जीर्ण, विरस, विश्री लगते, सौन्दर्य हीन हो!
विगत चेतना— कभी विशाल शुभ्र सरसिज सी-
मूंद रही अब मन के दल युग की संध्या में,
स्रोत हीन पुलिनों सी नीरस रीति नीतियाँ
सींच नहीं पाती जीवन की उर्वरता को!

आज और भी नीचे उतरो प्राणों से तुम,
जीवन के तम के नीचे उज्ज्वल प्रकाश की,
स्वर्ण शुभ्र दो रेख खींच नव प्रतिपत् शशि सी!
विहँस उठे स्वप्नों से उपचेतन, अवचेतन,
धरा स्वर्ग बँध जाएँ एक क्षितिज के भीतर—
एक नव्य आध्यात्मिकता आलोक ज्वार सी
मज्जित कर दे जीवन मन की सीमाओं को,

सीमा रहित चेतना की नव शोभा में उठ!
बहे एक अविराम धार में स्वर्ग चेतना
देह प्राण मन के भुवनों में संजीवन भर,
मनुज और भी निज अंतरतम में प्रवेश कर
ऊर्ध्व, गहन, व्यापक बन निकले अधिक बहिर्मुख!

धरा चेतना की काले तम की पंखुड़ियाँ
फुल्ल स्वर्ण लोहित रंजित हो युग प्रभात में
नव जीवन सौन्दर्य पद्म में विहँस उठें फिर
अंतर में भर अतिचेतन पावक पराग कण,-
प्राणों की सौरभ-विद्युत से हर्षित कर दिक्!
हृदय कमल में भू के फिर उतरो पुरुषोत्तम!

हिमाद्रि

मानदंड भू के अखंड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि, तुमको हिमकण-से
घेरे मेरे जीवन के क्षण!
मुझ अंचलवासी को तुमने
शैशव में आशी दी पावन,
नभ में नयनों को खो, तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन!

कब से शब्दों के शिखरों में
तुम्हें चाहता करना चित्रित
शुभ्र शांति में समाधिस्थ हे
शाश्वत सुंदरता के भूभृत!

बाल्य चेतना मेरी तुम में
जड़ीभूत आनंद तरंगित,
तुम्हें देख सौन्दर्य साधना
महाश्चर्य से मेरी विस्मित!

जिन शिखरों को स्वर्ण किरण नित
ज्योति मुकुट से करतीं मंडित,
जिन पर सहसा स्खलित तड़ित्
हो उठती निज आलोक से चकित!

जिन शिखरों पर रजत पूर्णिमा
सिन्धु ज्वार सी लगती स्तंभित,
जिनकी नीरवता में मेरे,
गीत स्वप्न रहते थे झंकृत!

जिनकी शीतल ज्वाला में जल
बनी चेतना मेरी निर्मल,
प्राण हुए आलोकित जिनके
स्वर्गोन्नत सौन्दर्य से सजल!
हृदय चाहता काव्य कल्पना को
किरीट पहनाना उज्ज्वल
स्मृति में ज्योति तरंगित स्वर्गिक
शृंगों के आलोक का तरल!

वसुधा की महदाकांक्षा- से
स्वर्ग क्षितिज से भी उठ ऊपर
अंतर आलोकित- से स्थित तुम
अमरों का उल्लास पान कर!
उरोभार-से गौर, धरणि के,
सोया स्वर्ग शीश धर जिस पर,
तुम भारत के शाश्वत गौरव
प्रहरी से जागरित निरंतर!

रवि की किरणें जिसे स्पर्श कर
हो उठतीं आलोक निनादित
जिस पर ऊषा संध्या की छबि,
आदि सृष्टि-सी ही स्वर्णांकित!
इंदु ज्वलित तुम स्फटिक धवलिमा
के क्षीरोदधि-से हिल्लोलित
ज्योत्स्ना में थे स्वप्न मौन
अप्सरा लोक-से लगते मोहित!

सुरँग प्रवालों की रत्नश्री
अहरह रहती जहाँ मर्मरित,
देवदारु की चारु सूचि से,
मरकत तलहटियाँ रोमांचित!
मौन स्वर्ग मुख पर अंकित तुम
शुचि दिगंत स्मिति-से चिर शोभित,
आदि तत्त्व -से, अपनी ही शोभा
विलोक रहते अनिमेषित!

नीली छायाएँ थीं तन पर
लगतीं आभा की सी सिकुड़न,
इंद्रधनुष मंडल से दीपित
उड़ते थे शत हँसमुख हिमकण!
स्वर्दूतों के पंखों-से स्मित
तड़ित् चकित हिम के रोमिल घन
रंगों से वेष्टित रखते थे
तुमको हे आलोक निरंजन!

प्रति वत्सर आती थी मधुऋतु
सद्यः स्फुट देही ले कुसुमित
चीर रश्मियों को, फूलों के
अंगों पर निज कर शत रंजित!
खुलती पंखड़ियों की कंचुक

सौरभ श्वासों से थी स्पंदित,
मेरे शैशव को नित उसकी
गीत कोकिला रखती कूजित!

कलरव, स्वप्नातप, सुरधनु पट,
शशि मुख, हिम स्मिति, गात्र ले श्वसित
षड्ऋतु करती थीं परिक्रमा
अप्सरियों-सी सुरपति प्रेषित!

शरद चंद्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृंगों पर विजड़ित,
हिम की परियों का अंचल उड़,
भू को कर लेता था परिवृत!

रंग रंग के चित्रित पक्षी
उड़ते नभ में गीत तरंगित,
नील पीत भृंगों का गुंजन
मौन क्षणों को रखता मुखरित!
ऊष्मा का सूर्यातप तुम में
लगता शीतलता--सा मूर्तित,
इंद्रचाप पुल पर, वर्षा में,
सुरबालाएँ आ जातीं नित!

जग प्रच्छाय गुहाओं में, नव
वाष्पों के गज भरते गर्जन,
चंचल विद्युत् लेखाएँ थीं
लिपट दृगों से जातीं तत्क्षण!
ताराओं के साथ सहज
शैशव स्वप्नों से भर जाता मन,
उठते थे तुम अंतर में
सौन्दर्य स्वप्न शृंगों पर मोहन!

मेघों की छाया के सँग-सँग
हरित घाटियाँ चलतीं प्रतिक्षण,
वन के भीतर उड़ता चंचल
चित्र तितलियों का कुसुमित वन!
रँग-रँग के उपलों पर रणमण
उछल उत्स करते कल गायन,
झरनों के स्वर जम-से जाते
रजत हिमानी सूत्रों में घन!

भीम विशाल शिलाओं का वह
मौन, हृदय में अब तक अंकित,
फेनों के जल स्तंभों-से वे
निर्झर रभस वेग से मुखरित!
चीड़ों के तरु वन का तम
साँसें भरता मन में आंदोलित,
दरियों की गहरी छायाएँ
ज्योतिरिंगणों से थीं गुंफित!

गाते उर में क्षिप्र स्रोत,
लहराते सर तुषार के निर्मल,
सौरभ की गुंजित अलकों से
छू समीर उर करता शीतल!
नीली पीली हरी लाल
चपलाओं का नभ जगता चंचल
रजत कुहासे में, क्षण में,
माया प्रांतर हो जाता ओझल!

संभव, पुरा तुम्हारी द्रोणी
किन्नर मिथुनों से हो कूजित,
छाया निभृत गुहाएँ उन्मद
रति सौरभ से सतत उच्छ्वसित!
औषधियाँ जल जल दरियों के

स्वप्न कक्ष करती हों दीपित,
ओसों के वन में मिलते हों
स्तन हारों के मुक्ताफल स्मित!

मदन दहन की भस्म अनिल में
उड़ अब तक तन करती पुलकित,
सती अपर्णा के तप से
वन श्री अवाक्-सी लगती विस्मित!

अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख सी लज्जित,
बढ़ती चंद्र कला भी गिरिजा-सी
ही गिरि के क्रोड़ में उदित!

अब भी वही वसंत विचरता
पुष्प शरों से भर दिगंत स्मित,
गंधोद्दाम धरा वह ही, पाषाण
शिलाएँ पुलक, पल्लवित!
अब भी प्रिय गौरा का शैशव
वर्णन करते खग पिक मुखरित,
देवदारु के ऊर्ध्व शिखर
वैसे ही शंकर-से समाधि स्थित!

अभी उतरता कूर्म सानु पर
वप्र क्रीड़ा परिणत गज घन,
वातायन से मंद स्तनित कर
देता कवि संदेश आर्द्र स्वन!
अब भी अलकें उठा देखतीं
ग्राम वधू उसको सरल नयन,
शुभ्र बलाकों के दल नभ में
कल ध्वनि भर करते अभिवादन!

आज जीवनोदधि के तट पर
खड़ा अवांछित, क्षुब्ध, उपेक्षित,
देख रहा मैं क्षुद्र अहम् की
शिखर लहरियों का रण कुत्सित!
सोच रहा, किसके गौरव से,
मेरा यह अंतर जग निर्मित,
लगता तब, हे प्रिय हिमाद्रि,
तुम मेरे शिक्षक रहे अपरिचित!

और, पूछता मैं मन से, क्या
यह धरती रह सकती जीवित
जो तुम स्वर्गिक गरिमा भू पर
बरसाते रहते न अपरिमित!
शिखर शिखर ऊपर उठ तुमने
मानव आत्मा कर दी ज्योतित,
हे असीम आत्मानुभूति में
लीन, ज्योति शृंगों के भूभृत्!

घनीभूत अध्यात्म तत्त्व-से
जिससे ज्योति सरित शत निःसृत
प्राणों की हरियाली से स्मित
पृथ्वी तुमसे महिमा मंडित!
स्फटिक सौध-से श्री शोभा के
रश्मि रेख शृंगों से कल्पित,
स्वर्ग खंड तुम इस वसुधा पर,
पुण्य तीर्थ हे, देव प्रतिष्ठित!

बुद्ध के प्रति

नव भावी स्वप्नों से विस्मित,
जब मैं विस्तृत
सिंह दृष्टि डालता विगत के धूमिल पट पर,
सब से स्वर्णिम शिखर
तुम्हीं दीखते अतंद्रित
मुझे तथागत,-भास्वर, सुंदर,
निःस्वर, निर्जर!

युग के गौरव शिखर-
जहाँ मन
मुक्त विचर कर
आर पार कर ध्यान-निरीक्षण,
सम्यक् चिन्तन,
शतियों में विस्तीर्ण
मध्य युग के करता दिग्दर्शन!

हाय, लोकजित्,
महाह्रास का युग होगा वह
दुर्वह, दुःसह,
जरा मरण भय से कुंठित,
भव तृष्णा लुंठित!

वृद्ध महाभारत का होगा
जर्जर पंजर
संस्कृति खँडहर
आहत भारत!

राज्यों संघों में शत खंडित,
मंत्रों तंत्रों से षड्यंत्रित,
जाति पाँतियों, तर्कों, वादों में विशीर्ण श्लथ!

नास्तिकता का निश्चरित्र तम,
अंधे विश्वासों का मति भ्रम
छाया होगा महादेश में
धर्म वेश में!

दांभिक, बौद्धिक, तार्किक, पंडित
मुंड मतों में होंगे दीक्षित
ज्ञान-पिपासा, जिज्ञासा से
मानस होगा मंथित!

सत्य विरत
द्विज होंगे बहुमत,
रूढ़ि रीति गत
यज्ञ कर्म सम्मत
पशु हिंसा में रत!

निश्चय, ह्रास निशा से अवगत
पद-पद पर नत
होगा श्रीहत
भारत!

देव तभी तो जरा मरण ही जरा मरण
देखते रहे अग जग में अनुक्षण!-

मोह न पाया मन को यौवन,
शिशु, रमणी धन,
राजस जीवन,
श्री सुख शोभा का सम्मोहन!

केवल अश्रु भरा दुख का घन
करता रहा हृदय में क्रंदन,
केवल मूल अविद्या का तम,
हुआ प्रतीत जगत का कारण!

मार, -मार से रहा त्रस्त मन,
निश्चेतन भू मन से था रण,
प्राणों का कीलित भुजंग,
फुंकार उठा था कोटि क्रुद्ध फन!

सम्यक् दृष्टि पड़ी जिस पर भी
'क्षण भंगुरता!' कहा ज्ञान ने,
सत्य शून्य, मिथ्या भव की लिपि
ज्ञापित की द्वादश निदान ने!

नित्य सत्य चैतन्य कहीं भी
नहीं दृष्टिगत हुआ ध्यान में,
सुलभ मुक्त आनंद कहाँ हो,
जरा मरण रुज् के विधान में!

केवल दुख, भव तृष्णा का तम,-
घोर अविद्या जिसका कारण,
निखिल अनत्ता, भंगुर सत्ता,-
कैसे हो भव कष्ट निवारण!

दु:खों से निर्वाण प्राप्ति कर
शांति अमृत लाए तुम जन हित,
दया धर्म, अष्टांग साधना
भव जन को दी करुणा प्रेरित!

खोया था अध्यात्म धूम में
जन मन नैतिकता से उपरत,
कर्मकांड रत भू को तुमने
दिया सत्य, दृढ़-तर्क-बुद्धि-गत!

अव्याकृत कह जिन तत्वों को
छोड़ गए तुम स्वतः अकल्पित,

विकृत काल क्रम में होकर वे
हुए क्षणिक भोगों में विकसित!

बौद्ध विहार बने ब्रजस्थल
भिक्षु योग्य राजोचित जीवन!
(बने कृष्ण भी केलि कुंज प्रिय
रीति काव्य युग प्रीति निदर्शन!)

शून्यवाद, जड़ क्षणिकवाद ने
घेर लिया जन-मन गगनांगण,
रिक्त वारि, सिकता रज के घन
दुर्लभ चातक हित जीवन कण!

गूँज उठा जीवन निषेध,
जीवन वर्जन का सूना गर्जन,
गंगा यमुना के आँगन के
तर्क-अनुर्वर थे जीवन क्षण!

उपनिषदों का शाश्वत दर्पण
जिस भारत का रहा शुभ्र मन,
वहाँ निषेध कलुष घुस आए,-
मैं प्राय: करता था चिन्तन!

विरति, त्याग, संन्यास वहाँ हो
जहाँ स्वयं सच्चिदानंद घन
इंद्रधनुष अंगों से लिपटा
बरसाते नव रस के प्लावन!

शंकर भी (प्रच्छन्न बौद्ध-से?)
कर अवाच्य माया का घोषण,
ब्रह्म सत्य के अर्ध सत्य में
उलझा गए विमुख कर जन-मन!

देव, मध्य युग के मुख पर ही
छाया था कुछ कल्मष लांछन,
मुक्त नहीं व्यक्तित्व कृष्ण का
ह्रास दंश से गीता दर्शन!

सचमुच, तुम आकर क्या कहते?
निष्क्रिय थीं तब लोक परिस्थिति,
एक सांस्कृतिक वृत्त पूर्ण हो
बिखर रहा था: अधोमुखी गति!

पीछे थी हट गई चेतना,
सम्मुख था दर्शन पंजर मन,-
थोथी धार्मिकता, तार्किकता,
सिद्धांतों के पथराए कण!

मिली प्रेरणा युग को तुमसे,
पनपे स्मृति, पुराण, षड् दर्शन,
शिला भित्तिगत शिल्प चित्र ने
सँजो दिए गिरि, गह्वर, प्रांगण!

कृष्ण, व्यास, कवि कालिदास में
ज्ञान भक्ति के बहा रस सरित
रीति नीति संस्कृति में कृषि युग
था हो चुका दिगंत मंजरित!

निखर रहे थे इधर शिखर स्मित
खिसक रहा था उधर धरातल
भू देशों को ज्ञान गंध दे
मुँदने को था मानस शतदल!

पाषाणों के उर पिघला कर
शांति सुगत की कर शुचि अंकित,

अमर शिल्प ने क्षण भंगुर में
शाश्वत को कर दिया सुरक्षित!

देख रहा मैं शांति कांति के
पर्वत-से तुम करते विचरण
आकर्षित हो अमित प्रीति से
चरणों पर नत होते भू जन!

दिव्य ज्योति मंडित स्मित आनन,
परम शांति मंदिर-सा प्रिय तन,
पग-पग पर धरती की करुणा
करती तुमको आत्म समर्पण!

किन्तु बोधिप्रिय, मानव मन की
दुर्निवार सीमाएँ निश्चित,
बुद्ध चेतसों का प्रकाश भी
युग स्थितियों से रहता पीड़ित!

मनुज ज्ञान संचय से अतिशय
लोक चेतना गति अपराजित,
स्वर्ग नरक बनते मिटते नित
जीवन मानस होता विकसित!

अकथनीय क्षति हुई देश की
उस युग के जीवन वर्जन से,
जीवन अस्वीकृति से निष्कृति
निष्कृति हो गत अध: पतन से!

मध्यमार्ग रत बोधिसत्त्व थे
लोक श्रेय हित अविरत तत्पर,
अंग न थे पर भू जीवन के
थे केवल करुणा हत अंतर!

इसीलिए सेवा करुणा व्रत
बन न सके जीवन मंगल पथ,
भू निर्माण उसी से संभव
जो जीवन कर्दम में भी रत!

जड़ से चेतन, जीवन से मन,
जग से ईश्वर को वियुक्त कर
जिस चिन्तक ने भी युग दर्शन
दिया भ्रांति वश जन मन दुस्तर,

किया अमंगल उसने भू का
अर्ध सत्य का कर प्रतिपादन
जड़ चेतन, जीवन मन आत्मा,
एक, अखंड, अभेद्य संचरण!

ह्रास विकास युगों का होता
मानव मन भव गति का दर्पण,
क्षमा, एशिया के प्रकाश, --उस
युग ने शुभ्र किया तम वितरण!

स्वर्ग ज्योति ने छुआ धरा मन
तुमको यंत्र बना निज निरुपम,
ओझल सूर्य हुआ मेघों में
युग नभ में था घिरा घोर तम!

आज ह्रास तम घन से कढ़ कर
पुनः हँस रहा नव सूर्योदय,
आओ, नव व्यक्तित्व ग्रहण कर,—
जन भू पर हो जीवन की जय!

षडायतन में उतर रहा नव
धरा स्वर्ग चैतन्य ज्योति-घन,

उतरो, वितरित करो जनों में
स्वर्ग-हरित चेतन पावक कण!

भू जीवन निर्माण चेतना
आज लोक निर्वाण, मुक्ति पथ,
कर्दम में गड़ उड़ता अति गति
धरती से ऊपर जीवन रथ!

आज नहीं वह उद्यत जाग्रत्
जो जड़-चेतन द्वंद्वों में रत,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य नहीं वह
जो जन भू जीवन से उपरत!

ईश्वर के प्रति भी न प्रणत वह
जो वैराग्य निवृत्ति मार्ग गत
मुक्ति पथिक, आत्मा की निष्क्रिय
रिक्त ज्योति का शलभ, भाग्यहत!

अंत: स्वर्णिम नव चेतन में
आज प्रवृत्ति निवृत्ति समन्वित,
वही बुद्ध अंत:स्थित निश्चय
जो जन भू जीवन में भी स्थित!

वही पूर्ण प्रज्ञा जिसमें
सम राशि उर्ध्व गुण हों संयोजित
पूर्ण शील, जो जग जीवन के
संघर्षों में हो न पराजित!
नव भावी चैतन्य अमृत ही
अब जन कर्म वचन मन जीवन,
अंत: पावन नव प्रकाश वह
श्रद्धा, आस्था, जीवन दर्शन!

विद्याऽविद्या ज्योति तमसवत्
भू मानस में स्वर्ण समंवित
भव तृष्णा उन्नीत सृजन मन
भू रचना रत अनिर्वाण चित!

मार क्षेत्र भू जीवन निश्चित,
स्वयं श्याम ही बने काम नव,
नित्य शुद्ध रस वे निःसंशय
जिनसे रस मय रूप नाम भव!

जीवन के स्तर पर जड़ भू पर
उतर रहा चैतन्य अनावृत,
महाभाव से, ब्रह्म बोध से
पूर्ण सत्य यह, मूर्त अखंडित!

तर्क बुद्धि, दर्शन से विकसित,
ज्ञान, भक्ति, कर्म से महत्तर,
यह स्वर्णिम नवनीत सत्य का
नव श्रद्धा आस्था का ईश्वर!

आओ, शांत कांत वर, सुन्दर,
धरो धरा पर स्वर्ण युग चरण,
विचरो नव युग पांथ, बुद्ध बन,
जन भू मन करता अभिवादन,

अणु रचना के भूति मंच पर
हो सुखांत मानव युग का रण,
तुमसे नव मानुष्य स्पर्श पा
विष हो अमृत, मृत्यु नव जीवन!

पतझर : एक भाव क्रांति

पवन-पुत्र

पतझर आया
जन के मन में छाया,
पतझर आया!
एक विश्व हो रहा विलय
नि:संशय,

काल-सर्प झाड़ता
जीर्ण केंचुल अब निर्भय!
पतझर आया,
क्रांति-दूत-सा भाया,
पतझर आया!

व्यक्ति ही नहीं
मेरे भीतर जग भी रहता,
एक समुद्र निरंतर बहता—
भाव-तरंगों में मंथित हो
गरज-गरज कर कहता :

क्या सार्थकता नर जीवन की?
भव-सागर या लघु जल कण की?
क्या न डुबा सकता हूँ,
मैं निज कूल—

लाँघ सीमा
असीम बंधन की ?
क्या सार्थकता जग-जीवन की ?

मैं सहता, उद्वेलन सहता,
भव-सागर से कहता :
तब तो तुम भी नहीं रहोगे
तट-मर्यादा जो न सहोगे,—
बाँधे प्रिया धरित्री तुमको
निज अंचल में
थामे विधि करतल में!
भीतर-भीतर ऊब-डूब कर
तुम अंतर्मुख सदा बहोगे,
लाँघ पुलिन
चित् चंद्रज्ज्वार में
उड़ असीम की बाँह गहोगे!

सार्थकता है यही तुम्हारी,
लघु जल कण की,
भव-जीवन की!

तुम असीम के अंश,
अंश क्षण-बिन्दु तुम्हारा,
भूमा ही की सार्थकता में
सार्थक अग-जग सारा! ...
सृष्टि मुक्ति की कारा!

पतझर आया,
गृह मग वन में अकुलाया,—
कौन संदेशा लाया ?

अर्ध सत्य वह!-
शेष सत्य रे नव वसंत क्रम,-

पूर्ण सत्य के अंश उभय,
मिट गया सिन्धु-भ्रम!

परिवर्तन विकास क्रम साधन,
परिवर्तन होता जिसमें
वह सत्य चिरंतन!

पतझर आया,
भव-कानन में सहज समाया,—
पवनपुत्र वह, हनुमत्,
सृष्टि-साँस-सा छाया!

भाव और वस्तु

चपल कपोत तड़ित् गति से
द्रुत मँडरा सिर पर
मुझे घेरते
धूपछाँह के पर फड़का कर!
क्या जाने कहते मुझसे
अस्पष्ट कंठ-स्वर
रोमिल तन की ऊष्म गंध
नासा-पुट में भर!

मुझे सदेह उड़ा ले जाते
भाव-गगन में-
भाव बोध की छायाएँ
शत बरसा मन में!

क्षण स्तंभित
        मैं उनसे कहता नव युग प्रेरित—
''भाव नहीं चाहिए,
        भाव जग को न अपेक्षित! -
अब नव युग निर्माण
        चल रहा भू-प्रांगण में,
हमें प्राविधिक बोध चाहिए,
        पशु-बल तन में!
नव यथार्थ का ज्ञान,
        सांख्यिकी, जन भू गणना,
हमें चाहिए नई योजना,
        सफल मंत्रणा!
हमें अन्न गृह वस्त्र
        जुटाने जन गण के हित,
प्रजा-तंत्र सँग
        नया यंत्र-युग करना निर्मित!''

''भावों से क्या होगा?
        वे हैं मनोवाष्प भर,
स्वप्न-नीड़वासी, नभचारी,
        सुरधनु के पर!''

''जग अभाव से पीड़ित,
        ठीक तुम्हारा अनुभव,''
बोले वन के हारित,
        कानों में भर कलरव!

''भावों ही को तो
        भू-जीवन में कर मूर्तित
तुम्हें वस्तु-जग का वैभव
        करना संवर्धित!''

"निखिल योजना, यंत्र तंत्र विधि
भाव मात्र हैं,—
भाव-शक्ति से शून्य लोकगण
रिक्त पात्र हैं!"

"भू-शिल्पी बनने को
भावों का आराधन
तुम्हें चाहिए,—
जीवन कृषिफल, भाव अमृत-घन!"

"भाव-हीन जन प्राण-हीन,
मन से जीवन-मृत,
जड़ प्रपंच यह,
भाव-शक्ति की सृष्टि अपरिमित!"

"भाव-वस्तु नित
शब्द-अर्थ-से युक्त परस्पर—"
पारावत उड़ गए,
अभाव धरा-मन कातर!

गिरि कोयल

विस्मय से अभिभूत,
प्राण हो उठते पुलकित,
हर्ष प्ररोहित रोम,
तुम्हारी ध्वनि सुन प्रेरित—

ओ गिरि कोकिल,
हृदय फाड़ तुम गातीं स्वर भर,

'काफल पाको, काफल पाको-
गुँजा दिगंतर!'

सचमुच, काफल नहीं
बनैले खटमिट्ठे फल,
वे प्रतीक रस-गुह्य-
जानता कवि अंतस्तल!

भला नहीं तो कैसे
शोभा के दिगंत स्मित
खुल पड़ते उर में
ध्वनि सुन आनंद उच्छ्वसित!

कैसा गिरि-परिवेश
जहाँ तुम रहतीं छिपकर,
नव वसंत दिङ् मुकुलित
वन ही निभृत रम्य घर?
गंध मरंद समीर
व्यजन करती-सी प्रतिक्षण,-
वन मर्मर के क्षितिज
गूढ़ करते संभाषण?

उषा नील ढालों पर लेटी
हरती क्या मन?
नीरव ज्योत्स्ना
गाने का देती आमंत्रण?
रजत प्रसारों में उड़ती
शोभा में निःस्वर
स्तंभित-सी सुनती वह क्या
मर्मस्पृक् प्रिय स्वर?

कितने रंगों के प्रिय पंख
तुम्हारे सुंदर?

धूपछाँह रत्नच्छाया के
रोमिल भास्वर!

कभी न देखा तुम्हें
सुना भर उन्मद गायन,
सूक्ष्म सृजन प्रेरणा स्रोत-सी
तुम चिर गोपन!

तरुवन के नभ में
अरूप पावक की-सी घन
उर ज्वाला से मुकुलित करतीं
मधु के दिशि-क्षण!

प्राणों की सौन्दर्य भूमि में
पली असंशय
तुम जीवन आनंद छंद की
प्रतिनिधि अक्षय!

यही सहज आनंद
प्रवाहित मुझमें प्रतिपल,
हम स्फुलिंग एक ही चेतना के
कवि-कोयल!
इसीलिए करतीं तुम
जन-मन को आकर्षित,
एक मर्म उल्लास
विश्व में मौन समाहित!

जग में ऐसी स्थितियाँ भी
जो उपजातीं भ्रम,
राग द्वेष, रुज, आधि व्याधि,
व्यापक सुख दुख क्रम!

मैं अपने को पाता
उन सब से संबंधित

सत्य ज्योति, आनंद प्रीति से
जो सत्-प्रेरित!
विश्व-चेतना प्रमुख,
व्यक्तिगत अहं गौण नित,
हमें चाहिए द्रष्टा स्रष्टा
भू प्रति अर्पित!
सुन उन्मेषित गीत
नहीं मन में अब संशय
भीतर ही आनंद-स्रोत-
जीवन हो तन्मय!

तारा-चिन्तन

कैसा विस्मयकर लगता
पर्वत प्रदेश का प्रिय तारापथ
कहीं न कोई जिसका इति अथ,-
निर्निमेष-दृग् फैला ऊपर
क्षौम-मसृण हो नील चँदोवा
कढ़ा मनोहर!

लिपटी-सी द्राक्षा लतिकाएँ
मधु रस प्लावित
घने नीलिमा के बाड़े में विस्तृत—
अगणित ताराएँ
मधु छत्ते पर-सी पुंजित
करतीं दृष्टि चमत्कृत!

अंधकार के झीने अवगुंठन से आवृत
करतीं वे मन को चिन्तन में मज्जित

क्या रहस्य दिग्व्याप्त,
गुह्य घन अंधकार का
प्रश्न पूछती हों अपने से विस्मित!
ऐसा नहीं कि
तत्व-बोध की सूर्य-ज्योति में
उर को कर अवगाहित,
तम की सत्ता को
अभाव की सत्ता बतला,
कह मिथ्या, अज्ञानजनित भ्रम,-
करतीं पूर्ण उपेक्षित!
क्या उपयोग तमस् का
भू-जीवन रचना में?
निज सहस्र नेत्रों से झाँक हृदय में
तारा
करतीं मानस-मंथन-
कौन ज्योति-तम से भी परे,
जगत् का जो
अंतर-पथ से करती संचालन?
अपरिमेय उस सृजन-शक्ति के
ज्योति तमस् निःसंशय ही
दाएँ बाएँ कर,—
समाधान संभव न
एक को सत्य
दूसरे को मिथ्या बतलाकर!

मात्र ज्योति से-
द्रष्टा भर जो-
यह विराट् ब्रह्मांड न संभव सर्जित,-
उदित अस्त होते रवि-शशि,
विस्तृत तारापथ
चिर असीम स्वर-लय.संगति में गुंफित!

षड् ऋतुएँ करतीं नर्तन,
सौन्दर्य मधुरिमा
प्रीति प्रहर्ष धरा पर करते विचरण,
स्वर्ग-मर्त्य को
इंद्रधनुष स्मित स्वप्न-सेतु में
सदा बाँधता ही रहता मानव मन!

चित् प्रकाश से भी रे
जड़ तम अति रहस्यमय,
बोध-दृष्टि से
तम ही का अन्वेषण सार्थक निश्चय!
मानवता का सौध
धरा पर कर निर्मित
चरितार्थ हमें यदि करना
जन-भू जीवन!
जाग्रत् तारागण
आवरण उठा तम-मुख से
इंगित करती हो ज्यों सत्य प्रयोजन-
बोध प्राप्त करने के सँग
यदि रहना जगती में सुख से
तो ज्योति तमस् का
भू-जीवन में करे सांग संयोजन!

ज्योति तमस् के,
जड़ चेतन के भेद मिटें
जन भू मंगल हित
बँधें उभय ही
भर प्रगाढ़ आलिंगन!

सत्य परे नित ज्योति-तमस् से
प्रीति पाश में बाँधे वह जड़ चेतन!
एकांगी भौतिकता

आध्यात्मिकता दोनों,-
ज्योति-कर लिखित
अर्ध रात्रि के नीरव तम में
ध्यान-मौन नभ में
तारापथ दर्शन!

गीत-दूत

खग रह रह तरु वन में गाता!
मुक्त उल्लसित दूत प्रकृति का
मेरे मन प्राणों को भाता!

छिपा गहन गिरि-वन के भीतर
परिचित-से लगते उसके स्वर,
ऐसा ही तो मेरा अंतर,
निभृत-फूट पड़ती स्वर लहरी
गोपन हम दोनों में नाता!

धूपछाँह रहते कानन में
आँधी पानी आते क्षण में,—
दाना चुगने को निर्जन में
खटना पड़ता,- भाव-मत्त खग
उर-प्रहर्ष भू पर बरसाता!

विटप क्रोड़ में नीड़ बसा कर
डिम्बों को सेता सुख-निःस्वर,

चुन चुन कन, शावक मुँह में भर,
शिशु-खग को उकसा .

अनंत उर में उड़ान भरना सिखलाता!
यदि केवल लेना ही जग में,
देना तनिक न जन-भू मग में,
स्वार्थ-समर ही तब पग पग में,
अपने को अतिक्रम कर जीना
नर वरेण्य को सदा सुहाता!
यदि न सुकृत ही शेष धरा पर
तब फिर कहाँ जगत् में ईश्वर?
निज हित में रत सकल चराचर-
औरों के हित भी रहता जो
वही मुक्ति निज-पर से पाता!
जीवन में आते संकट क्षण,
राग द्वेष करते उर में व्रण,
दुःस्मृति से भर आते लोचन,

पर जब ज्वार हृदय में उठता
सुख दुख कूल बहा ले जाता!
खग रह-रह तरु वन में गाता!

गीत-प्रेरणा

मेरा मन गाने को करता
नहीं जानता क्या गाएगा,
कौन भाव अंतरतम में जग
मेरे प्राणों में छाएगा!
पौ फटने पर निभृत क्षितिज
ज्यों हो उठता स्वर्णाभा मंडित,
वैसे ही उर बोध-विद्रवित
हो उठता निःस्वर उन्मेषित!

गोपन स्वर-संगति में जाने
उर-तंत्री कैसे बँध जाती,
सरसी में लहरी-सी कँप
झंकार स्वतः ही ज्यों उठ आती!

गाना मेरे एकाकी प्राणों के
जीवन का मधु-स्पंदन,
वे अपना प्रच्छन्न प्रहर्ष
प्रकट करते गा-गा कर प्रतिक्षण!

मेरी आकांक्षा का पावक
गाने ही से होता शीतल,
वह अतृप्त रह मुझे तपाता,
अंतर को रखता रस विह्वल!

भू-संघर्षण भी मन में छन
गीतों में होता प्रतिध्वनित,
झंझा के झोंके करते जब
हृदय-सिन्धु को निर्मम मंथित!
कहीं खड़ा चैतन्य अडिग
पर्वत-सा, देता मुझे प्रबोधन,
युग विवर्त के मुख से सहसा
उठ जाता क्षण भर को गुंठन!
गाने का महत्त्व मेरे हित
जाग्रत् रखता मुझको मन से
गुह्य सूत्र में बाँध प्राण,
कर देता युक्त जगत् जीवन से!

कभी सूत्र बन सूक्ष्म, सूक्ष्मतर
अंतर को कर देता तन्मय,
जग जीवन से परे चेतना
कोई उर को छूती निश्चय!

अवचनीय रस-गीत-बोध
मेरे मानस को करता प्रेरित,
तब मैं नहीं, और ही कोई
होता स्वर्गिक गायक अविदित!

वय: प्राप्त अंगों में फिर से
बहने लगता अंतर्यौवन,
भावी मानव चिद् वैभव का
बनता चेतस् तद्गत दर्पण!

सृजन-नृत्य करते प्राणों में
श्री शोभा आनंद चिरंतन,
अपने को अतिक्रम कर गाता
मन नव युग-जीवन के गायन!

सृजन-प्रक्रिया

पीला पतझर
मन को भाता!
वह अपने ही रीतेपन में,
सूनेपन में,
मुझे सुहाता!

प्रिय बिछोह का यह सूनापन,
स्मृतियों से
भर-भर आता मन!
पूर्ण समर्पण का पागलपन,
मन ही मन यह
नीरव स्वर में

मर्मर भर कुछ गाता!
सृजनशील मन का सूनापन,
शून्य, सृजन ही का निःस्वर क्षण,
किन अनाम रंगों गंधों—
स्पर्शों से
जाने उर भर आता!
अमित प्रीति से भरा शून्य यह,
विद्युत स्पर्श
हृदय को दुःसह,—
सृजन प्रक्रिया का अथाह
जीवन सागर
भीतर लहराता!
कोंपल नहीं,
प्रीति-भ्रू के व्रण,
छिपा अगोचर
धन्वी चेतन,-
महामरण का उर-मंथन कर
चिर अजेय
जीवन इठलाता!

सत्य-दृष्टि

ऐसा नहीं कि
मैं कीचड़ को नहीं जानता,
उसकी सत्ता नहीं मानता,
या किल्विष में नहीं सना हूँ
मैं विशिष्ट ही व्यक्ति बना हूँ!
ऐसा नहीं! —

गले गले तक मैं
कीचड़-जग में डूबा हूँ
उससे मन ही मन ऊबा हूँ!

कर्दम-पलने ही में
मैंने आँखें खोलीं,
एक तरह से
हम हमजोली!

कर्दम आँगन ही में पला,
उसी में धीरे साँस खींच
मैं ढला!
इसीलिए पंकज कहलाता,
और अटूट हमारा नाता!

पर, मैंने
निज दृष्टि
ऊर्ध्वमुख रक्खी निश्चय
सूरज का मुख चीन्हा निर्भय!
जगा, तपा मैं,
बना अनामय!

अग्नि शिखा मैं,
उठा पंक से,
तिमिर अंक से—
माँ का आँचल
श्री सुषमा गरिमा से भरने
जड़-भू को स्वर्गोन्मुख करने
चित् प्रकाश को वरने!

धरा-स्वर्ग का अग्रदूत मैं,
कर्दम ही का मर्त्य पूत मैं!

नहीं वास्तविकता यह,-
या जीवन यथार्थ यह-
कीचड़ ही कीचड़ है
भू-जीवन का प्रांगण
कृमियों से संकुल घन!
सत्य-दृष्टि यह
कीचड़ को अतिक्रम कर अनुक्षण
जन धरणी को करना
सूर्योन्मुखी उन्नयन!

ज्योति-स्पर्श से अंतर्दीपित
कर्दम मानस में अंतर्हित
चित् सौन्दर्य सरोरुह करना
उसको उर-पलकों पर विकसित!
स्वर्ग मर्त्य एक ही
सत्य-मुद्रा के
मुख नित!

ऋत पतझर

देह-यष्टि में
अब रोमांच नहीं ही होता,
मनोलता में उगते
शोभा-विस्मय अंकुर
नित नव संवेदन हित आतुर!

पहिले मेरा मन भी तन था,
अब तन भी
हो गया दीप्त मन,
उच्च साध्य हित साधन!

देख रहा मैं स्पष्ट
सत्य मैं ही हूँ,
मृद् तन मोह आवरण,-
घेरे था मन को
इच्छाओं का जड़ वेष्टन!

आलोकित मेरे प्रकाश से
अब प्राणों का जीवन,
मिटा काम-सम्मोहन!
अब न अनास्था, संशय, भय
कटु राग-द्वेष का कारण!

पतझर यह,
दुर्धर ऋत पतझर,
घुमड़ रहे झंझा अंधड़
जन-मन क्षितिजों पर,
कड़क रही विद्युत्
कँपता युग अंबर थर्थर्!

अब विनष्ट होने को
जड़ सभ्यता असंशय,
अंध-प्राण भू-आवेशों से निर्दय!

निखर रहा भूमा-प्रांगण में
नव अरुणोदय,
ध्वस्त प्राण-तम
ध्वस्त सभ्य-भ्रम,
जग जीवन
स्वर्णिम विकास गति क्रम में निश्चय!
मेरा तन मन में,
जीवन-मन
युग-आत्मा में तन्मय!

मानदंड

भूमा का विस्फोट हुआ
जब मेरे भीतर
काँप उठा ब्रह्मांड
प्रणत सम्मुख, भय थर्‌थर्‌!

अवगाहा मैंने
रहस्य का सागर-अंतर,
डूबा.... डूबा....
लीन हुआ मैं,-
तन्मय भी जागरित निरंतर!

पट पर पट बहु खुले,
क्षितिज पर क्षितिज अगोचर,
पार किए मैंने उठ ऊपर
सूर्य-दिगंतर!

सुख दुख के जग,
भाव-बोध के स्वर्णिम अंबर,
कर्म-जगत्‌ के जटिल कुटिल पथ
फैले दुस्तर!

शेष रहा बस शून्य,
रिक्त बस शून्य...शून्य भर,
अंतरतम में फूटा तब
गंभीर गगन-स्वर:
मानव ही रे मानदंड
इस निखिल सृष्टि का,-
यही सत्य का चरम बोध,
साफल्य दृष्टि का्‌!

भाव-क्रांति

कितने सुंदर लोग धरा पर
उर हो उठता अर्पित,-
अह, अंत:संतुलन नहीं अब
जग जीवन में निश्चित!
कभी सोचता कारण जब
मन हो उठता उद्वेलित,
क्रूर परिस्थिति पाटों में अब,
जन-भू जीवन मर्दित!

राग द्वेष के मेघ घुमड़ते,
रोष गरजता प्रतिक्षण,
क्षुब्ध-सिंधु-सा आंदोलित
श्रेयस् कामी भू-यौवन!
अल्प संख्य संपन्न
अकिंचन मनुष्यत्व में निश्चित,
जीवन की संकीर्ण दृष्टि को
होना दिग्-भू विस्तृत!

भव संपद् का हो फिर से
जन मंगल हित नव वितरण,
धिक् उनको, जो लोक-दाय पर
बरबस करते शासन!

नया मनुज चाहिए आज,
जन-भू को नव संयोजन,
ध्वंस भ्रंश कर खर्व मूल्य सब
भाव-क्रांति हो नूतन!

छिन्न भिन्न हों जाति वर्ग,
धर्मों के जर्जर बंधन,

नव स्त्री-पुरुषों का समाज हो
मनुज-हृदय का दर्पण!

वेणी वार्त्ता

डूब गई आत्मा की शोभा
चर्म नाव में—
निखिल विश्व से गुंठित!
सत्य कबिरा की बानी
नाव बिच नदी समानी!!
जो निश्छल सौन्दर्य प्रेरणा
उदित हो रही मेरे मन में
वह कलुषित हो जाय न
खोकर त्वच-प्रिय तन में
तम के वन में!

जीवन-कर्म

जीवन का प्रतिनिधि हो
मनुसुत मानव,
श्रेय इसी में-
ऐसा मेरा अनुभव!

केवल मन की भर उड़ान,
छू बोध के शिखर
किसे लाभ?

मदिरा पी स्फीत विचारों की नर-
आत्मा-तुष्टि से घिरा
मध्यवर्गीय अहं-रत,
निज विशिष्ट व्यक्तित्व
बनाए रहता संतत!
विचरे भू पर विविध संत
दार्शनिक, विचारक,
कवि, योगी,
आदर्शों के निष्काम प्रचारक-

लाभ हुआ क्या जीवन को ?-
वैसी ही भू-स्थिति,
बुद्धि उगल चिद् ऊर्ण
न सुलझा पाई अथ-इति!

श्री अरविन्द, रवीन्द्र-
सभी अंतर्नभचारी,
उन्हें नमन करता सविनय
कवि- मन संस्कारी!

जीवन कर्म न हो पाया
जन-भू-संयोजित,
विविध मतों में दीर्ण
हो सका मन न संगठित!

व्यक्ति आज संत्रस्त
निगल ले उसे संगठन,
मुक्ति-वाष्प ले छीन न
सामाजिक अनुशासन!

किन्तु व्यक्ति क्या मुक्त ?
विगत चेतना संघटन

शासित करता जन को,
मन उसका ही वाहन!

वह त्रिशंकु-सा
टँगा अधर में घूम रहा नित,
उसकी मौलिकता?
गत पावक की स्फुलिंग मित!

अंतर्मूल्य मनुज का
तब होगा परिवर्तित
नव्य संगठित जीवन स्थितियाँ
हो जब विकसित-
नव संस्कृति प्रासाद गढ़ेंगी
दिग् भू विस्तृत,
उपयोगी वैचित्र्य
जगत् का रख संरक्षित!

विश्व प्रगति के लिए
अत: हो पूर्ण संगठित
जीवन-कर्म मनुज को निज
करना निर्धारित!

चार्वाक

देहवाद के संभवत: तुम रहे प्रचारक! -
कैसी थी वह देह?- नहीं उससे परिचित मैं,-
क्या वह रज थी जरा मरण रुज् भय से विरहित?
प्रिय चार्वाक, नहीं तुम वह कह पाए, संभव,
कहना था जो तुम्हें- कभी ऐसा हो जाता!

कृच्छ्र-साधना, संयम-तप, साधन से समधिक
साध्य बन गए थे तब, जड़, निषेध विधि पीड़ित,
रिक्त पारलौकिकता ही रह गई ध्येय थी,-
शास्त्रों के आकाश-बेलि -से शब्द जाल में
उलझे पंडित, मृत अमूर्त तर्कों के लिपटे
बोध-ऊर्ण में, तुम्हें चुनौती देते होंगे,
और तिलमिला कर तुम उससे, क्रुद्ध नाग-से,
फुला बुद्धि का उद्धत फन, फूत्कार मार कर,
आस्तिक-दर्शन को डँसने में उलट गए द्रुत!

क्या प्रत्यक्ष न यह ? मानव पीढ़ी दर पीढ़ी
आता पृथ्वी पर-मानव ही उसको लाता! -
मृत्यु-द्वार में कर प्रवेश रुज् जरा जीर्ण तन
नव यौवन से मंडित, नव चेतस् से भूषित,
विचरण करता जग में फिर- किस लक्ष्य के लिए?
नहीं- प्रयोजन निश्चित ही कुछ निहित गूढ़तम
विधि विधान में, सृष्टि सरणि में,-
जो केवल अनुमान ही नहीं!

दीख रहा प्रत्यक्ष,- आदि उस बर्बर युग से
मनुज शनैः विकसित संस्कृत हो- और अनेकों
बाह्य-विघ्न-बाधा के दुर्गम शृंग लाँघ कर
मानव संकट के बहु सागर तैर धैर्य से,
साहस से, -वसुधा-कुटुंब की महत् कल्पना
मूर्तित करने को आतुर-बँध विश्व ऐक्य में!

देह व्यक्ति की नहीं, कि ऋण के घृत से पोषित
वह इंद्रिय-मदिरा पी-पी कर बने अराजक!
वह केवल सामाजिक-तन की लघु प्रतीक भर!
व्यक्ति देह नश्वर, पर मानव अविनश्वर है
निज समाज तन में, -शाश्वत निज विश्व देह में!

उसी अमर देही का, भव विकास गति क्रम में
ऋण के घृत से भी पालन करना समुचित है,-
यही चाहते थे कहना तुम, संभव, उनसे
जो कि पारलौकिक जन, विमुख जगत् जीवन से,
व्यक्ति मुक्ति के रिक्त जाल में फँसे हुए थे! -
इन अर्थों में मैं भी लोकायत हूँ अविदित!

जला दिया था तुम्हें द्वेष- हत विपक्षियों ने
अजर तुम्हारी भस्म जाग नव युग जीवन में
स्वर्ण अंकुरित होगी! मैं भी रूपवाद का
नम्र प्रचारक, सगुण उपासक, जीवन-प्रेमी!

गीतों का स्त्रोत

गीत गगन से झरते गोपन !
वे न धरा पर चलते अब
प्रतिरोध जहाँ कटु चलता प्रतिक्षण!

व्यक्ति आत्म-रक्षा हित चिन्तित,
कला-जगत् कुंठा से पीड़ित,
समय कहाँ, जीवन-शोभा को
मनुज हृदय कर सके समर्पण!

आवेशों से जन संचालित,
कूटनीति, संशय, भय पालित,
राग द्वेष, स्पर्धा कुत्सा का
रण क्षेत्र अब जन-भू प्रांगण!

मनुज, हृदय-मूल्यों से वंचित
सुकृत, सभ्यता से पद-मर्दित,
यांत्रिक ही बनता जाता,
संदेह नहीं, अब मानव जीवन!
परिवर्तन चलता युग-भू पर,
सहृदयता-संपद् अब दूभर,
श्रद्धा आस्था ऊपर-ऊपर,
जड़ यथार्थ ही बना जनार्दन!

अब भी बहिर्जगत् कर मज्जित
कहीं गूढ़ अंतर से प्रेरित
श्री शोभा आनंद मधुरिमा
भर देतीं नव जीवन प्लावन!

नई चेतना के दिक्-सुंदर
खुल-खुल पड़ते मुक्त दिगंतर,
मनोगहन का तिमिर चीर कर
जगता हृतंत्री में गायन!

प्राणों की सरिता में बहकर
नई भावना की मृद् उर्वर
भू- जीवन को चिद्-वैभव से
अभिषेकित कर देती तत्क्षण!
गीत गगन से झरते गोपन!

सौन्दर्य-भैरवी

रुंड-मुंड स्रग्धर
जीवन-चेतना अनश्वर
सृजन-नृत्य कर रही

काल-शव पर
भव-पग धर!

अट्टहास करती वह,
कँपते दैन्य अमंगल,
मृत्यु तमस आलोकित
विद्युत् स्मिति से उज्ज्वल!

वह त्रिलोचना,-
भूत भविष्यत् वर्तमान तर
अभिव्यक्ति देती निज में
अभिनव को सुंदर!

कला-शेखरा,
झरती ऋत संबोधि सुधा
भू-मन में,

सित कपाल पात्री,
भरती नव रक्त
जगत् जीवन में!

अपने में लय, आत्म लीन,
आनंद चेतना, अतिशय,
ज्योति रूपिणी,
पृथु ऐश्वर्य स्तनी,
स्नेहिनी, अनामय!
चिर अनंत यौवना,
कामदा,
जग जीवन-कल्याणी,
प्रणत नमन,
सौन्दर्य-भैरवी,
भाव-तन्मया वाणी!

तड़ित गर्भ, सुरधनु कबरी घन,
ज्यों कृतार्थ होता भू पर झर,
मधुर अप्सरा बनी जनी अब
कुल प्रदीप से ज्योतित कर घर।

गीतिकार बन सका न युग का

गीतिकार बन सका न युग का
हृत्तंत्री में स्वर भर मादन,
विश्व-ह्रास के छाए भीषण
जनगण मन में अंधकार-घन!

रश्मि स्पर्श पा जग जीवन से
करता रहा सतत संघर्षण,
वस्तु परिस्थितियों के जग में
भरने मानवीय संवेदन!

चिन्तन रत उर नई दृष्टि
दे सके मनुज मन को कर प्रेरित,
नई चेतना के प्रकाश से
हृदय प्राण मन हों रस-मंथित!

मैं न ध्वंस करने आया हूँ,
या मानव जीवन ही खंडित,
उसे पूर्ण, पूर्णतम बनाने
आया हूँ-कर नव संयोजित!

जो जिस स्थिति में---वहीं रहेंगे,
उठ न सकेंगे निज में सीमित,
नई चेतना का विरोध कर
यदि वे रहे ज्योति से वंचित!

क्षुद्र और भी क्षुद्र लगेंगे,
राग द्वेष तम कर्दम में सन,-
नव विकास के सोपानों पर
मनुष्यत्व करता आरोहण!

बोध के गीतों को कर
नव प्रकाश स्वर लिपि में गुंफित
रुद्ध मनुज उर तंत्री को मैं
कर जाऊँगा पावक झंकृत!

आत्मा के संगीत स्रोत ही से रे,
जग जीवन संपोषित,
जीवन मन प्राणों की गति लय
जिसमें हो उठती रस मज्जित!

धरती के खूँटे से

धरती के खूँटे से
बाँध दिया अब मैंने
अनघ विद्ध आत्मा के
उज्ज्वल मुख प्रकाश को!

कल्पलता सा फैल
धरा के रोम-रोम में
अनुप्राणित करता वह
भू जीवन विकास को!

आध्यात्मिकता को
यथार्थ रज में भूषित कर
सूक्ष्म दार्शनिक सत्यों में

जीवन के मांसल
रूप रंग भर,--

मूर्त कर गया हूँ
अमूर्त को मैं
मानव के स्वप्न--वास को
सत्य-पीठ पर
स्थापित कर लोकोत्तर!

पंख कटी चेतना
बद्ध इंद्रिय पिंजर में
नैतिकता की
कृपण तीलियों से थी
निर्मम परिवृत,--

प्राणों के रस मुक्त गगन में
अब उड़ान भर सकती वह
नव भाव बोध के पंख मार
अंत:स्मित!
लौह पटरियों पर तर्कों की
रेंग रही सभ्यता अभी
दिग्भ्रांत बहिर्मुख धावित,-

भावी पीढ़ी जीएँगी
मेरी आस्था को
अंतर्मुख स्थित,-
जीवन पथ होगा जब
अंत: सूर्य सत्य से दीपित!

धरा चेतना की
मैं पार्थिव स्वर्ण रज्जु में
बाँध गया हूँ मानव को--

बंधन में मुक्त असंशय,
स्वर्ग नरक को अतिक्रम कर
नव कर्म प्रेरणा
भू-रचना के स्वर्ग सृजन में
उसे धरेगी सर्वश्रेय रत,तन्मय।

आँख मूँदता अब मैं

आँख मूँदता अब मैं
बाहर के जग के प्रति,
उसको विघटित होना
मुझे न संशय।

आत्मनिष्ठ कह ले मुझको
कुछ द्वेपी दुर्मति,
धूम शेष सभ्यता वाष्प
होगा क्षय।

व्यर्थ भटकना
ह्रास निशा के
अंधकार में
नहीं मनीषी
प्राज्ञ जनों को भाता,
अभिव्यक्ति पाने को
प्राणों का अंतर्जग
अंतर्द्रष्टा कलाकार
कवि के मन में अकुलाता।

संयम धर्मा कला
उसे कढ़ धूल धुंध से

पतझर में खोजना
नए जीवन बसंत का आगम,-
झरें शब्द
पीले पत्तों-से,
भाव बोध के
स्वर्णिम अंकुर फूटें,
सार्थक कर
रस स्रष्टा का श्रम!

अंतर्मुख आनंद छंद
झंकृत करता मैं,
वितरित कर जन जन में
पावक चेतन!
नव प्रकाश, सौन्दर्य, प्रेम के
क्रांति बीज बो
ज्योति प्ररोहित करता
नव-भू-जीवन!

उड़ता मन
विद्युत् प्रहर्ष के
पंख खोल नव
मुक्त चेतना अंबर में
ध्वनि तन्मय-
हृदय सहज ही गा उठता;
पग पग पर विस्मय
प्रेरित करता उसे-
गुह्या निर्वाक् भागवत विस्मय,-
लीन निखिल अब
जीवन के भय संशय!
प्लावित करता चंद्र ज्वार
मेरे प्राणों का
युग-युग का कल्मष धो
भू-प्रांगण से-

अंतर के ऐश्वर्य सिन्धु में
मज्जित करता
बाहर की मैं निखिल क्षुद्रता
पोंछ मनुज जीवन से!

वन्य विहग

वन्य विहग-
ये मुझे घेर मँडराते,
नीड़ बसा कानों में गाते--
सौ सौ स्वर मन को भाते!

बिम्ब विहग,
भावों के खग!

हलकी गहरी
तूलि भरी
इनके पंखों की
रोमिल रंगों की छायाएँ
दृष्टि चमत्कृत करतीं
इंद्रधनुष मद हरतीं!

मुझे उड़ा ले जातीं जाने
किस अदृश्य-कल्पना लोक में,
बिना रोक मैं
विचरण करता
सूक्ष्म अतीन्द्रिय स्वप्न जगत् में,
जिससे रंच नहीं अवगत मैं!

(वहाँ अशब्दित नाद-
नहीं वागर्थ कहीं भी;
मुक्त मौन आह्लाद,
भाव खग सही, नहीं भी!)

गातीं, गातीं
ये अबूझ छायाएँ गातीं-
गा गा कर
पथ मुझे सुझातीं!-

गाते जाओ, गाते जाओ
गाते जाओ,
(वे मुझको सिखलातीं)
शब्दों में न रमाओ,
भावों में न समाओ!

हृदय खोल कर
गा लेना ही
सत्य है परम,
कुछ न बोल कर
कह लेना ही
कला है चरम!

शब्द अर्थ
ध्वनि अंलकार
सब व्यर्थ-
कला की हार,
सृजन के लिए भार!
गाओ, गाओ,
ऐसे गाओ
गाने ही में लय हो जाओ!

स्वर संगति में तन्मय
बँध जाए संसार!
चिन्मय- पंख पसार
खोल अंतर के द्वार!

व्यर्थ,- व्यर्थ शब्दों की पलटन,
व्यर्थ वधृ उपदेश, प्रबोधन,
इससे संभव नहीं जागरण!

मनुज हृदय को करना संस्कृत
अतंर्लय में बाँध अतंद्रित!-
निखिल सृष्टि अच्छिन्न छंद है,
स्रोत सृजन का महानंद है।

सृष्टि छंद निःशब्द प्रेम है,
वही सूक्ष्म स्वर संगित जग की,
वही पूर्ण रति,
वही क्षेम है!

काव्य-प्रेरणा कर्म-प्रेरणा

काव्य प्रेरणा कर्म प्रेरणा
यदि बन जाती
तो मैं तुमको सौंप
मधुर गीतों की थाती-

नए छंद में गढ़ता
जन धरणी का जीवन,
नई चेतना का भर
मानव उर में स्पंदन!

काव्यात्मक होते भू-कर्म
सृजन-सुख झंकृत
जीवन-शोभा-रचना प्रति
जन मानस प्रेरित!

देश देश की यति-गति
कहीं न होती खंडित,
स्वर संगति में बँधी मनुजता
होती संस्कृत!

मैं अंतः सौन्दर्य बीज कर
रज में रोपण
मनुष्यत्व के शस्यों से
भरता भू प्रांगण!

अग्नि पंख होते चिद् बीज
प्रकाश प्ररोहित,
मनोदिगंतों को कर
जन के प्रीति पल्लवित,-

नव भावों, स्वप्नों से
अपलक रखते लोचन,
कला शिल्प के उगते
मन में नव संवेदन!

भौतिक संपद् से समधिक
चेतस् का संचय,
उससे समधिक होता
आत्मिक वैभव अक्षय!

अंतर्मुख मन, बहिर्व्याप्त मति,-
उभय संतुलित

सत्य स्पर्श से होता
हृदय मनुज का पुलकित।

सर्वोपरि होता
जग जीवन तुमको अर्पित
मनुज प्रीति से
निखिल विश्व-जीवन आलिंगित।

गीति चेतना कर्म चेतना
यदि बन पाती-
धरती होती स्वर्ग
सृष्टि उपकृत हो जाती।

यह सृष्टि साँस लेती अहरह

यह सृष्टि साँस लेती अहरह,
रहती समीर इससे चंचल
शोभा मे करती धरा स्नान,
ज्योत्स्ना जल सी लगती उज्ज्वल!

निशि की वेणी मे मुक्ताफल
गूँथता निभृत तारा अंबर,
यह प्रकृति पुरुष का प्रिय कुटुंब-
रस उपकृत रहते सचराचर।

धरती की आकांक्षाएँ ही
खिल पड़तीं रंग सुमन बन कर
अविराम प्रतीक्षा में उठ उठ
तकते रहते लहरा सरि सर!

यह रति उन्मद पद पायल ध्वनि-
सुन पड़ती सरिता की कल कल,
प्राणों के जीवन से प्रमत्त
जगती रोमांचित रंगस्थल!

घट-बढ़, ओझल हो चंद्रकला
खेलता मिचौनी श्री-सस्मित,
भाती ऊषा लज्जा लोहित,
संध्या प्रियतम में ध्यानस्थित!

पूछते गगन से प्रश्न मौन
अँगूठे के बल उठ पर्वत,
तरु बाँह उठाए रहते नित
जाने क्या कहने को उद्यत!

क्यों देख चंद्र-मुख सागर में
उठता रस ज्वार? बताऊँ क्या!
यह मानव हृदय अथाह,
भला, उसका रहस्य समझाऊँ क्या!

खग गाते, रहते फूल मौन,
दोनों ही कुछ कहते निश्चय,
भाषा से मुखर अशब्द भाव,
उनसे भी मुखर सृष्टि-विस्मय!

जग जीवन मन को अतिक्रम कर
यह परा चेतना अति जीवित,
ब्रह्मांड समस्त अखंड सत्य-
भूमा के जीवन से स्पंदित!

अब भी व्यक्तिमुखी मन

अब भी व्यक्तिमुखी मन
मेरे भीतर जग कर
भव यथार्थ से भग कर
मुझको रखता भाव समाधित!

मैं अपने को खींच
मुक्त बाहर के जग में
पूर्ण चाहता होना प्रसरित!

मन अब गीत गा चुका अनगिन,
भावों के तिन
चुन कर बुन कर
भू-स्वप्नों के नीड़
बसाता रहा सभी दिन!

अब गीतों के स्वर को
भू-कर्म में पिरो
मुझे सँजोने दो जन हित
जीवन के घर को!
जग को सौंप
तुम्हारे सृजन-कला के वर को!

शांत, सौम्य, अंत: स्थित अंतर
बाहर निकलें,
दुख में पिघलें,-

भाव-बोध बाँहें फैला कर
छुए प्रसन्न धरा दिगंत को-
बाहर के जीवित अनंत को!

चिड़ियों के कलरव से
पशुओं की पुकार से,
जनगण कोलाहल से
स्वर की प्रखर मार से
जगे युगों से समाधिस्थ
उर-अंबर!

और नहीं तो,
मैं मिट्टी के पात्र बनाऊँ
कुंभकार बन
जन धरणी का गात्र सजाऊँ
मन को जीवन-छात्र बना
सुख पाऊँ!

यह भी नहीं,
धरा पर टेढ़ी रेखा खीचूँ
विधि से भीत न आँखें मींचूँ,
रेखा भले न पथ-दर्शक हो,
पर अपने में आकर्षक हो,-

इसी प्रकार
कर्म के रस से
मन को सींचूँ!

कर्म काव्य हो,
भले कृच्छ्र-
संभाव्य हो!

कला कुशल कर से
जग का निर्माण करूँ मैं,
विश्व कर्म तंत्री में
जीवित गान भरूँ मैं।

अब भी मध्ययुगी मन
मुझको आत्म निष्ठ कर
जग के प्रति करता आशंकित,-

कर्म विरत, जीवन उपरत,
रस रूप स्पर्श आकांक्षा को
करता अस्वीकृत,-

अनजाने भय संशय से
मनको रख नित
आतंकित!

मैं जन भू का कवि हूँ

मैं जन भू का कवि हूँ
जन जीवन मन हित
नव स्वप्नों की
स्वर्गिक संपद् लाया हूँ!

निर्मम यथार्थ पाटों में
पिसते भू जन,
सह रूढ़ि रीति के
लौह शृंखला बंधन,

मैं स्वप्नों के चिन्मय
विद्युत स्पर्शों से
उनको उबारने
तापों से आया हूँ!

मैं प्रेम गीत लिखता
साँसों को दुह कर,

खोजा सर्वत्र,-न मिला
प्रेम धरती पर!

मेरे स्वप्नों की स्त्री
कल रूप धरेगी,
वह युग- आत्मा,
मैं युग की स्वर-काया हूँ!

मैं विचर चुका
भौतिक आध्यात्मिक स्तर पर
दोनों एकांगी-
उनसे मंगल दूभर!

मैं सृजन प्रीति स्वप्नों से
अंतः प्रेरित
सौन्दर्य साँस सा
उर उर में छाया हूँ!

आत्मा औ' मन की
धूप छाँह संचित कर
मुझको रचना जन भूपर
जीवन का घर, -

जग ही में मुझे
प्रतिष्ठित करना प्रभु को,
मैं भाव कोख से
ईश्वर का जाया हूँ!

गत देश काल के
मूल्यों को अतिक्रम कर
जीवन का स्वर्ग
बसाने आया भू पर,-

वाणी का सुत,
युग अग्रदूत, नव मधु पिक,
समझो तो सत्य
न समझो तो माया हूँ!

संक्रांति

पीले पत्तों में लपेट दी तुमने पांडुर
विश्व प्रकृति की देह-धूल से सँजो क्षितिज मुख!
मुक्त दिगंबर अंतरिक्ष दिखता चिन्तन रत,
सुंदर लगता मौन दृश्य संहार सृजन का!

यह शिव का हो महा श्मशान-शून्य, भस्मावृत,
जहाँ जगत-जीवन लेता नव जन्म निरंतर-
वरद अष्टमुख तत्त्वों की पावन छाया में!
गर्भित विश्व प्रकृति-भावी की स्वर्णिम कोंपल
जाग रहीं स्वप्निल तंद्रा से, युग चेतन हो!

मानव के अंतर्जग में भी गूढ़ अगोचर
महा क्रांति अब मची हुई-चेतना बिटप में
नग्न ह्रास विघटन का पतझर छाया दारुण!
अंध धुँध में देख न पातीं मन की आँखें-
अंधकार ही भाव-मूल्य बनता जाता अब!

मृत्यु त्रास संशय-हिम जर्जर, आस्था विरहित
देख न पाते लोग ओट में दिग् विनाश की
नया मनुज ले रहा जन्म अब नए विश्व में!

अति यांत्रिकता

निर्मल अब आकाश! धरा दिग् ज्योति स्नात सी
सुंदर लगती! बीत गए झड़ झंझा के दिन!
निखर उठी अब सृष्टि सद्य जन्मे नव शिशु सी!
शांत समीरण-श्वास रोक एकाग्र समाधित!
पत्र अकंपित, नम्र क्षितिज, हरिताभ धुले तरु
ऐसा उज्ज्वल स्पर्श विश्व का मिला न पहिले!
संभव, आँधी पानी दुर्दिन मे पीड़ित जग
ऐसी सौम्य पवित्र मन:स्थिति अनुभव करता।

वर्तमान झड अंधड़ तूफानों का युग भी
रौंद रहा अब मनुज जगत् को अपनी यांत्रिक
लौह भयंकरता से ध्वंसात्मक टापो से।
अट्टहास करता कंकाल खड़ा यंत्रों का!
परिवर्तित हो रही पीठिका भू जीवन की
उद्वेलित चेतना! चतुर्दिक् उथल पुथल सी
मचती जाती, - जड़ यांत्रिकता का आडंबर
बढ़ता जाता! सिमट रहा जन जगत् विवश हो,
सर्पो की ऐंठी रस्सी सा! देश विषैले
पाशों में कसते जाते हैं, भौतिकता के
जड़ विद्युत् दंशों से प्रेरित। कहाँ आज जग,
किधर मनुजता, क्या ध्रुव लक्ष्य। न समझ पा रहा
मनुज बुद्धिहंत! दानव से संगजक यंत्र ही
संचालित कर पाएँगें संभव भविष्य में
मनुज नियति को, जग जीवन को! स्वयं मनुज
बन रहा यंत्र प्राविधिक तंत्र कौशल में दीक्षित!
कंप्यूटर ही कंप्यूटर अब रह जाएँगे
कल के जड़ जग में—विस्थापित कर मनुष्य को!
वही सिन्धु आंदोलित, जटिल, परस्पर गुंफित
महत् विश्व जीवन को स्यात् धरें सुव्यवस्थित,-
बहिर्भ्रान्त नर कृमि सा रेंगेगा तब भू पर!

या संभव, नर आत्म-बोध से अभिप्रेरित हो
अंध धुंध से ऊब यंत्र युग की झंझा के,
विचरण करे नए क्षितिजों की निर्मलता में
यांत्रिकता के धूमों से उन्मुक्त विश्व में
मनुष्यत्व को यंत्रों के ऊपर स्थापित कर!

और, तड़ित् अणु के अश्वों की रश्मि खींचकर
खोजे अंतर्मुख जीवन-सौन्दर्य, शांति, सुख!

कला की सार्थकता

'कैक्टस युग' अब विद्यमान साहित्य, कला में,-
अभिवादन करता मन! संवेदना वह रही
उपेक्षितों, दलितों विकृतों के प्रति--असंख्य जो!
वांछनीय यह सभी भाँति--भू की कुरूपता
मिटे, हटे दारिद्रय, छँटें दुर्दिन के बादल!
कैक्टस प्रमुख प्रतीक आज विकलांग जगत् का!

देख सके सौन्दर्य असुंदरता में भी मन,
क्योंकि असुंदरता केवल संकीर्ण दृष्टि भर!
कैक्टस हो कर्दम-सब कुछ ही सुंदर जग में!
विकसित हो भू—मन, व्यापक सौन्दर्य-बोध हो,
कला दृष्टि नव रूप करे निर्माण विश्व का—
सभी समान,—बहे जग में न विषमता का विष!

पर, गुलाब का मूल्य न इससे कम हो सकता!-
गुण विशिष्टता सदा समादृत होगी जग में!
सौकुमार्य, सौन्दर्य, सुरुचि, संस्कार सूक्ष्मतम

क्रम विकास के शाश्वत श्रेष्ठ प्रतीक रहेंगे
जगत् चक्र में! साधारणता की शोभा में
अवगाहन कर—मूल्य समझ पाएगा हृदय
अधिक सत्तम का, —जो विकास का लक्ष्य निरंतर।

अत: कैक्टसों की बहुमत की जन-युग भू पर
आभिजात्य गरिमा, अंत: शोभा के कारण,
गौरव मिलता सदा रहेगा गुण विशिष्टता को
विभूति जो!
गुण वैशिष्ट्य अल्पमत होने पर भी विजयी
होगा संतत, सृजन-कला की सार्थकता जो।

भारत भू

युग युग की आस्था मन की डगमगा रही अब,
धरती सा धीरज भी भूजन खोते अपना,
रक्त-नखर-द्रष्टा निर्मम यथार्थ के सम्मुख
मानवीय आदर्शवाद सब लगता सपना!

औंधे मुँह गिर पश्चिम के जगमग प्रभाव में
अंध अनुकरण करते नव शिक्षित पग पग पर,
भूल गई भू अपना अंतर-आलोकित मुख,
जीवन स्थितियाँ होती जातीं प्रतिदिन दुस्तर!

लोग न परिचित निज भू की संस्कृत आत्मा से,
मध्ययुगी कीचड़ में लिपटे रूढ़िग्रस्त जन,
हीन भावना पीड़ित इस दिग् भ्रांत देश का
ईश्वर ही रक्षक! विघटित होता प्रतिक्षण मन!

तोड़ रही दम मृत्यु-शांति छाई अंतर में
कभी घुमड़ आए भू पर घिर अंध बवंडर-
रक्त स्नान कर घृणित विषमताएँ जीवन की
संभव, नव रचना समत्व में बँधें परस्पर!

मुझे महत् आशा भारत भू के भविष्य में
जो अंतर्मुख आत्म-सत्य की साधक निश्चित,
मानवीय ऐसा पदार्थ दुर्लभ जगती में-
जागेगा यह देश-करेगा जग को जागृत!

कविधर्म

सच कहना ही जग में कवि का धर्म है,
उसे नहीं कोई माने या पहचाने,
बाहर का जन-घोष नहीं कवि की वाणी,
भीतर स्वर जगने पर वह लगता गाने!

वह यथार्थ के माप तोल की तुला नहीं,-
भाव बदलता रहता जिसका दिन प्रतिदिन,
मानव आत्मा की गरिमा का ज्ञान उसे
जिससे सार्थक होते जीवन के पल छिन!

शब्द नहीं हैं जहाँ, भाव भी मूक जहाँ,
वह अवाक् नीरवता को देता वाणी,-
सोई रहती जग के कोलाहल में जो
निराकार की प्रतिमा गढ़ता कल्याणी!

आंदोलित जन सागर जब भरता गर्जन
ध्यान मौन सुनता युग परिवर्तन के स्वर,

सौम्य चंद्र सा सूक्ष्म ज्योति बरसाता वह
जन धरणी को नव जीवन ज्वारों से भर!

निखिल विषमताएँ स्वर-लय में बँध जातीं
बनता युग-संगीत जगत् का संघर्षण,
कटु यथार्थ ढल नए विश्व आदर्शों में
मंगल घन बन बरसाता बन भाव सुमन!

वह महानता में लघु, लघुता में महान्,
वह विशिष्टता से विशिष्ट भी साधारण,
रक्त, मांस पेशियाँ, अस्थियाँ गातीं सब
रचना शुभ प्रति निखिल शक्ति उसकी अर्पण!

मध्य स्थिति

मैंने चुना अधर अपने हित,
यही मध्य स्थिति सबसे सुंदर!

जी करता, होता ऊपर लय,
भू पर विचरण करता निर्भय,
अंतर तुम में रहता तन्मय-
आता जाता बाहर भीतर!

हृदय कमल में स्थित तुम मेरे
जग जीवन नित रहता घेरे,
मुझे चीह्नते स्नेही चेरे
भव विकास अवलंबित जिन पर!

मैं साधारण से साधारण
उर में लिए धरा जन के व्रण

मुझे हिमालय प्रति हिम का कण,
सत्य अखंड, अखंड चराचर!

बद्ध नहीं मैं, मुक्त नहीं मैं,
तुम से चिर संयुक्त कहीं मैं!
तुम्हें देखता सदा यहीं मैं
मनुजों में तुम मनुज अनश्वर!

आत्म-नम्र रखते तुम मन को,
शाश्वत-गर्भित जीवन-क्षण को,
भरते करुणा से भू-व्रण को,
मिटा आत्म-पर के लघु अंतर!

दूर निकट आता जाता नित,
जड़ नव चित्-स्पर्शों से प्रेरित,
उर को तुम नित रखते विस्मित
खोल दृष्टि में नया दिगंतर!

आत्म परिचय

बदल रहा भू मानव अंतर,
बदल रहा अब विश्व दिगंतर,
अपने में स्थित
नव समाज-रचना में रत
मैं प्रतिक्षण!

सीमित जग, कंटकित धरा मग,
मोह पंक में डूबे जन पग,
जग के बाहर से लाता
रचना सामग्री गोपन!

अंधकार में चलता अनुक्षण
बल पाता भय संकट से मन,
खुला हृदय में प्रीति-स्पर्श से
ज्योति-नयन वातायन!

मैं अनंत प्रतिनिधि, गत बंधन,
कालहीन आलोकित लघु क्षण,
जन्म मरण जीवन से पर -
शाश्वत-मुख का सित दर्पण!

सूक्ष्म वस्तुओं से चुन चुन स्वर
संयोजित कर उन्हें निरंतर,
'मैं कबीर-पंथी कवि'
भू जीवन पट बुनता नूतन!

नवचेतन

आत्म तुष्ट मन करता सर्जन!
नव चेतन हो गाने लगते
धरती में बिखरे खर तृण कण!

सुन पड़ती रस चाप तुम्हारी
जब तुम तन्मय करतीं नर्तन,
श्री शोभा से सहसा मंडित
हो उठता जन भू का प्रांगण!

मन के नयन श्रवण खुल पड़ते
दृश्य शब्द बन जाते निःस्वन,

वस्तु जगत् के मुख से उठता
साधारणता का अवगुंठन!

क्षितिजों में चित्रित हो उठते
रश्मि तूलि वर्णों के गायन,
अंतरिक्ष के पार मौन तुम
विद्युत् इंगित करती गोपन!
सत्य मुझे जीवन पदार्थ में
दिखलाई देता तब नूतन
जब पद अर्थ खोलती तुम नव
सूक्ष्म हृदय में भर संवेदन!

बहिर्जगत शव, स्पर्श तुम्हारा पा
जी उठता बन नव चेतन,
मृत्यु चिता लपटों में सुनता
नव जीवन स्फुलिंग का स्पंदन!

क्रांति-युग

बहिर्भ्रान्त मानव मन को
निश्चय ही अंत:केन्द्र चाहिए,
तभी सभ्यता उठ पाएगी
संस्कृति के सित सोपानों पर!
आत्म संतुलन आ पाएगा
विविध परिस्थितियों में जग की,
मनुष्यत्व की परिधि बहिर्जग,
केन्द्र प्रबुद्ध-हृदय के भीतर!

सामाजिकता बृहद् बिम्ब
पृथ-उदर जगत्-दर्पण में बिम्बित
मनुज सत्य का,-आत्मा जिसकी
सारभूत सित प्रतिनिधि निश्चित!
सरल नहीं अंत:केन्द्रित होना
जन साधारण के स्तर पर,
विजयी होती आत्मबोध पर
बहिर्मुखी जन-प्रकृति निरंतर!

आज ध्वंस हिंसा संघर्षण के
समुद्र में रक्त स्नान कर
जन मानवता नव समत्व में
बँधती, क्षुद्र विषमताएँ तर!-
आत्मतुष्ट अब मन: संगठन
गत युग के मानव का बर्बर,
नई एकता स्थापित करता
युग, समत्व की सुदृढ़ भित्ति पर!

महत् क्रांति युग: मनुज जगत्
होता आमूल चूल परिवर्तित!
जीवन के स्तर पर अमूर्त
आत्मा होगी गुण-मूर्त प्रतिष्ठित!
वस्तु जगत् भी मानव आत्मा ही का
प्रतिबिम्बित मुख दर्पण,
भाव वस्तु या जड़ चेतन
ईश्वर के सृष्टि साध्य औ' साधन!

निर्घोष

सृजन शंख,
नव स्वर ध्वनियों से
गर्भित हो अब जन भू का मन,
नए बोध के अंकुर फूटें
जगें रुधिर में नव संवेदन!

युग समुद्र मंथन से निकला
कालकूट जो भीषण मादन—
उसकी मसि में डुबा लेखनी
सृजन अमृत में करता वर्षण!

श्वेत कृष्ण को
सुधा गरल को मिला
बना नव रस संजीवन,
मृत्यु मेघ को दुह-दुह मैं
बरसाता जन-भू पर नव जीवन!

ध्वंसास्त्रों से आज पराजित
असुर शक्तिबल संचय निश्चय,
क्षमा क्षमा ही मानवीय बल-
मनुज मनुज के प्रति हो सहृदय!

युद्ध युद्ध से नहीं थमेंगे,
घृणा न मानव जीवन दर्शन,
हिंसा देगी शांति न जग को-
प्रेम स्पर्श ही भरता उर-व्रण!

सत् की करो समृद्धि—असत् का
सह निर्मम युग-भृगु पद-लांछन,
सत् संकल्प शक्ति सामूहिक
युग पथ संकट करे निवारण!

लेनिन के प्रति

एक शती के बाद आज भी लगता मन को
महापुरुष अवतरित हुए तुम लोक धरा पर,
जन गण की दारिद्र्य दुःख दासता निशा की
क्रूर निरंकुश युग युग की बेड़ियाँ तोड़ने!

रुद्ध प्रगति, स्तंभित थे युग इतिहास के चरण,
प्रस्तर युग की रूढ़ि रीतियों में पथराए,-
आंदोलित कर लोक चेतना सागर तुमने
मज्जित की गत सीमाएँ जन-मुक्ति ज्वार में!

दिगव्यापी भू-कंप सदृश तुम विचरे भू पर
छिन्न-छिन्न कर जीर्ण आततायी जन-बंधन-
नया मोड़ दे यंत्र-सभ्यता को जन युग को!

शतियों से पद दलित क्षुधित, शोषित असंख्य जन
वर्ग सभ्यता के खँडहर से जगकर सहसा
जीवन-मुक्त लगे बढ़ने पा नया दिशा-पथ
नव आशाऽकांक्षाओं के स्वप्नों से प्रेरित!

रक्तोज्ज्वल मानव गरिमा के नए सूर्य-से
उदित हुए तुम विश्व क्षितिज पर महिमा मंडित,
जन-भू के ओने-कोने का अंधकार हर
दिक् प्रसन्न जीवन-प्रभात का जन प्रांगण में!

धन्य महामानव, भू पर चरितार्थ कर गए
वैज्ञानिक युग को तुम—निखिल शक्ति का संचय,
यंत्रों की संपद् वितरित कर जन-मंगल हित!

नवोन्मेष उर में, नयनों में सृजन-स्वप्न नव,
अगणित कर-पद सामूहिक श्रम-बल उन्मेषित
बढ़ते जन संस्कृति का नव प्रासाद सँजोने!

देख रहा मैं अनतिदूर, भावी आँगन में
धरा-स्वर्ग कल्पना शनैः साकार हो रही—
भू मानवता निकट आ रही अधिक तुम्हारे!
लोक क्रांति के दूत, जानता सूक्ष्म दृष्टि से
तुम गाँधी एक ही सत्य के शुभ्र संस्करण,—
देह प्राण मन के मानव को उपकृत करने
आए तुम, जन-भू कृतार्थ अब बहिः संगठित!

मनुज हृदय को उन्नत करने आए गाँधी
आत्मा का दे सौम्य स्पर्श अंतर्मुख मन को-
तुम से लेकर महत् साध्य, गाँधी से साधन
निखिल विश्व-जीवन संयोजित हो जन-भू पर
बहिरंतर वैभव प्रतिनिधि बन : (आज विपक्षी
सैन्य शक्ति शिविरों में खंडित!) मनुष्यत्व का
हृदय सत्य-स्पंदित हो, निर्मम यांत्रिकता के
लौह अस्थिपंजर में जकड़ा अर्थ-काम से!
मानवीय गौरव हो प्राप्त जगत् जीवन को!

महाध्वंस की आशंका से मुक्त धरा जन
विश्व शांति के सित सहस्रदल पर दिग् विस्तृत
लोक साम्य सँग विश्व ऐक्य को करें प्रतिष्ठित-
मनुज प्रेम के आलिंगन में बाँध धरा को!
तुम्हें नमन करता शत, लेनिन,भारत का कवि—
आविर्भाव तुम्हारा था अनिवार्य जगत् हित!

आस्था

भगवद् द्रष्टा होते कवि

भगवद् द्रष्टा होते कवि
भगवत् स्रष्टा भी,
सृष्टि चाहती
ईश्वर जीवन में हो विकसित!

नए राम रच रही
चेतना
अभिनव सीता,
उसे नया रामायण लिखना
अब नव गीता!

विगत युगों के सत् में लिपटा
नील कलेवर,
नव युग चित् रज से मंडित
श्री स्वर्णिम भास्वर!

ईश्वर ही कवि में द्रष्टा
कवि में स्रष्टा नित,
धरा स्वर्ग में ईश्वर होता
शनैः अवतरित!

भूत भविष्यत् का समर स्थल

भूत भविष्यत् का समर स्थल
वर्तमान युग,-
गत अभ्यासों से निर्मित
जन-भू का जीवन,

उसे बदलना मानव को
कर यत्न अनवरत,
दुर्गम अवरोधों को लाँघ
मन: स्थितियों के!

महाक्रांति के मेघ
घुमड़ते उपचेतन में
आवेशों की आँधी में
पतझर-पत्तों सी
रूढ़ि रीति पद्धतियाँ
झर, मिटतीं भू रज में!-

प्रेतों-से आदर्श
विगत युग के मँडराकर
लौह पगों से
सूक्ष्म प्ररोहों को भावों के
कुचल रहे, संशय-भय
मृत्यु अनास्थावादी
जड़ अतीत के प्रतिनिधि
ऋण संगठित धरा पर,-
आग्नेयों से विश्व ध्वंस
ढाने को उद्यत,
मानवता से वंचित
पाशवता के रक्षक!

धीरज रक्खें,

भावी मनुष्यत्व के प्रेमी,
असुरों को कर आत्मसात्
पोषित होते सुर!

निःसंशय, इतिहास
बदलने को करवट अब,
विजयी होगी मनुज नियति
युग संघर्षण में,
विजयी होगा मनुष्यत्व
जड चेतन रण में!

रुद्र मन्यु अब टूट रहा हो

रुद्र मन्यु अब टूट रहा हो
वज्र क्रूर बन
भय संशय, संत्रास
अनास्था हरने जग की!
तिग्म ज्योति के तीर
घुस रहे मनुज हृदय में
धरा प्रकृति की क्षुद्र वृत्तियाँ
दीपित करने!

घूम रहे घायल दिगंत
अब महावेग से
विस्तृत करने सीमित परिधि
जगत् जीवन की!

काँप रहे भूधर थर-थर
जड़ बोझ से दबे

भाव सिन्धु का ज्वार
डुबाता मूल्यों के तट!

जीर्ण केन्चुली झाड़ रही
दुश्चिन्ता साँपिनि,
शोकमुक्त आस्था के
पंखों में उड़ खग सी!
कहाँ गया उर-अंधकार अब
बुद्धि-भ्रांति, भय?
नव प्रभात में लीन हो गए
विगत प्रेत सब!

भँवर दीख पड़ता था
जो जीवन-समुद्र में
वह सहस्रदल विकच कमल
निकला चेतस का!

लोक क्रांति, परिवर्तन,
वाहक बन विकास के
नव मानवता की
स्वर संगति में अब बँधते!

ओ मानव मन

ओ मानव मन,
जन-भू-जीवन में चाहो यदि
नया संतुलन,
नव स्वर संगति,

नई प्रगति या,
उठो, नई मानवता की
भू पर विचरो तुम!

आस्था का कर पकड़
चढ़ो अंतः शिखरों पर,
नव शोभा गरिमा
वितरित करने जन-भू पर!
अर्पित कर भूमा को जीवन-
मनुष्यत्व के
गौरव वाहक बनो विश्व में,—
आत्मजयी बन!

मूल स्रोत पकड़ो आस्था का

मूल स्रोत पकड़ो आस्था का
जो प्राणों की
भाव-भूमि में बहती
सित चेतना तरंगित,—
तर्कों वादों के पुलिनों को
रस मज्जित कर!

सूर्य-चंद्र मुख धोकर अपना
उसके जल में
नव प्रकाश वितरित करते
भू-जीवन पथ पर!
भाव बोध के परम उच्च
स्वर्गिक शिखरों को

करती वह नित पार
बिना गति के ही क्षण में,-

मरकत गहाराइयाँ
थाह लेती अयास ही
जहाँ सूक्ष्म संवेदन भी
न पहुँचते मन के!

जीवन के विष दंशों को
वह अमृत लेप से•
भरती रहती,
घृणा-द्वेष का
मनुज प्रेम में रूपांतर कर!

जन भू रज में सनी
कृषक सी
अग्नि बीज बोती
यथार्थ की बीहड़ भू पर
जो खर कंटक भर उपजाती
बंजर मन में!

नव प्रबोध के
स्वर्णिम लपटों से कर दीपित
अंतरिक्ष जीवन प्रकाश का
भाव-प्ररोहित!

वाह्य विश्व से बड़ा विश्व

वाह्य विश्व से बड़ा विश्व
मेरे अंतर में....
उद्भासित हो उठता प्राय:
ध्यान मौन जब
रहता अंतर!—कहीं अधिक
रमणीय, अलौकिक,
आलोकित जीवन दिगंत
लगता अंत: स्मित!

बाहर के जग से
मैं कितना संबंधित हूँ
निर्णय अभी नहीं कर पाया!—
पर, अंतर का
विश्व अधिक से अधिक स्पष्ट हो,
अधिक दीप्त हो,

स्वत: सूक्ष्म होने पर भी
इस स्थूल जगत् से
कहीं वास्तविक होता जाता!

मेरा अंतर
उसके आकर्षण को
रोक नहीं पाता अब!

मुझको लगता,
वह मेरा पथ-दर्शक
इस वाह्य विश्व में,-
मुझको प्रेरित करता रहता
मैं निर्माण करूँ इस जग का

निज अंतर के
जग के ही अनुरूप
मनोरम बना इसे भी!

नव जीवन सौन्दर्य की उषा
अंतरिक्ष से
स्वर्गिक वैभव बरसाए
तम-त्रस्त धरा पर!-

मानवीय गरिमा से
मंडित हो भव मंदिर
अंतर का दर्पण बन,
प्रभु का मुख बिम्बित कर!

भगवन्, जब मैं

भगवन् जब मैं
पुनर्जन्म लूँ, इस पृथ्वी पर
कवि के बदले
मैं कर्मी बन सकूँ जगत में!
द्रष्टा, वक्ता, कर्मी में
मुझको कर्मी प्रिय!

इतना मोटा चाम
हो गया युग मानव का
नोक लेखनी की
न बिद्ध कर पाती उसको!
लोक-कर्म-रत रह

जन को संगठित करूँ मैं
मनुज-प्रेम के मुक्त
धरातल पर—जन मन में
नई चेतना का वातायन
खोल ज्योति स्मित!

अंतरिक्ष से बरसें
सक्रिय नव प्रकाश की
स्वर्णिम किरणें-
भू-रज प्रचुर अन्न उपजाए
सच्चरित्र हो मनुज,
उच्च-संकल्प-शक्ति रत,
संयम से भोगे जीवन को

भू देशों के
भेद मिटा कर,
मानवता को स्वर्ण-पाश में
बाँधे नव संस्कृति के!
ज्ञान विनम्र रहे मन,
बने पूर्ण से अधिक पूर्ण
अविरत भू-जीवन,
मानव हो जीवन-समृद्ध,
प्रज्ञा रस पोषित!

सत्यकाम

जिज्ञासा

कौन खड़ा न्यग्रोध वृक्ष के नीचे उन्मन
कोमल वयस किशोर,गूढ़ किस चिन्तन में रत?
अंत: केन्द्रित दृष्टि निर्निमिष, उन्नत मस्तक,-
वह क्या वटु जाबाल? सोचता क्या विस्मित सा?

हिरण्मयी संध्या मणि-छाया पंख खोल जब
अंतरिक्ष में उड़ती मौन विराट् विहग सी
रवि की तिर्यक् दिग् लंबी रक्ताभ चंचु ले—
मन अनजाने स्वप्नलोक में सा खो जाता!
बृहद् यज्ञ वेदी सा जल उठता वन प्रांतर,
तरु शाखाएँ सुलग सुनहली ज्वालाओं में
समिधाओं सी लगतीं शत लपटों में लिपटीं-
अस्फुट मंत्र स्वरों में मर्मर भरता तरुवन!

रवि को गिरता देख पंख-हत अग्नि विहग सा
धूम-क्षितिज में-सोचा करता विस्मय-हत मन,
कौन किए धरती को धारण? किस पर अटका
वन प्रदेश? ये वृक्ष, विहग, पशु किन देवों के
प्रतिनिधि?-कैसे नेत्र देखते, श्रुतियाँ सुनतीं?
कैसे वाणी शब्द उच्चरित करती सार्थक?
कैसे इंद्रियों को, मन को प्रेरित करता वह?
भेद नहीं मिलता कुछ भी!.. घन अँधकार के
अवगुंठन में ओझल होगा दृश्य जगत् अब,
नभ असंख्य दृग फाड़ और भी तब रहस्यमय
बन जाएगा!...सचमुच कैसी बिडंबना है!

सुनता, देवगणों से शासित निखिल सृष्टि यह,
द्यावापृथ्वी की संतान समस्त चराचर!
सर्वशक्तिमय इद्र-वरुण अधिदेव नभ स्थित,
स्वर्ण द्रापि को ओढ़ वरुण निज सूर्य-दृष्टि से
सर्वेक्षण करते सब भुवनों का सहस्र-दृग् !
वे मेदिर सम्राट, दिव्य माया के स्वामी,
धरा स्वर्ग को जो विभक्त रखते विधि-बल से!

वायु उन्हीं की श्वास, इंदु उडुगण निशि दीपक,
सलिलों के प्रभु, स्रोतों से भरते समुद्र को,
वारि विहग गति से उनका साम्राज्य महत्तर!
सिन्धु पोत,खग मग, वात्या के पथ से परिचित,
ऋत विधान के संरक्षक वे, शासक जग के!

धृतव्रत, त्रिक् पाशों से दंडित करते पाशी,
दयासिन्धु भी हरते अघ-भय आत्म ग्लानि से,-
सर्व शक्ति संपन्न, सर्वविद् वरुण असंशय!

देव पंक्ति में, कहते, सबसे क्षमताशाली
इंद्र देव हैं! अवग्राह से रक्षा करते
जो सलिलों का मार्ग मुक्त कर वृत्र रोध से!
वज्रपाणि वे, दैत्यों अरियों का मद हरते,
स्वर्णायुध उनका सहस्र पैनी धारों का
त्वष्ट्रि विनिर्मित! जिसकी गर्जन सुन कँप उठते
ज्योतिपिंड दिशि पथ पर! विद्युत असि चमका कर
वे गिरियों के पंख काट कर उन्हें गिराते-
दिग् विराट जो विहंगमों-से उड़ते उद्धत,
भू स्थिति को डगमगा ग्रहों के ज्योति कक्ष में!

द्यावापृथ्वी से भी बृहद् कलेवर उनका,
सोम सरोवर उदर, बाहुपाशों में बाँधे
भूमा को! तेजस्वी, ओजस्वी, अजेय वे,

दोनों लोकों को मुट्ठी में पकड़े निर्भय!
धरा स्वर्ग मेखला नहीं पर्याप्त मध्य की!
शत सहस्र पिंगल अश्वों पर धावित उनका
दिव्य यान मरुतों के सँग उड़ता अंबर में!
विजय केतु वीरों के इंद्र, जिन्होंने पणियों
दासों को कर विजित, शस्य श्यामला उर्वरा
सप्त सिन्धु की भूमि छीन,सौंपी आर्यों को!

रुद्र पृश्नि के पुत्र मरुत् भी महत् शक्तिमय,
पिंगल विद्युत अश्वों के स्यंदन पर चढ़कर
जब वे आते, गाते और गरजते दुर्वह,
अडिग पर्वतों के पंजर कँप उठते थर् थर्!
सिन्धु विलोड़ित होते फेनोच्छ्वसित नचा फन,-
मत्त गजों से पैठ रौंदते वे अरण्य को
केश जाल कानन वित्यों के खीच, नोच कर
सिंहों से भीष्म वे, बछड़ों-से क्रीड़ा प्रिय,
दुग्ध धार,मधु,घृत बरसाते उर्वर भू पर!
जगमग स्वर्ण शिरस्क, रुक्म शोभित वक्ष:स्थल,
तड़ित रिष्टि कंधों पर, चरणों पर कल पायल,-
प्रबल इंद्र के सहचर वे, जो विदित वृत्रहन्!

दिव्य अदिति के पुत्र अष्ट आदित्य अनामय,
ये अनिमेष, अपापविद्ध, शुचि स्वर्ण कांतिभृत्!
केशी मुनि-से सूर्य पूर्व अर्णव से उठकर
अपर सिन्धुतल में करते विश्राम निशा में!
अंबर के उर-रत्न, अरुण दृढ़ पंख श्येनवत्,
पूषण के दृग से जन्मे ये परम तेजमय!
सप्त हरित शोभी रथ पर आरूढ़ वेगमय
सदसत् कर्मों को देखा करते मर्त्यों के!

उषा निशा के औरस, संधि प्रकाश, स्मेर मुख
मधु प्रिय अश्विन आते प्रात: अश्वों पर चढ़,

कपिश कृष्ण रँग की गाएँ जब चरतीं भू पर!
इन्हें देख कर मधुप पुष्प-मधु संचय करते
मनोवेगमय इनका कांचन रथ ऋभु कल्पित,
ये अनंत यौवन प्रतीक, भय संशय नाशक!

कर्बुर कवरी दीर्घ श्मश्रु से शोभित पूषण,
ये अजाश्व, चिर तरुण, सोमप्रिय, हेम रिष्टिधर,
सूर्या के प्रणयी, नव बालवधू के रक्षक,
उसको पति-गृह पहुँचाते अश्विन के रथ पर!

भूला जा सकता क्या भला महत् सवितृ को?
शुभ्र हिरण्मय ज्योति स्वर्ग-भू में भरते जो!
अंग अंग शोभित जिनका कनकाभ रश्मिमय,
विधि विधान का पालन करवाते देवों से!

स्वर्ग नभस्तवासी यह देवों की श्रेणी,
अग्निदेव ही आहुति प्रिय भू-देव असंशय!
देवों के मुख,कोमल वपु नवनीत कांतिमय,
सिर पर स्वर्ण लटें लपटों सी लिपटीं भास्वर!
ये तरुओं को चबा, कृष्णा मुख करते वन को,
वप्तृ सदृश मुंडन कर, कानन को सपाट कर!
धूमकेतु ये, मातरिश्व लाए हैं जिनको,
गृहपति, विशपति, दिव्य अतिथि भू पर द्युलोक के!
अग्नि असुर सम्राट, पुरोहित,ऋत्विक, होता,
देवदूत वे,हव्यवाह, कविऋषि, वैश्वानर!

मा बतलातीं, मनुज हृदय ही सत्य वेदिका,
उच्च अभीप्सा अग्नि शिखा, ईप्साएँ समिधा,
प्राणों की आहुति जिन पर पड़ती रहती नित!
फिर स्वाहा स्वाहा कहने से भला लाभ क्या?
यज्ञ वेदिका क्या प्रतीक भर अंतर्मन की?

कौन सत्य वह ? जिसे प्राप्त करने को साधक
तपः क्लिष्ट जीवन व्यतीत करते अरण्य में ?...
अंतर्द्रष्टा ऋषि जिसके ज्ञाता कहलाते,
कर्म वचन मन पालन करते ब्रह्मचर्य जो !...
कितने ही पथ,कितने ही प्रवचन मुनियों के,
बुद्धि उलझती जाती, गूढ़ रहस्य न खुलता !
मा कहतीं, हम आर्य मनुज हैं ! देवों से भू
मनुजों के कंधों पर प्रभु दायित्व महत्तर !..

अह, मेरे ही जीवन का दर्पण अरण्य यह !
एकाकी, निस्तब्ध, भयावह, दारुण, दुर्गम !
दृष्टिहीन तम-सागर में डूबता अजाने,
आँखमिचौनी धूपछाँह से कभी खेलता !
अग्नि गर्भ बहु शमी, शिन्शिपा, खदिर, बिल्व, धव,
अश्वकर्ण, मंदार, तिलक,किन्शुक अनेकशः
नाम हीन वृक्षों के धम्मिलों से गुंफित-
तिग्म गंध से समुच्छ्वसित हो उठती साँसे !

काँस, बाँस, कुश खर, वीरुध से छादित भूतल,
फूलों की ज्वालाएँ छा जातीं दिगंत में-
उड़ अनाम खग रंग वृष्टि करते पंखों की !
मृगमद सुरभित, झिल्ली-झंकृत मधु कानन में
कभी अरण्यानी की पगध्वनियाँ सुन पड़तीं
नृत्य मुखर वन में बज उठतीं उन्मद पायल,
गंधर्वों की गंध फैलती जब समीर में !

कभी सूप के पंख खोल उड़ते विराट् खग,
गरुड़ों श्येनों को विभीत कर चीत्कारों से !
घूकों की घूत्कारों का उत्तर देते पिक,
आर्द्र स्वरों से चीर गहन की अगम शांति को !
सिंह, ऋक्ष, वृक मृगशावों पर टूट झपटते,
मत्त गजों से बृहद् भूधराकार वन्य पशु

गुरु गर्जन भर गिरि गह्वर रखते प्रतिध्वनित!

धेनु रँभाती, अज मिमियाते, श्वान भूँकते,
वन छायाएँ कोलाहल से कँप कँप उठती!
उस पर मरुतों के अश्वों की टापों की ध्वनि
झंझा मंथित, धूलि धूसरित दारुण वन को
बधिर बनाती रहतीं-भू की धुरी हिला कर!

ऐसे ही मेरे अंतर में चलता रहता
अविरत संघर्षण अज्ञात अभीप्साओं का--
घने कुहासे के-से वन में खोजा करता
मैं प्रकाश का केन्द्र—मुक्त सब छायाओं से!

कब से निर्मम मंथन चलता अंतरतम में
मन प्रस्तर की शिला बन गया अति चिन्तन से,
नहीं जानता द्रवीभूत कब होगी आत्मा!
मिलता जो आभास कभी, वह खो खो जाता!
व्यथा बाँध मन प्राणों में, फिरता एकाकी
मैं निर्जन में भ्रमित सत्य की व्यग्र खोज में!...
डूब ध्यान में जाता मन आप ही अजाने,
कोई उसको खींच रहा हो, विस्मृत सा कर...

अह, सहसा क्या चुभता उर में?..कौन बेधता
बोध रश्मि की तीक्ष्ण नोंक में मेरा अंतर!..
यह कैसा प्रकाश का सागर!...डूब रहा मैं!...
पैर उठ रहे हों भू से!...मैं तिरता हूँ क्या?...
नाभि केन्द्र से गुह्य नाद सा फूट रहा क्यों?...
शब्द नहीं सुन पाते मन के श्रवण मंत्र के!...
सारा दृश्य जगत अदृश्य-पट पर सा चित्रित...
एक अखंड सूक्ष्म सत्ता भर व्याप्त चतुर्दिक्!...

मेरी सत्ता?...देखूँ निकट सरोवर जल में

अपना मुख! स्वप्नावस्था में-से बढ़ते पग!...
मैं हूँ! मैं हूँ!...दिखता मेरा बिम्ब मुकुर में
सरसी जलके!...दृप्त नयन हैं...फूले नथुने..
हृदय वेग से धड़क रहा क्यों ?...नहीं, नहीं...मैं
मैं हूँ-वन वन हैं, तरु तरु हैं!...वह संध्या की
ज्वाला तिरती जल तल में!...हम सभी सत्य हैं!
सूक्ष्म तत्व ही नहीं,सत्य यह स्थूल जगत् भी!

हृदय ग्रंथि खुल गई रुद्ध जिज्ञासा की अब!
सूक्ष्म अगोचर सत् की बाँहों में समस्त जग
झूल रहा है!...सृष्टि-रहस्य निगूढ़ बन गया
अधिक और भी!...ऊर्ध्व नाभि शब्द के सहारे
लगता खड़ा हुआ हूँ मैं!..यह कैसी स्थिति है!
भाव प्रवण हो गया अधिक उर सूक्ष्म स्पर्श पा!..
एक सहज उल्लास, जिसे जानता न था मन,
रोम रोम में समा गया रुपहली मुक्ति सा!...
स्वत: स्फूर्त जो स्पर्श सत्य का मिला हृदय को
उसे साधना पथ से स्थायी करना होगा!...
श्रद्धा निष्ठा ही से संभव सिद्धि साध्य की!

लो, वह नागराज जाते श्लथ जिह्म वेग से!
किसने बट रेशमी रज्जु को, चितकबरी रँग,
छोड़ दिया भू पर लहराने को, सिर पर धर
मणि किरीट फण!-यही वृत्र के प्रतिनिधि भू पर!

सर्प रज्जु भ्रम बतलाते बुध रहस सृष्टि को,
जो है और नहीं भी!...कैसी गूढ़ पहेली!
ब्रह्मज्ञान हो जाने से, सुनता धुल जाता
अंतर का अवसाद, मर्म खुल जाता गोपन,
शाश्वत का आनंद-नीड़ बन जाता अंतर!..
शाश्वत का आनंद!...रोम हँस उठते पुलकित!

"यहीं निकट ही लता कुंज वृक्षों से वेष्टित
ऋषिवर गौतम का प्रसिद्ध आश्रम है पावन!
कहते, पशु भी जन्मज़ात भय वैर भुला कर
तप की महिमा से सहिष्णु हो गए वहाँ के!
क्यों न शांत संध्या बेला में जाकर मैं भी
गुरुवर से दीक्षा लूँ? मा भी तो ऋषिवर की
गहन ज्ञान गरिमा की सदा प्रशंसा करतीं!
नई दृष्टि है प्राप्त उन्हें-कहते सुनता हूँ
प्राज्ञ जनों को!---जाऊँ,...क्यों न अभी हो आऊँ!"

गहराती जाती थी संध्या, वन में कोमल
अंधकार घिर मसृण रेशमी केश जाल सा
आकुल गुह्य अभीप्सा जगा रहा था मन में!

सांध्य पक्षियों का कलरव था मंद पड़ चुका,
पंक्तिबद्ध कुछ खग उड़ते चित्रित से, नभ में!
एक पैर पर खड़े, गौर ग्रीवाएँ मोड़े,
रोमिल पंखों में थे शीश गड़ाए कुछ खग!
खोहों में सोने को चले गए थे वन पशु,
पंख फड़फड़ाते कौशिक विटपों पर जगकर,
मौन शांति-पर्याय बना था श्रांत समीरण!
अर्ध जागरित, अर्ध सुप्त तंद्रिल निसर्ग था,
पश्चिम नभ में शुक्र विहँसता था शिशु शशि सा,
जब पहुँचा जाबाल तपोवन में गौतम के!

ध्यानमग्न थे मुनिवर पर्णकुटी के भीतर,
नव सुमनों की गंध बसी थी जगत् प्राण में,-
लिपा-पुता था अजिर, सामने पुष्प वाटिका,
फूलों के रंगों की मैत्री थी दृगमोहक!
यज्ञ कुंड दक्षिण में, पुष्कर वाम पार्श्व में,
सरसिज पंखड़ियाँ झुक अंतर्मुख केन्द्रित थीं,
कपिला श्यामा बैठी अलस जुगाली करतीं!

पीपल तरु छाया में लेटा वृद्ध सिंह था
जिसे छेड़ता था किशोर मृग सींग गड़ा कर,
वह दबोच उसको पंजों के छद्‌म पाश में
तीखे दाँत दिखा, हँसता क्रीड़ा प्रिय मृग पर!

वन्य शस्य, नीवारों के सूखे स्कंधों के
ढेर लगे थे एक ओर विटपी पर चीवर
लटके थे, काषाय वस्त्र भी! साधक निश्चल
अपलक त्राटक साध, ऊर्ध्वदृग ध्यान लीन थे!
वटुक श्लक्ष्ण स्वर में थे मंत्रोच्चार कर रहे,
कर-संचालन पूर्वक वेद-ऋचाएँ गाकर!

बहिर्भाग में आश्रम्‌ के एकत्रित होकर
नए वटुक मिल खेलों की चर्चा करते थे!
कहता वसु, "कल आजिवृत्त में गया देखने
मैं अश्वों की, क्षिप्र रथों की चर्या दिन को!
कृष्ण कर्ण के श्वेत वर्ण हय ने मरुतों का
वेग छीन, जीता स्पर्धा पण!–अद्‌भुत जव था!

कुत्स बताता, हम तो कल संगीत कोष्ठ में
थे पराह्न को,–नाडी, कर्करि, दुंदुभि के सँग
साम गान गाते थे ऋत्विज्‌ तन्मय लय में,
उद्‌गीथों के स्वर-कंपन के सम्मोहन ने
गंधर्वों के कल कौशल को म्लान कर दिया!
सुनता हूँ अब वाद्य बृंद में वीणा का भी
जन्म हो चुका, जिसके तारों में सौ मधुकर
साथ गूँजते,–नव, वसंत आगम के सूचक!

नृत्य मुग्ध करती थी भावोद्वेलित उर को
वन्या मृदु आघाटि स्वरों सँग पदक्षेप कर!

मुझे त्रिपंचाशः गोटियाँ विभीदक की प्रिय,
कहता था अपने से, तरुण तिमिश डरता सा!
"अरे, कौन घुस आता यह आश्रम में ?–सहसा
एक शिष्य ने ललकारा, वीथी से आते
देख नवागंतुक को!...कोई दस्यु तो नहीं... ?"

"दस्यु नहीं मैं!...ब्रह्म ज्ञान की दीक्षा लेने
आया हूँ ऋषिवर से, उनकी महिमा सुनकर!"
बोला वटु जाबाल, नम्र संयत स्थिर स्वर में!

"ब्रह्मज्ञान की दीक्षा ? क्या है गोत्र तुम्हारा ?"
"गोत्र ? गोत्र ?" रुक कर बोला जाबाल हतप्रभ,
"गोत्र नहीं अब मुझे ज्ञात!...मां से पूछूँगा!"

हा, हा, हा, हा,- लहर हँसी की दौड़ी उच्छल
शिष्य वर्ग में! कहा दूसरे ने "क्या यह भी
ज्ञात नहीं तुमको कि ब्रह्मविद्या पाने का
अधिकारी केवल ब्राह्मण होता है!...जाओ,
भगो यहाँ से! ब्रह्मज्ञान की दीक्षा लेने
किस मुँह से आए हो ? जब तुम गोत्रहीन हो!"

"प्रातः उठ कर किस वापी के जल से तुमने
मुँह धोया ? अज्ञात गोत्र के ढीठ युवक, जो
दीक्षा लेने का साहस कर आए हो तुम ?"
बोला अपर—हँसी का फिर से मचा ठहाका!
"अरे, वर्णसंकर होगा यह कोई निश्चय!"
कहा तीसरे ने, अपमानित कर किशोर को!
"गुरु दुतकार बताएँगे इस तुच्छ श्वान को!"

हास्य, व्यंग्य, कटु रुक्ष धृष्ट वचनों से आहत
लौट पड़ा हतप्रभ जाबाल पुनः वट तरु को,
क्षोभ,दुराशा में डूबा, पीड़ित, अवमानित!

स्वाभिमान से दीप्त, मन्यु विस्फारित लोचन!-
यही ब्रह्म विद्या के अधिकारी? मन ही मन
वह विमर्श करता-ये निर्मम अंहकार की
जीवित मूर्ति, असंस्कृत, उच्छ खल, कटुभाषी!
क्षमा सिन्धु गुरुदेव इन्हें क्या नहीं जानते?
मैं जो दृढ़ संकल्प कर चुका समित्पाणि हो
गुरु से दीक्षा लेने का,-वह सफल न होगा?

आत्मग्लानि-हत कहता था मन, सचमुच मैंने
क्यों न अभी तक पूछा कौन पिता हैं मेरे!
जीवित हैं या...यदि जीवित तो कहाँ गए वे?...
क्या है मेरा गोत्र?...जान लेना था मुझको!
पूज्य पिता का नाम कभी न बताया माँ ने!

मधुऋतु का तम बुनता था नव स्वप्नों का पट
वन गंधों में सना, निराशा के अरण्य में-
शशि की बंकिम कला अमृत आशा की असि सी
काट रही थी तमस, प्रेरणा भर किशोर के
भावों से संकुल, शंकित, व्याकुल अंतर में!
ज्योति पुरुष जब सहसा प्रकट हृदय भीतर हो
बोले, "मैं हूँ! विचलित मत हो!" विस्मित था वह।

बीत चुका था पतझर...वन की शाखाओं पर
नई कोंपले खोल रही थीं पलकें सालस
शशि किरणों के रजत-स्पर्श से—एक अपरिचित
कोमलता सी भावप्रवण जाबाल वत्स के
अंतर में थी व्याप्त हो रही! आँखमिचौनी
खेल रही थी आशा आशंका बारी से!

एक सूक्ष्म आस्था का स्वर अंतरतम में जग
कहता था, गुरु निश्चय दीक्षा देंगे मुझको
जब मैं माँ से गोत्र पूछ कर जाऊँगा कल!
सतत ब्रह्म जिज्ञासा में रत मेरी आत्मा

ब्राह्मण की आत्मा होगी दीक्षा अधिकारी!

और हर्ष से उछल कूद वह वन के परिचित
मार्गों से भागा घर को, पथ-अंधकार को
चीर क्षिप्र भावनावेग की विद्युत् गति से!
"पलक पाँवड़े बिछा प्रतीक्षा करती होगी
मेरी माँ!...हो गया भले ही हो विलंब कुछ
कल का दिव्य प्रभात ब्रह्म विद्या में दीक्षित
नव प्रभात होगा मेरे जीवन का निश्चय!"-
सोच रहा था मन आशा पंखों पर उड़ कर!

ब्रह्मज्ञान के दिव्य वृत्त का स्वर्ण काल था!
धरा गर्भ में अभी महत् ऊष्मा ऊर्जा थी,
नए चरण थे जीवन के, भू सद्यः सुंदर,
पशु पक्षी पुष्पों के जग से ऊपर उठ कर
अगणित शतियों की संकट स्थिति तिर जल स्थल की
जीवन, मानस जीवी बन, चलता धरती पर
पशु चारी से, कृषि जीवी, आश्रम वासी बन!

विश्व प्रकृति की शोभा गरिमा से सम्मोहित
श्रद्धानत था मनुज पंचभूतों के सम्मुख!
मुक्त नील में खो सा जाता दृष्टि-बोध था,
अग्नि ऊर्ध्व मुख उठना सिखलाती ईप्सा को,
मरुतों का जव परिचायक था प्राण-शक्ति का,
पृथ्वी माता, जीवों को थी धारण करती,
सिन्धु अकूल अतल असीमता का प्रतीक था!
पुष्प उसे सुंदरता से रहना सिखलाते,
पशु-पक्षी प्रेरित करते, वह संकेतों को
छोड़, मुखर बन, शब्दों में वाणी दे मन को!
शशि की रश्मि ऋचा प्रकाश की लिख लहरों पर
लिपि संरक्षित भाषा के प्रति आग्रह करतीं!

आत्मब्रह्म ही की थी खोज प्रमुख प्राज्ञों को,
सर्वं ब्रह्म इदं न पूर्ण चरितार्थ हुआ था!
जीवन स्थितियों पर न नियंत्रण था भू-नर का,
बहिरंतर के संयोजन की सिद्धि शेष थी!
क्या सार्थकता ब्रह्मज्ञान की भू-जीवन में?-
वही साध्य या भू जीवन के हित वर साधन?
प्रश्न गूढ़ था! शतियों के जीवन-अनुभव में
विकसित होना था भावी मानव अंतर को!

गीत-अगीत

आज चेतना चलती भू पर

आज चेतना चलती भू पर
पुष्पों के श्री शुभ्र चरण धर!

वह विदेह, वह दृष्टि अगोचर,
वह साकार सत्य शिव सुंदर,
जन जीवन के पथ पर अक्षत
छोड़ रही पद-चिह्न निरंतर!

मुझे कहाँ जाना? न कहीं भी,
अब अनंत ही मेरा प्रिय घर,
कब जाना? क्यों पूछ रहे हो?
शाश्वत प्रति पग रहा अब विचर!

स्वयं चेतना चलती भू पर
पुष्पों के सित गंध चरण धर!
देह न पंक, निसर्ग सृष्टि वर,
रज पवित्रता देव धरोहर!
पावन बने देह का जीवन,
वह ईश्वर मंदिर चिद् भास्वर!

नई चेतना चलती भू पर
मुक्त देह के दिव्य चरण धर!

देश-काल भय कहाँ रह गया ?

देश-काल भय कहाँ रह गया ?
मूर्त अमूर्त जगत्,
जड़ चेतन,
प्रीति ज्वार में डूब, बह गया!
देख रहा मैं नूतन जीवन
तुम जन-मन गढ़ रहे प्रतिक्षण,
रूढ़ि रीतियों का विधान गत
दिव्य स्पर्श पा स्वयं ढह गया!
पवन बुहार गया क्या भूपथ ?
रोके रुकता नहीं प्रगति-रथ,
सुना गूढ़ संदेश,
कान में
कौन अलौकिक मंत्र कह गया ?
बहिर्भ्रान्ति भर था भू-जीवन
ज्ञात न था अंतर-पथ गोपन,
सूक्ष्म चेतना तृण
जड़ता का
दुर्धर पर्वत भार सह गया!
जाति-वर्ण का मन में कर्दम
रोके था जीवन-विकास-क्रम,
व्यक्ति मुक्ति का मध्ययुगी भ्रम
लोकयज्ञ में धधक दह गया ?

ओ सम्पद्-लालसा-वृद्ध

ओ संपद्-लालसा-वृद्ध,
संघर्ष-निरत जन,
तुमको देता
भाव-संपदा का मैं जीवन!
तरुणि, छोड़ दो
कृत्रिम सज्जा, बाह्य प्रसाधन,
तुमको देता हूँ
अंत: शोभा का यौवन!

ओ अणु अस्त्र बनानेवाले
देशों! भीषण,
मनुज प्रेम का शस्त्र करो
धारण तुम नूतन!

दैन्यों दु:खों से निराश
ओ कुंठा-हत मन,
सामाजिक भू-श्रम का
ग्रहण करो तुम साधन!

दोष भाग्य को मत दो
कर्म करो युग चेतन,
निर्मित करो विषमता-शून्य
धरा का प्रांगण!
ऊहापोह करो मत,
छूछा रीता चिन्तन,
जीवन ईश्वर पर आस्था रख
करो समर्पण!

मुझे ज्ञात है!

मुझे ज्ञात है.
मुझे पैठना नहीं चाहिए
अपने भीतर-और वहाँ
बैठे रहना ही
नहीं चाहिए! किन्तु
उन्हें भी व्यर्थ ऐंठना
नहीं चाहिए—जड़ यथार्थ का
झंडा फहरा!

जड़ औ' चेतन
अंश सत्य दोनों ही—अथवा
अर्ध-सत्य भी
आप उन्हें कह सकते,—दोनों
भिन्नाभिन्न परस्पर-
अन्वित शब्द-अर्थ से!
परम सत्य दोनों ही से
ऊपर निःसंशय!

यह नव भारत!
तीनों श्री अरविन्द, मार्क्स,
गाँधी के दर्शन से
यह परिचित : संयोजित कर

उन्हें मनुज जीवन के
पट पर, वह भविष्य की
भू-संस्कृति निर्माण करेगा-
बहिरंतर के
स्थूल सूक्ष्म, छाया प्रकाश से
उसे सँजो कर!

उसके अंतर-श्रवणों को
जड़ भौतिकता के
चक्रों की कटु घर्घर
उतनी नहीं सुहाती,
सूक्ष्म चेतना के पंखों की
शब्दहीन गति
जितनी उसे शांति पहुँचाती!

भौतिक रथ पर
बिठा मुक्त चैतन्य पुरुष को
वह समग्रत:
नित आगे बढ़ता जाएगा
परम सत्य के
महिमा गरिमामय
विकासक्रम-पथ पर शाश्वत!

मुझे शांत रहने दो

मुझे शांत रहने दो
मुझको मत छेड़ो यों!
मुझे गीत गाने हैं!
बनते-बनते मन में
गीत कहीं खो जाते हैं,
यों छेड़-छाड़ से!
मुझे शांति चाहिए!
आत्मसंयोजित हो उर
स्वत: गीत गाने लगता,
स्वर-संगति में बँध!

मन के अंतरतम भुवनों में
जाने कितना
मर्म मधुर संगीत,
स्वर्ग सौन्दर्य भरा है!-
जो नव स्वरलय की
धारा में झर-झर पड़ता!-

कर्मक्लिष्ट जग की अशांति को
डुबा अतल में
हमें देह का स्वर्ग,
कर्म का स्वर्ग चाहिए
देह स्वच्छ हो, स्वस्थ
मनोभावों से दीपित!
कर्म-सृजन प्रेरित हो-
वातावरण विश्व का
भावोद्रेक भरा, प्रशांत हो,
रूप संतुलित!
जीवन का परिवेश
नव्य उन्मेषपूर्ण हो,-
जग के कर्म-मुखर
स्वरैक्य को मज्जित करने!

भू-मानव को
अन्तर का ऐश्वर्य अपरिमित,
जीवन का सौन्दर्य
भाव-औदात्य चाहिए!

भारत जननी

धन्य तुम्हें हे भारत जननी!
झाड़ फूँस कुटियों में रहती
आई तुम-भव संकट शमनी!

बाहर से तुम जर्जर खँडहर,
चिदैश्वर्य से दीपित अंतर,
भावोद्वेलित भव सागर में
तुम अक्षय आस्था की तरणी!

ध्यानावस्थित चेतस् तन्मय,
तुम आनंद स्वरूपिणि सहृदय,
दिव्य ज्ञान नग से पद-निःसृत
मधुर भक्ति रस की निर्झरिणी!

नव रूपों भावों में विकसित
नव जीवन में होती मूर्तित,
अतिक्रम कर गत युग सीमाएँ
द्वंद्व जनित भव बाधा हरणी!

आज मुक्त नव युग चेतन मन
श्रद्धा नत करता आवाहन,
झंकृत हो नव स्वर छंदों में
कवि प्रतिभा पद गति अनुसरणी!

ग्राम-कवि

यहाँ न पल्लव वन में मर्मर,
यहाँ न मधु विहगों में गुंजन,
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन!

यहाँ नहीं शब्दों में बँधती
आदर्शों की प्रतिमा जीवित,
यहाँ व्यर्थ है चित्र गीत में
सुंदरता को करना संचित!

यहाँ धरा का मुख कुरूप है,
कुत्सित गर्हित जन का जीवन,
सुंदरता का मूल्य वहाँ क्या
जहाँ उदर है क्षुब्ध, नग्न तन?-

जहाँ दैन्य जर्जर असंख्य जन
पशु-जघन्य क्षण करते यापन,
कीड़ों-से रेंगते मनुज शिशु,
जहाँ अकाल वृद्ध है यौवन!

सुलभ यहाँ रे कवि को जग में
युग का नहीं सत्य शिव सुंदर,
कँप कँप उठते उसके उर की
व्यथा विमूर्च्छित वीणा के स्वर।

गाँव के लड़के

मिट्टी से भी मटमैले तन,
अधफटे, कुचैले, जीर्ण वसन,-
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गँवई लड़के—भू के धन!

कोई खंडित, कोई कुंठित,
कृश बाहु, पसलियाँ रेखांकित
टहनी सी टाँगे, बढ़ा पेट
टेढ़े-मेढ़े विकलांग घृणित।

विज्ञान चिकित्सा से वंचित,
ये नहीं धात्रियों से रक्षित,
ज्यों स्वास्थ सेज हो, ये सुख से
लोटते धूल में चिर परिचित!

पशुओं सी भीत मूक चितवन.
प्राकृतिक स्फूर्ति से प्रेरित मन,
तृण तरुओं-से उग-बढ़, झर-गिर,
ये ढोते जीवन क्रम के क्षण!

कुल मान न करना इन्हें वहन,
चेतना ज्ञान से नहीं गहन,
जग जीवन धारा में बहले
ये मूक, पंगु बालू के कण!

कर्दम में पोषित जन्मजात,
जीवन ऐश्वर्य न इन्हें ज्ञात,
ये सुखी या दुखी? पशुओं-से
जो सोते जगते साँझ प्रात!

इन कीड़ों का भी मनुज बीज,
यह सोच हृदय उठता पसीज,
मानव प्रति मानव की विरक्ति
उपजाती मन में क्षोभ खीझ!

जन्मभूमि

जननी जन्मभूमि प्रिय अपनी, जो स्वर्गादपि चिर गरीयसी!

जिसका गौरव भाल हिमाचल
स्वर्ण धरा हँसती चिर श्यामल,
ज्योति ग्रथित गंगा यमुना जल,
वह जन-जन के हृदय में बसी!

जिसे राम लक्ष्मण औ' सीता
बना गए पद धूलि पुनीता,
जहाँ कृष्ण ने गाई गीता
बजा अमर प्राणों में वंशी!

सावित्री राधा सी नारी
उतरीं आभा देही प्यारी,
शिला बनी तापस सुकुमारी
जड़ता बनी चेतना सरसी!

शांति निकेतन जहाँ तपोवन,
ध्यानावस्थित हो ऋषि मुनि गण
चिद् नभ में करते थे विचरण,
जहाँ सत्य की किरणें बरसीं।

आज युद्ध जर्जर जग जीवन,
पुनः करेगी मंत्रोच्चारण
वह वसुधैव बना कुटुम्बकम्,
उसके मुख पर ज्योति नव लसी!

उपजी जन्मभूमि प्रिय अपनी, जो स्वर्गादपि है गरीयसी।

मेघों के पर्वत

यह मेघों की चल भूमि घोर
बह रहे जहाँ उनचास पवन,
तुम बसा सकोगे यहाँ कभी
क्या मानव का गृह, मनोभवन?

जन जन का मन करता गर्जन
बरसातीं चितवन विद्युत् कण,
टकराते दुर्दम फेन शिखर
सागर सा उफनाता भू मन!

यह विश्व शक्तियों की क्रीड़ा
गत छायाएँ बनतीं चेतन,
जन मन विमूढ़ जिनका वाहक
बढ़ता जाता युग संघर्षण!
पर्वत पर पर्वत खड़े भीम,
अड़ते तृष्णा, अज्ञान, अहं,
उन्मथित धरा-चेतना सिन्धु
आंदोलित अवचेतन का तम!

मन स्वर्ग-शिखर पर मँडराता
उर में गहराता नव जीवन,
वह अंतर आभा से स्वर्णिम
झरता भू पर, स्वप्नों का घन!

शांति और क्रांति

शांति चाहिए शांति! रजत अवकाश चाहिए
मानव को मानस वह, महत् प्रकाश चाहिए,
आत्मा वह हाँ, अन्न वस्त्र आवास चाहिए,
देही भी वह—आज मुख्यत: देही वह, क्षण-
मनोविलासी—आत्मा बनता है कल उसको!

हाय, अभागा, बुरी तरह से उलझ गया वह
बाहर के अग जग में, बाहर के जीवन में—
जहाँ भयानक अंधकार छाया युगांत का!

मानव के भीतर का जग, भीतर का जीवन
आज खोखला, सूना जीवन-मृत, छाया सा-
गत संस्कारों से चालित, प्रेतों से पीड़ित!!

खाई खंदक में, खोहों में,बीहड़ मग में
भटक गए जन के पग संकट की रेतों में!
दलदल में फँस गया मत्त भौतिक युग, गज सा,
अपनी ही गरिमा के दु:सह बोझ से दबा!

जीवन तृष्णा, चक्की के पाटों सी, उसके
घायल पैरों सी है लिपट गई, बेड़ी बन!

धृष्ट, निरंकुश, उच्छृंखल नर, आज शील के
स्वर्णांकुश के प्रति असहिष्णु, अहंता शासित!

सोच रहा मैं-नहीं स्पष्टत: देख रहा मैं,
महत् युगांतर आज उपस्थित मनुज द्वार पर!-
बदल रहे मानव के भौतिक, कायिक, प्राणिक;
सूक्ष्म मानसिक स्तर, आध्यात्मिक भुवन अगोचर!

बदल रहा, नि:संशय, मानव ईश्वर भी अब—
युग युग से जो परिचालित करता आया नित
मानव जग को, लोक नियति को, जीवन मन को!

जैवी स्थिति से उच्च भागवत स्थिति तक, संप्रति,
घूम रहा युग परिवर्तन का चक्र अकुंठित!
आज घोर जन कोलाहल के भीतर भी मैं
सुनता हूँ स्वर शब्द हीन संगीत अतंद्रित—
मन के श्रवणों में जो गूँजा करता अविरत!

इस अणु उद्जन के विनाश के दारुण युग में
सृजन निरत हैं सूक्ष्म सूक्ष्मतर अमर शक्तियाँ
मानव के अंतरतम में —जिनका स्वप्नों का
अक्षय वैभव, अतिक्रम कर युग के यथार्थ को,
अकथित शोभा भुवनों में पल्लवित हो रहा
मानस की अपलक आँखों के सम्मुख प्रतिक्षण!
सूक्ष्म सृजन चल रहा नाश के स्थूल चरण धर!

कवि कपोल कल्पना नहीं-अनुभूत सत्य यह-
घोर भ्रांतियों के युग का निर्भ्रान्त सत्य यह,
आरोहण कर रही मनुज चेतना निरंतर
शिखरों से नव शिखरों पर अब, उठती गिरती,
संघर्षण करती कराहती—चिर अपराजित!

इसीलिए, मैं शांति क्रांति, संहार सृजन को,
विजय पराजय, प्रेम घृणा, उत्थान पतन को,
आशा कुंठा को, युग के सुंदर कुरूप को
बाँहों में हूँ आज समेटे—उन्हें परस्पर
पूरक, एक अभिन्न मान कर-युग विवर्त्त के
क्रंदन किलकारों में ध्यानावस्थित रह कर!

विस्मय क्या, यदि बदल रहा है आर्थिक, सामाजिक,
धार्मिक, वैयक्तिक मानव? यदि मनुज चेतना
अब सामूहिक, वर्ग हीन बन रही वाह्यत:
बिखर रहे यदि विगत युगों के मन: संगठन
क्या आश्चर्य बदलता यदि आमूल मनुज जग!

स्वयं, युगों का मानव ईश्वर बदल रहा अब,
निश्चेतन उपचेतन, अंतश्चेतन के जग
परिवर्तित हो रहे, नए मूल्यों में विकसित!

उन पर आश्रित निखिल सांस्कृतिक संबंधों का
रूपांतर हो रहा आज—आवर्त्त शिखर में
घूम, पुन: जो संयोजित हो रहे धरा पर!-
विगत निषेधों, रूढ़ि वर्जनाओं की सहसा
छिन्न भिन्न कर अपने प्रलयंकर प्रवेग में-
विस्तृत कर जीवन पथ, नि:सृत प्राणों का रथ!...

नैतिक आध्यात्मिक अतीत संक्रमण कर रहा—
निखर रहे आदर्श लोक, सौन्दर्य तत्त्व नव!

आज नया मानव ईश्वर अवतरित हो रहा
स्वर्ण रश्मियों से स्मित ऊषाओं के रथ पर,
तड़ित स्फुरित लतिकाओं में लिपटे पर्वत सा,
अगणित सुर वीणाओं के झंकृत निर्झर सा,
उन्मद भृंगों से गुंजित नव कुसुमाकर सा!

भरते शत सीत्कार आज बाहर गत पतझर
सुलग रहा भीतर नव मधु का स्वर्गिर पावक!

आत्मा के गोपनतम अंतर में प्रवेश कर
मनाव मन, हो अधिक पूर्ण, खुल रहा बहिर्मुख!

आज नाश के कर गढ़ रहे नवल मानव को,
नव इंद्रिय वह, विकसित इंद्रिय, अति इंद्रिय अब!

बदल रहा अब मानव ईश्वर—बदल रहा अब
मानव जग मानवता का रूपांतर कर।

नाच, मन-मयूर नाच

नाच, मन-मयूर नाच,
प्रलय-घटा छाई,
विद्युत असि क्रांति ज्योति
उर में लहराई!

तोड़ विश्व तमस पाश,
जीर्ण शीर्ण हो विनाश,
प्राणों ने क्रुद्ध
युद्ध दुंदुभी बजाई!

तन मन में लगी आग,
जाग, रुद्ध शक्ति, जाग,
दौड़ रही भाव तप्त
रक्त में ललाई!

ऊर्ध्व दृष्टि खुले व्योम,
जगें सूर्य, जगें सोम,
हँसे रोम ज्योति-स्फीत
तम ले अँगड़ाई!

जीवन मुख हो प्रसन्न
धान्य-धन्य जन विपन्न,
धरा-स्वर्ग मनुज-दाय,
प्रकृति की दुहाई!

सदसत् में हार जीत,
डर न जन्म-मृत्यु भीत,
ज्योति अंधकार बीच
छिड़ी फिर लड़ाई!

प्रीति स्पर्श पा ललाम
शून्य पुनः सृजन-काम,
लीलामयि का विलास-
तम प्रकाश भाई!

पतझर

शृंग गर्त लाँघ सिंह-से, भर दहाड़ से गह्वर,
क्षिप्र रभस तुम चढ़ते निर्भय गर्जित कल्लोलों पर,
वात्या चक्रों पर दुर्धर रथ घर्घर बढ़ता जाता!
शत अभिवादन! क्रांति दृष्टि, भू ऋतुओं के अधिनायक,
झंझारूढ़ युगांतर की आत्मा अबाध, अप्रतिहत,
संधि काल : संक्रमणशील तुम, मुक्त करो मानव पथ
जरा-जीर्ण हो ज्वाल पल्लवित, नवल वसंत विधायक!

सौवर्ण

सौवर्ण

[युगांतर सूचक वादित्र संगीत]
[डमरू ध्वनि के साथ नेपथ्य से उद्घोष]

पृष्ठभूमि में शोभित मौन हिमाद्रि श्रेणियाँ
विश्व सांस्कृतिक संचय सी स्थित शुभ्र सनातन,-
दिग् विराट् यह दृश्य योग्य अमरों के निश्चय!

परिक्रमा कर रहे देवगण धरा शिखर की,
अर्ध अगोचर, जगमग छायातप में भूषित :
श्लक्ष्ण मधुर कंठों से गाते दिव्य वंदना
नव्य युगांतर का मन में संकेत पा रहस!

शंख घंट वीणा मृदंग गंधर्व बजाते,
किन्नरियों के सँग किन्नर करते नीराजन:
प्रथम सुनें मंगल स्तव अंबर पथ में गुंजित,
श्रवण करें फिर अमरों का गोपन संभाषण!

[शंख घंट वीणा मृदंग आदि का उल्लसित घोष]

कुछ देव
आओ हे, आओ, अभिवादन, शत अभिवादन!

स्वर्दूत
शांत हो गया क्रुद्ध वेग स्वागत नत होते!
[रथचक्रों के आगमन का रव]

देवी

कौन, कौन तुम तप्त स्वर्ण से दारुण सुंदर,
धरा गर्भ के गुह्य तमस से प्रकट सूर्य से?
मरुतों के तुरगों पर चढ़, मर्मर हर् हर् भर,
जन मन को करते आंदोलित, सिंधु उच्छ्वसित?
जीवन क्रंदन में बज उठता नया गान अब,
मन की मूर्छा में जग पड़ती नई चेतना,
प्राणों के अवचेतन तम में धँसी ज्योति नव,,
क्षुब्ध स्नायुओं के दीपन में रजत शांति सी!...
शून्य निराशा में आशा, संशय में आस्था
अविनय में श्रद्धा, सम्मान उपेक्षा पट में,
संघर्षों में जय, संकल्प अहंता में अब
छिपा प्रलय में सृजन, घोर तम में प्रकाश नव!
हाय, कौन तुम विद्रोही जन के ईश्वर से!...
उलट पलट कर दिया निखिल जीवन क्रम तुमने!

सौवर्ण

[आत्म विश्वास भरा सौम्य स्वर]

मैं हूँ वह सौवर्ण, लोक जीवन का प्रतिनिधि!
नव मानव मैं, नव जीवन गरिमा में मंडित,
युग मानस का पद्म, खिला जो धरा पंक में,
जड़ चेतन जिसमें सजीव सौंदर्य संतुलित!...
प्रथम एक, अविभक्त सत्य मैं, फिर जड़ चेतन!
मैं ही मूर्त प्रकाश, सूक्ष्म औ' स्थूल जगत के
सतरँग छायातप में विकसित! मर्त्य अमर मैं,
जिसके अंतर में भविष्य के शत स्वर्णिम युग
नव जीवन की शोभा में सागर-से स्पंदित,
विश्व चेतना से भरी अहरह अनुप्राणित!
मैं हूँ श्रद्धा का भविष्य, जो व्यक्त जगत के
काल ग्रसित, खंडित मानों के भूत भविष्यत्

वर्तमान को अतिक्रम कर, उनमें प्रविष्ट हो,
विकसित करता अग जग को नव सीमाओं में!
मैं ही वह निरपेक्ष, विश्व सापेक्षों में जो
अभिव्यक्त हो, जग जीवन मन के मूल्यों में,-
उनके संक्रमणों में,...उदय, विकास, ह्रास में,...
उनके भीतर स्थित, निरपेक्ष बना रहता नित!
क्या आश्चर्य कि तुम्हें कल्पनावत् लगता हूँ!

स्वर्दूती

कला सृष्टि यह,...महत् कल्पना जन भविष्य की!

सौवर्ण

ऊपर मैं रत्नाभा सा छहरा देवों में,
सृजन चेतना के प्रतीक जो सूक्ष्म अगोचर,
नीचे मानव जग में मूर्तित, प्रिय जो मुझको,
देवों को कर आत्मसात् विकसित होता जो!
तुम दीपक से भिन्न समझते दीप शिखा को?
विस्मय करते कैसे आँधी तूफ़ानों में
जीवित रहती है वह? मैं तूफ़ानों ही में
जलने वाली अमर ज्योति हूँ!...मैं रहस्य हूँ!
भंगुर मिट्टी के प्रदीप ही में पलता हूँ।
झंझा के पंखों पर चढ़ जीवन ज्वाला सा
सँग सँग फिरता मैं अंबर, सागर, कानन में!
भूत भविष्यत् वर्तमान मुझमें ही जीवित,
विश्व समन्वय से मैं महत्...समष्टि प्रेरणा,
सृजन प्रेरणा,...मूर्तिमान जीवन स्पंदन में!;

स्वर्दूती

लोक काव्य यह, जिसमे सूक्ष्म मूर्त हो उठता!

सौवर्ण

ध्यान मौन तुम, शून्य अतीन्द्रिय नभ में खोए,

मुझे खोजते जीवन से निष्क्रिय निरीह हो?...
वहाँ नहीं मैं,...अतिवादों से दूर, निरंतर
जग जीवन ही में निविष्ट, अति से अतितम हूँ!
आत्म ज्योति औ भूत तमस से अंध, उभय ही
एक समान मुझे हैं,...ज्योति-तमस से पर मैं
स्वयं सत्य हूँ!...ज्योति-तमसमय, जड़-चेतनमय,
मन जीवनमय, मुझमें जो वागर्थ से जुड़े!

स्वर्दूती

देव काव्य यह, जिसमें तत्त्व निहित रहता नित!

सौवर्ण

ओ प्रकाश के पागल प्रेमी, दग्ध पंख
शिशु-शलभ, करोगे क्या प्रकाश, छूँछे प्रकाश से?
क्या प्रकाश करता जो होती नहीं मातृ भू?
किरणों में हँसने को सतरँग फूल न होते,
उन्हें चूमने को न मचलती चपल लहरियाँ,
और साँस लेती न कहीं होती हरीतिमा?
होता तमाकाश शून्य, जलता जीवन मरु...
होता एकाकी प्रकाश, कुछ और न होता!!
मैं प्रकाश का हूँ प्रकाश, मैं अंधकार का
अंधकार हूँ!...मैं, जो जन भू जीवनमय हूँ!
मेरे लिए प्रकाश-तमस हैं, मैं ही जीवित
सार्थकता हूँ सत्ता के निष्क्रिय छोरों की!
मैं ही शाश्वत रस समुद्र, अमृतत्व तत्त्व हूँ,....
जीवन सत्य अमर, ...जड़ चेतन उपादान भर!
ओ ईश्वर के विरही, मैं संयुक्त सभी से,
कैसा कल्पित विरह तुम्हारा तुहिन अश्रुमय?-
चिर साध्वी जन प्रकृति, विरहिणी हो सकती वह?-
नित नव नव रूपों में जो आलिंगित मुझसे!
तुम को ईश्वर पर विश्वास नहीं? जो नित नव
सत्यों में विकसित होता जग जीवन क्रम में!

तुम केवल विधिवत् सत्कर्म किए जाते हो
जो अकर्म औ' असत्कर्म बन गए युगों से!!

स्वर्दूती

अमर काव्य यह परंपरा को करता विकसित!

सौवर्ण

प्राण हरित जीवन पादप मैं,...मूल सत्य में;
सुदृढ़ स्कंध संयम, संकल्प महत् शाखाएँ .
मानस विकसित सुमन, सूक्ष्म स्मित भाव रंग दल,
सुरभि चेतना, सुख विकास, मधु प्रेम मर्म धन,...
आशाऽकांक्षा के मधुपों से शाश्वत गुंजित!
नव युग में मैं जन मानवता का प्रतीक हूँ,
ज्योति प्रीति, आनंद मधुरिमा में नव स्पंदित!
नव संस्कृति का सारथि, नव आध्यात्मिकता मैं,
नव विकसित इंद्रिय, मन प्राणों से अतिचेतन!
तत्त्व रूप में नहीं समझ पाते जो मुझको,
वे मूर्तित देखें मुझको नव जन जीवन में!
युग युग के जीवन का पर्वत सुलग उठा अब
नव शोभा लपटों में,...जाग्रत् जन समूह जो!
मैं भावी चैतन्य, मूर्त कल्पना गात्र में,
मैं धन मानव,....सर्व श्रेष्ठ, जन श्रेयस्कर जो
उसे बाँधने आया भू जीवन अंचल में,
शोषण, दुख अन्याय, दैन्य का भूमि भार हर!
शतियों के पतझारों में भरने आया मैं
नव मधु की गुंजरित मधुरिमा ज्वाल पल्लवित!
सप्त चेतना भुवनों के अक्षय वैभव को
लोक चेतना में करने आया हूँ मूर्तित!
एक धरा जीवन में जन के मन प्राणों के
रुचि स्वभाव वैचित्र्यों को कर नव संयोजित,
युग युग के मानव संचय का समीकरण कर
नव मानवता में करने आया हूँ वितरित!

स्वप्न गवाक्षों से दीपित अब मुक्त काल क्षण,
धरा वक्ष में देश खंड हो रहे समन्वित,
युग युग से विच्छिन्न चेतना के प्रकाश को
मैं जीवन सूत्रों में करने आया गुंफित!

स्वर्दूत
अजर काव्य यह, इसमें जन भावी अंतर्हित!

सौवर्ण
आज धरा जीवन अंचल में बँधी प्रेरणा,
आज जनों के साथ प्राणप्रद सृजन शक्ति नव,
अब न कला के स्वप्न निकुंजों में पल सकते,
अगणित वृक्षों में अब स्पंदित नई चेतना,
नव जीवन सौन्दर्य उग रहा जन धरणी में,
मनुष्यत्व की फसल उगलती हँसती भू रज,
नव मूल्यों की स्वर्णिम मंजरियों से भूषित!
[झंझा रथ में प्रस्थान : नव वसंतागम का वादित्र संगीत]

रजत शिखर

वन-मर्मर

वन मर्मर की हरी भरी घाटी यह सुंदर,
कल कल बहती जहाँ मुखर प्राणों की सरिता
आवेशों के फेनिल मानस पुलिन डुबा कर!
यहाँ प्रसारों में हँसता जीवन स्वर्णातप
शोभा के ताने बाने में सतरँग गुंफित,
मृगजल सी शत छाया इच्छाएँ लहरातीं
नि: स्वर नूपुर बजा बीथियों में ममता की!

यहाँ बनैले फूलों की मांसल सुगंध पी
मारुत उन्मद लोटा करता हरीतिमा के
घने उभारों में, गर्तों में, इंद्रिय वीरुध जग की
कुसुम योनियाँ चूम गंध रज, गर्भ दान दे!
यहाँ तितलियाँ रंग अंग भंगिमा दिखातीं
वन अप्सरियों सी फिरतीं शोभा इंगित कर,
मौन ज्योतिरिंगण निशीथ के अंधकार में
चमक झमक उठते प्रकाश के संकेतों-से

दूर वहाँ, उस पार, मर्मरित अंतरिक्ष के
ऊपर, नभ का नील चीरते, शुभ्र रजत के
शिखर दिखाई पड़ते जो स्थिर ज्योति ज्वार-से
तड़ित चकित जलदों के खुलते अंतराल से,—
मौन, अटल, उल्लंग, आत्म गरिमा में जागृत,
शाश्वत, अमर, असीम---परम आनंद लोक-से,-

स्वर्ग क्षितिज को उठे धरा विश्वास स्तंभ-से
जहाँ चेतना का प्रकाश हँसता दिग् विस्तृत,
स्वच्छ हिमानी सा शशि की किरणों से प्रहसित,
उज्ज्वल, स्निग्ध, प्रशांत, —जिसे जगती का कल्मष
स्पर्श नहीं कर पाता तम तृष्णा के कर से:-

शरद् का गीत

अब शुभ्र गगन में शुभ्र चंद्र
नव कुंद धवल तारावलि री,
अब शुभ्र अवनि में शुभ्र सरसि,
सरसी में श्वेत कमल दल री!
भू वासिनि ऋतुएँ अन्य सभी,
तुम नभ वासिनि चिर निर्मल री,
वे धरती की रज में लिपटीं,
तुम स्वर्गंगा सी उज्ज्वल री!
अब काँस हास से श्वेत धरा,
सरसिज से सित सरिता जल री,
चल हंस पाँति से शुभ्र पवन,
शशि मुख से स्मित नभ मंडल री!
बेला जूही के फूल धवल,
हिम धवल कुंद कलियाँ कल री,
तुम चंद्र शिखा की स्नेह विभा
जो स्वर्ण शुभ्र चिर शीतल री!
आती जातीं ऋतुएँ जग में
कर जातीं भू उर चंचल री,
तुम शरद चेतना स्वर्गोज्ज्वल
बरसाती नित जन मंगल री!

वे जीवन रंगों का मोहक
फैलाती छाया अंचल री,
तुम प्रीति द्रवित स्वर्गाभा सी
पावन कर जाती भूतल री!
तुम पारदर्शिनी, ज्योतिर्मयि,
अंतः शोभामयि निश्छल री,
अस्पृश्य अदृश्य विभा उर की,
वे रूपमयी रज मांसल री!

यह धरती कितना देती है!

रत्न प्रसविनी है वसुधा, अब समझ सका हूँ!
इसमें सच्ची समता के दाने बोने हैं,
इसमें जन की क्षमता के दाने बोने हैं,
इसमें मानव ममता के दाने बोने हैं,
जिससे उगल सके फिर धूल सुनहली फ़सलें
मानवता की, —जीवन श्री में हँसें दिशाएँ!
हम जैसा बोएँगे वैसा ही पाएँगे!

नाटिका

पाँच

उदयाचल का दृश्य; प्रभात-काल; स्निग्ध, प्रशांत स्वर्णाभा से मंडित उदयाद्रि, सोने के सुमेरु की तरह, अपना जाज्वल्यमान उल्लंग मस्तक, अपनी ही गौरव-गरिमा में, निर्भीक हो, आकाश की ओर उठाए हुए है! शिखर पर, विशाल विजय-केतु-सा नीलाकाश बालातप की वीचियों में फहरा रहा है। चारों ओर फैला हुआ पलाश का प्रफुल्ल वन, वसंतागम से नवीन जीवन की ज्वालाओं में सुलग उठा है। उपत्यका में, सरोवर का राशि-राशि गलित-स्वर्ण-जल, सौ-सौ इच्छाकांक्षाओं में उमड़ कर लोट-लोट रहा है। पूर्वांचल के भाल पर उषा का, आधुनिक रुचि से निर्मित, कुसुमित लताओं से वेष्टित, सुरम्य भवन शोभा दे रहा है, जिसके झरोखों पर कोमल किसलयों के कुसुम्भी परदे चारवायु में हिल रहे हैं। गिरजे के ढंग की ऊँची उठी , तिरछी, सुकोण छत, नीलम की स्लेटों से पटी, दमक रही है। पूर्व की ओर, रक्त पद्मराग का विशाल प्रवेश-द्वार है; जिसके सामने दूर तक फैला हुआ रमणीय उद्यान है। यत्र-तत्र हरित दूर्वा-परिवृत, देशी, विदेशी सुरंग कुसुमों की वर्ग वृत क्यारियाँ और विटप-कुंज एवं लता-मंडप बने हैं। बीच में अपने ही आवेश में उठकर चूर-चूर होता हुआ सोने का फुहारा। इधर-उधर, लाल रंग की सर्पाकार पगडंडियाँ।

उपवन में विविध वेशों में, हलके-गहरे, रंग-बिरंगे, ट्यूनिक, फ्रॉक, कुरते, साड़ी आदि पहने, देशी-विदेशी फूलों के हँसमुख बालक और बालिकाएँ छोटे-छोटे गिरोहों में घूम-फिर कर, परस्पर हास-परिहास, क्रीड़ा कौतुक, आमोद-प्रमोद में निमग्न हैं। लंबे-लंबे ट्यूलिप, गोरे-गोरे नारसिसस, आसमानी बैंगनी हिएसिंथ, चंपई पोटेन्टिला, बड़े-बड़े रेशमी हालीहाक़ , तितलियों-सी पंख फैलाए आइरिस, सुनहले डेफोडिल, रंग-बिरंग पिटूनियाँ, जैरेनियम, डेज़ी, पेंज़ी, लार्कस्पर, कारनेशन, वायलेट, स्वीट पी तथा केना, पलाश, कचनार, कनियार माधवी, मालती, मोतिया, चंपा, गेंदा, गुलाब, चमेली, जुही, कुंद आदि अनेक रंगों के वस्त्र पहने एवं अलकों में अपने- अपने नाम के फूल खोंसे, ओस-बिंदुओं की माला गूँथते, भौंरों और तितलियों के पाँखों को बटोरकर पंखा करते, वार्तालाप-पूर्वक इधर-उधर टहलते हुए प्रातः क्रीड़ा कर रहे हैं। परदा उठता है।

[कुछ फूलों के बालक गाते-गाते आते हैं, और उसी प्रकार चले जाते हैं।]

गीत

मुकुलित तन हो, प्रमुदित मन हो,
सुभग सुरँग अंग, सौरभ-धन हो!
वृंत-शयन हो, तुहिन-चयन हो,
मधुर मलय, मधुमय गुंजन हो!
नव-बचपन हो, नव-यौवन हो,
क्रीड़न, आलिंगन, चुबंन हो!
नील गगन हो, नव-मधुवन हो,
हास-लासमय जग-जीवन हो!

स्नोड्रॉप : तुम्हारी आँखें मुझे बड़ी सुंदर लगती हैं, वायला!

वायलेट : तुम ऐसे ही भोले रहोगे क्या स्नोड्रॉप!

(दोनों के बीच में पेंज़ी आता है।)

स्नोड्रॉप : तुम्हारे पास बड़े ही सुंदर फ्रॉक़ हैं, पेज़ी! तुम्हारी रुचि बड़ी अच्छी है!

पेंजी : *(प्रसन्न होकर)* कैसा आनंद हैं! मुझे तो तितली होना चाहिए था!

(दूसरी ओर जाते हैं।)

ट्यूलिप : मैंने अपनी बड़ी-सी हथेली की कटोरी में तुम्हारे लिए कल रात बहुत-से मोती इकट्ठा किए हैं, पोटेन्टिला! वही तुम्हें देने आया हूँ।

(ओस के मोती देता है।)

पोटेन्टिला : इस भद्रता के लिए धन्यवाद देती हूँ, ट्यूलिप! तुम सबसे लंबे भी तो हो, तुम्हारे सिवा यह काम और कौन कर सकता है! (मोती देखकर) ओह, मैं कैसी सुखी हूँ! न जाने हार गूँथना मुझे इतना क्यों भाता है!

ट्यूलिप : इससे सुंदर कोई मनोविनोद भी तो नहीं! मुझे कल किरणों ने परी की कहानी सुनायी थी। तुम वही परी हो, पो!

पोटेन्टिला : मुझे परियों की कहानियाँ बेहद पसंद हैं, क्या तुम नहीं सुनाओगे?

(दोनों टहलते हुए जाते हैं।)

फ़ॉरगेट मी नॉट] मुझे भूल न जाना, प्यारी पी! तुम्हारे कोमल स्वभाव की मधुरता ने मुझे मोल ले लिया है।

स्वीट-पी : मैं जानती हूँ, नो! तुम प्रेम के लिए सर्वस्व निछावर कर सकते हो।

फ़ॉरगेट मी नॉट] तुम्हारा प्रेम और विश्वास पाकर मेरा जीवन सफल हो गया! मैं सदैव इस प्रेम का अमर स्मृति-चिह्न बनकर जीवन व्यतीत करूँगा!

(दोनों जाते हैं।)

डैफ़ोडिल : *(दोनों हाथों से ताली बजाता)* मुझे नाचना बड़ा अच्छा लगता है, बेहद अच्छा। यह जीवन का सुनहला पल बिना नाचे-कूदे, उदास मुख लटकाए बिता देना कैसी नादानी है!

पिटूनियाँ : ठीक कहते हो, डैफ़ोडिल! हँसी-खुशी, रास-रंग मनाने के सिवा जीवन का और ध्येय ही क्या हो सकता है? अपने ही सुख से खिलकर अपने ही सुख में विलीन हो जाना! आनंद का एक क्षण, -यही तो जीवन है? चलो, मैं तुम्हारे साथ नाचूँगा। तुम क्या हमारे साथ नहीं नाचोगी, डैज़ी! तुम्हीं तो हमारे उपवन की तारिका हो।

डैज़ी : *(प्रसन्न होकर)* ज़रूर नाचूँगी।

डैफ़ोडिल : तुम कैसी हँसमुख लड़की हो!

डैज़ी : मैं शाम ही को सो जाती हूँ, इसीलिए, सुबह एकदम स्वस्थ और प्रफुल्ल होकर उठती हूँ।

कार्नेशन : प्रेम ही जीवन है! प्रेम की मदिरा पीकर जब तक आँखें आरक्त नहीं हो उठतीं, तब तक जीवन का उपभोग कैसा?

(डैफ़ोडिल, पिटूनियाँ, एमेरथस, डैज़ी आदि नृत्य करते हैं।)

गीत-नृत्य

संयुक्त :

हास-हास, लास-लास,
साँस-साँस में सुवास!

कुछ :

दल-दल में रंग-रंग
पल-पल में नव-उमंग!
कलि-कलि में नव-विकास,
जग चिर जीवन-निवास!

कुछ :

हिल हँस लें संग-संग,
जीवन चल-जल-तरंग!
काल-डाल में विलास,
जीवन-क्षण हिम-हुलास!

कुछ :

जीवन शाश्वत वसंत,
जय जग-जीवन अनंत!

कुछ :

जन्म-मरण आस-पास;
जीवन रे मृत्यु-ग्रास!

कुछ :

जीवन चिर-मुक्त द्वार,
जन्म-मरण चल किवार!

संयुक्त :

आवागम-मुक्त-पाश;
जीवन अग-जग-प्रकाश!

हनीसकल : तुम परियों की फुलवारी के लिए बनी हो, प्यारी आइरिस, तुम्हारी रेशमी सुकुमारता स्वर्गीय वस्तु है!

आइरिस : मुझे यहाँ केवल तुम्हारी चूर्ण अलकों ने बाँध रक्खा है, ओनो डियर!

(दोनों टहलते हुए जाते हैं।)

रोज़ : रुष्ट न हो, प्यारी लिली!

लिली : मैं रुष्ट नहीं होती, रोज़! मैं चाहती हूँ, तुम प्रेम का सम्मान करो। प्रेम पर श्रद्धा रक्खो। प्रेम पाकर जब कोई उच्छृंखल और उन्मत्त होने लगता है, तो मुझे अच्छा नहीं लगता। तुम बड़े कामुक हो!

रोज़ : मैं वसंत का पुत्र हूँ, लिली! मेरी नाड़ियों में जिस नवीन यौवन के रक्त की लालिमा दौड़ रही है, रोओं में जिस रूप की ज्वाला सुलग रही है, उस पर भी कुछ ध्यान दो! मेरी साँस-साँस से केवल तुम्हारे प्रेम की सुगंध आती है।

लिली : यह मैं जानती हूँ।

रोज़ : तुम अनिन्द्द सुंदरी हो, प्यारी लिली! *(उसे बाँहों में बाँधकर ज़ोर से उसका मुँह चूमता है।)*ज्यों-ज्यों तुम युवती हो रही हो,तुम्हारे अंग-अंग से फूटते हुए लावण्य-विकास को देखकर मेरी पलकें प्रतिक्षण आनंद और विस्मय से विस्फारित होती जा रही हैं।

[लिली लज्जाधीर हो सिर झुका लेती है, गुलाब उसे प्रेम-विवश करने गाता है।]

गीत

सुखमा की जितनी मधुर कली,
उन सब में सुंदर सलज लिली!
वह छायातप में सहज पली,
अपनी शोभा से स्वयं खिली!

वह तरुण प्रणय की पलकों को
सौन्दर्य-स्वप्न-सी प्रथम मिली,
वह प्यारी, गोरी, रूप-परी,
जग में मेरे ही संग हिली!

(दोनों का प्रस्थान)

[उषा, झरोखे से परदा हटाकर, अपना रक्तोत्पल-सा सुंदर मुख बाहर निकाल, मंद-मंद मुसकराती है। कुंद, जुही, पिटूनियाँ, नरगिस, डेज़ी आदि उषा की ओर उँगली से इंगित कर ताली पीटते हैं। कोई बाहर आने का संकेत करता है, कोई पुकारता है।]

कुछ फूल : मम्मी! मम्मी!

कुछ फूल : अम्मी! अम्मी!

उषा : मेरा प्यार लो-मेरा प्यार लो! *(हाथ बाहर निकालककर हिलाती है।)*

[धीरे-धीरे सब फूल झरोखे के सामने एकत्रित होकर गीत-नृत्य करते हैं।]

गीत

लो, जग की डाली-डाली पर
जागीं नव-जीवन की कलियाँ!
मिट्टी ने जड़ निद्रा तजकर
खोलीं स्वप्निल पलकावलियाँ!

मलयानिल ने सरका उर से
उर्वी का तंद्रिल छायांचल,
रज-रज के रोएँ-रोएँ में
छू-छू भर दीं पुलकावलियाँ!

शशि-किरणों ने मोती भर-भर
गूँथी सौरभ-अलकावलियाँ!
गूँजी, मधु अधरों पर मँडरा
इच्छाओं की मधुपावलियाँ!

श्री, सुख, स्वप्नों से भर लाई
लो, ऊषा सोने की डलिया,
मुखरित रखती जग का आँगन
ये जीवन की नव रँगरलियाँ।

[अनेक चटकीले रेसमी रंगों के वस्त्रों से अलंकृत, नीली, पीली, लाल, हरी, बैंगनी एवं मिश्रित वर्णों की तितलियाँ, रंग-विरंगे पंख

फैला, मुकुल वय सा बालिकाओं के रूप में प्रवेश करती हैं। फूलों के बालक एवं तितलियाँ, भिन्न-भिन्न जोड़ों में बँटकर, परस्पर बाँहों में बँधे, एक-दूसरे का मुख चूम-चूमकर, सहज सुख व्यंजित करते हुए, गीत-नृत्य करते हैं।]

तितलियों का गीत-नृत्य

जीवन के सुखमय, स्पर्शों-सी
हम खोल-खोल पुलकों के पर,
उड़ती फिरतीं सुख के नभ में,
स्मिति के आतप में ज्यों स्मितिचर!

पा साँस चेतना की मानो
जड़-वृंत-नीड़ से उड़ सत्वर
हम फूली फिरतीं फूलों-सी
पंखों की सुरँग पँखड़ियों पर!

पल-पल चल-पलकों में उड़तीं
चितवन की परियों-सी सुंदर,
हम, शिशु के अधरों पर खिलतीं-
स्वप्नों की कलियों-सी सुखकर!

चेतना रेशमी सुषमा की
सी-सी रुचि, रंग, रूप धरकर
उड़ती हो ज्यों रचना सुख में,
रँग-रँग जीवन के गति प्रिय पर!

(फूलों-तितलियों का संयुक्त गान)

तितली :

हों जग में मधुर फूल-से मुख,
जीवन में क्षण-क्षण चुबंन-सुख!

फूल :

हों इच्छाओं के चंचल पर,
अधरों से मिलते रहें अधर!

तितली :

हों हृदय प्रणय-मधु से मधुमय,
उर-सौरभ से जग सौरभमय!

फूल :

हों सबके प्रिय स्नेही सहचर,
यह धरा स्वर्ग-सी हो सुखकर!

[गीत समाप्त होने पर दोनों मूक अभिनय कर अनेक हाव-भावों से जीवन का उल्लास प्रकट करते हैं। कुछ लोग उषा को बुलाते हैं।]

कुछ फूल : बाहर आओ ना, मम्मी!

तितलियाँ : आकर हमारे साथ खेलो ना, जीजी!

उषा : आती हूँ--आती हूँ। (झरोखे से मुख अदृश्य हो जाता है।)

गेंदा : तुम्हारी मित्रता से मैं अपने को गौरवांवित समझता हूँ, मिस्टर डल्हिया!

डल्हिया : *(चाटुकारी से विरक्त हो)* ओ, ऐसी बात है, गेंदा!

[प्रभात-किरणों के साथ उषा और अरुण का प्रवेश; प्रभात-किरणें गुलाबी रेशम के वस्त्र पहने हैं, किशोर-वय सा, स्मित मुख एवं सद्यः स्वस्थ। उषा अनिन्द्द सुंदरी; सद्यःस्फुट, गुलाब-सा आनन; अधखुले नील-नलिन से नयन; तिमिर की दो रेखाओं सी भृकुटियाँ; पीली-पीली घुँघराली केसरी अलकें; कीर की-सी नासिका; चंपक वर्ण, मदनबान की कलियों-सी उँगलियाँ; सोने की जरी की साड़ी, जरी की कंचुकी; उठे हुए वक्ष-स्थल मानों चकवा-चकवी के मधुर प्रभात-मिलन हों। गले में झूलती हुई क्रमशः छोटे-बड़े मोतियों की एकावली, बाईं बाँह में कुहनी के पास से गुलाबी रेशमी डोरी में लटकी सुनहरी तार की डाली; जिसमें अनेक खिले-अधखिले कलि कुसुम भरे हुए हैं! अरुण--सुंदर, स्वस्थ ऋषि-कुमार-सा; गेरुवे रंग के रेशमी वस्त्र; कांतिमान आनन। प्रभात-किरणें उषा और अरुण को चतुर्दिक घेरकर गा रही हैं।]

गीत

तुम नील वृंत पर नभ के जग,
ऊषे! गुलाब-सी खिल आई।
अलसाई आँखों में भरकर
जग के प्रभात की अरुणाई!

लिपटीं तुम तरुण अरुण उर से
लज्जा लाली की-सी झाईं!
भू पर उस स्नेह मधुरिमा की
पड़ती सखि, कोमल परछाईं।

तुम जग की स्वप्न-शिराओं में
नव जीवन रुधिर सदृश छाई,
मानस में सोई, भावों की
लो अखिल कमल-कलि मुसकाई।
आशाऽकांक्षा के कुसुमों से,
जीवन की डाली भर लाई,
जग के प्रदीप में जीवन की
लौ-सी उठ, नव-छवि फैलाई।

(मनोहर रंगों के फ़रों से विभूषित बालक-बालिकाओं के रूप में प्रवेश कर, प्रभात-विहग गीत-नृत्य करते हैं।)

गीत

जागो, जीवन के आतप में
आओ, हिल-मिल खेलें जी-भर,
गई रात, त्यागो जड़-निद्रा,
खुला ज्योति का छत्र गगन पर।
चहकें जुट जग के आँगन में
हो निज लघु नीड़ों से बाहर,
एक गान हो यह जग-जीवन,
हम उसके सौ-सौ सुखमय स्वर।
सुख से रे रस लें, जीवन फल
छेद प्रेम की चंचु से प्रखर,
डाल डाल हो क्रीड़ा-कलरव
शाख-शाख हो इस जग की, घर।
मुक्त गगन है जग-जीवन का,
उड़ें खोल इच्छाओं के पर,
हो अपार उड़ने की इच्छा,
है असीम यह जग का अंबर।
(किरणें विहगों के बाहु-पाश में बँधकर गाती हैं।)
कनक-किरण! कनक-वरण!
स्वर्णिम महि-शतदल पर
शोभित लघु अरुण चरण!

कनक-किरण, कनक-वरण!
झुक-झुक मुख चूम-चूम
तृण-तृण कण प्रीति-भरण!
कनक-किरण, कनक-वरण!
दिशि-धनु शर-सी असंख्य
द्रुत भव-तम-भीति हरण!
कनक-किरण, कनक-वरण!
रवि-छवि से स्मित लघु पर,
अप्सरि-सी व्योम-तरण!
कनक-किरण, कनक-वरण!
शतकर धृत, अंक लसित
सस्मित शिशु विश्व शरण!
कनक-किरण, कनक-वरण!
आतप से त्रस्त तिमिर,
जीवन से त्रस्त मरण!

[सब फूलों के शिशु उषा को चारों ओर से घेर लेते हैं। कोई उसकी साड़ी का छोर, कोई उँगलियाँ पकड़कर अनेक प्रकार से अपना लाड़-प्यार प्रदर्शित करते हैं। उषा किसी की ठोड़ी पकड़ती हैं, किसी का मुख चूमती, किसी के माथे पर हाथ फेरती, किसी का फ्राक, फ़ीते का बो और ट्यूनिक की पेटी ठीक करती हुई मातृत्व का उपभोग करती है।]

सिरिस : *(छोटा-सा इंद्रधनुषी रेशमी रूमाल हिलाता हुआ)* देखो अम्मी, इंद्रधनुष पकड़ लाया हूँ।

कुंद : *(आगे बढ़कर)* मेरे दाँत देखो, मेरे-से दाँत हैं किसी के?

चंपा : मेरी-सी सुंदर हैं तुम्हारी उँगलियाँ?

उषा : *(नरगिस से)* और तेरे क्या सुंदर हैं? आँखें, क्यों रे नरगिस!

नरगिस : *(शरमाकर जुही की ओर इंगित कर)* देखो अम्मी, जुही कैसी सुंदर लड़की है!

उषा : और जुही तो मुझे प्यार नहीं करती रे नरगिस! कहती है, तू साँवला है!

नरगिस : *(जुही से)* तुम मुझे प्यार नहीं करती! क्यों जुही?

(दोनों हाथ पकड़ कर जाते हैं।)

जुही : प्यार क्यों नहीं करती! तुम्हारे मुख का तिल कैसा सुंदर लगता है! *(दोनों*

एक दूसरे का मुख चूमते हैं।)

[कुसुंभी रंग के वस्त्रों में, छोटे-छोटे बालकों के रूप में पल्लवों का; एवं रंग-बिरंगे सुंदर वस्त्रों में, छोटी-छोटी बालिकाओं के रूप में कलियों का प्रवेश। दोनों एक-दूसरे की बाहों में बँधकर गाते हैं।]

गीत-नृत्य

दोनों :

जीव निखिल भगिनि-भ्रात
पुरुष-प्रकृति पिता-मात!

कलि :

जीवन-कलि विविध वर्ण,

किसलय :

जग-तरु हम तरुण पर्ण,

दोनों :

बहुमणि ज्यों जटित स्वर्ण
शोभित नित संग जात!

दोनों :

जीवन हो सफल, फल,
रहे, बहे सुख-परिमल,
प्रेम-मधु-मधुर उर-तल
दल-दल हों सकल साथ!

[गीत-नृत्य समाप्त हो जाने पर सब लोग परस्पर आमोद-प्रमोद एवं वार्तालाप करते हुए इधर-उधर उपवन में विचरने लगते हैं।]

उषा : इस जीवन के पास कितने रूप-रंग कितने हाव-भाव, कितना सुख और सौन्दर्य है? यह रूप-रंग रुचि-रेखा का संसार ही मुझे सबसे प्रिय है। इस जड़ मिट्टी के आवरण को फाड़कर, जीवन की अमर उर्वरता, अपने ही सृजन-सुख के कारण, असंख्य आकार-प्रकार धारण कर, नित्य नव-नव कलि-कुसुमों, भावनाओं-कल्पनाओं एवं हासोच्छ्वासों में फूट-फूट पड़ती है। जीवन की अकलुष स्मिति मिट्टी के अस्थिर अधरों पर से मानो कभी कुम्हलाना ही नहीं चाहती! किसी अज्ञात सुख-स्पर्श से

यह निर्जीव, चेतना-शून्य धूलि नई-नई हरीतिमा नें, नव-नव अंकुरों में निरंतर रोमांचित होती रहती है! जीवन का यह आश्चर्यजनक अज्ञेय सृजन-रहस्य हृदय को विस्मय से अवाक् कर देता है। केवल इसके सामने श्रद्धा-पूर्वक झुक जाने को जी करता है। इन नवीन आशा-अभिलाषाओं एवं उमंगों से उल्लसित जीवन के नवीन शिशुओं के साथ ही मुझे सबसे अधिक सुख मिलता है।

अरुण : तुम्हारा भाव-प्रवण हृदय सृष्टि के सौंदर्य पर अत्यंत अनुरक्त है, प्रिये! गृह और आँगन की कल्पना बड़ी ही सुंदर और सुखमय कल्पना है। तुम जिस प्रकार सृजन के सौंदर्य पर मुग्ध हो, मैं उसी प्रकार संहार की निर्दयता से विस्मित हूँ! किस प्रकार यह दुःख द्वंद्व, पाप-परितापमय, उग्र नृशंस विनाश विधाता के इस मंगलमय विधान को सहायता पहुँचा रहा है, सूर्योदय से सूर्यास्त तक मैं यही सोचता हूँ, इसी का अन्वेषण करता हूँ। जब मैं इस श्री-संपन्न आँगन को लाँघकर बाहर पैर रखता हूँ, जहाँ दसों दिशाओं के अनेकों चराचर मिलते हैं, तब मैं संकलन करना भूलकर विश्लेषण करने लगता हूँ! और तब जीवन के जिस कुरूप अस्थिपिंजर के दर्शन मुझे मिलते हैं, उसकी कदर्यता से मन का मोह मिट जाता है।

उषा : मोह का मिटाना, अनुरक्ति एवं मोह को पहचानना ही ध्येय है। नहीं, नाथ ! जड़ भी निर्मोही होते हैं, पर ज्ञान घृणा नहीं करता। इस रूप और रंगों की सृष्टि से अधिक मनोहर मुझे कुछ नहीं लगता। जीवन-शक्ति के समस्त दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, भावना, कल्पना एवं गुणों की अंतिम और ठोस परिणति इसी नाम-रूप के जगत् में है। यही साकार सत्य है! विधाता की अनंत क्रियात्मक कला--जन्म-मृत्यु सृजन-संहार--समस्त द्वंद्व, इसी विभिन्नता के वैचित्र्य से पूर्ण, मूर्त, विश्व के रूप में चरितार्थ हो रहे हैं।

अरुण : तुम्हारा कहना सत्य है, प्रिये! चाहे रूप से अरूप की ओर देखें, चाहे अरूप से रूप की ओर, दोनों ही प्रकार से परमात्मा के आनंदमय स्वरूप के दर्शन मिलते हैं।

[हरे-हरे वस्त्र पहने छोटी-छोटी दूब की बालिकाओं एवं सफ़ेद वस्त्र पहने छोटे छोटे ओस के बालकों का प्रवेश; दोनों परस्पर आलिंगन-पाश में बँध, एक-दूसरे का मुँह चूम-चूमकर नृत्य करते एवं गाते हैं।]

गीत

दूब-बालाएँ :

लघु लघु धर पग,
छा छा अग जग,
तिरतीं हम अनंत जीवन मग!

ओस-बाल :

जीवन के चल,
हम लघु लघु पल,
हँस हँस नित भरते जग अंचल!

दूब :

छू छू कोमल
जीवन पद-तल,
पुलकित खिल पड़ते दूर्वा दल!

ओस :

चुटकी क्षण, क्षण,
दे-दे जीवन,
बरसाता लोकों के हिम कण!

दूब :

हम जग पथ पर
बिछ-बिछ मृदुतर
भव पथिकों का लेतीं दुख हर!

ओस :

हम स्मित नभचर
उतर अवनि पर
धोते कलि-कलि का मुख कातर!

दूब :

तृण तृण के कर
प्रभु करुणाकर
जीवन मोती से देते भर!

ओस :

पतित क्षुद्र जन
को करुणा-घन
उठा, लगा उर,करते पावन!

[नेपथ्य से पवन की वंशी-ध्वनि सुनाई पड़ती है। पवन और लवे का प्रवेश।]

लवा : स्वागत, देवि,स्वागत!

उषा : प्रसन्न रहो, प्रकाश के संदेश-वाहक!

पवन : छोटी चाची! चलिए, उस सरोवर के किनारे बैठकर आपको प्रेम की विश्वमोहिनी वंशी-ध्वनि पर मुग्ध, आनंद और उल्लास से आत्मविस्मृत चराचरों का नृत्य दिखाऊँ।

उषा : अच्छी बात है,चलो।

(सब लोग सरोवर की ओर जाते हैं।)

[उद्यान के दक्षिण ओर गिरि-उपत्यका में विशाल निर्मल सरोवर लहरा रहा है। जल का घूँघट हटाकर अर्धविकसित सरोज-बालाएँ अनिमेष दृष्टि से सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रही हैं।]

उषा : ये चेतना-शून्य पद्म-मुकुल भी निर्निमेष दृष्टि से प्रकाश की प्रतीक्षा कर रहे हैं! समस्त चराचर एक ही नियम से परिचालित होकर एक ही ध्येय की ओर अग्रसर हो रहे है।

[पवन बाँसुरी में तान छेड़ता हैं, जिसकी ध्वनि से जल-स्थल दोनों आनंदोद्वेलित हो उठते हैं। सरोवरके वक्षःस्थल पर अनेक लहरें उठ-उठकर नृत्य करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। और गिरि-प्रांत से अनेक वायु के झकोरे नृत्य करते हुए आकर उनसे मिल जाते हैं। लहरें नवयुवती बालिकाओं के रूप में; वायु के झकोरे नवयुवकों के रूप में। लहरें मछलियों की आकृति की सुंदर,सुरंग सलवारें पहने एवं हलकी सुरंग चूनरी ओढ़े हैं। वायु के झकोरे, जो अपने ही हलकेपन के कारण पानी में नहीं डूबते, हलके आसमानी धूप-छाँह के बारीक वस्त्र पहने हैं। दोनों एक दूसरे के बाहुपाश में बँधकर अंग-भंगी-पूर्वक गीत-नृत्य करते हैं।]

लहरों का गीत

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल खिल पड़ती हैं प्रतिपल!
जीवन के फेनिल मोती को
ले-ले चल-करतल में टलमल!

जाने किस मधु का मलय परस
करता प्राणों को पुलकाकुल
जीवन की लहलह लतिका में
विकसा इच्छा के नव-नव दल!
सुन-सुन मधु मुरली की मृदु ध्वनि
गृह-पुलिन नाँघ, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करतीं हिल-मिल,
खस-खस पड़ता उर से अंचल!
चिर जन्म मरण को हँस हँस कर
हम आलिंगन करतीं पल-पल,
फिर-फिर असीम से उठ-उठकर
फिर-फिर उसमें हो-हो ओझल!

हवा के झकोरों का गीत

हम चिर अदृश्य नभचर सुंदर
अपनी ही लघिमा पर निर्भर!
शोभित मृदु नीलांशुक तन पर,
स्मित तुहिन-वाष्प से पुलकित पर!
अपने ही सुख से सिहर-सिहर
नभ-वीणा के से स्वर्गिक स्वर
छा लेते हम जग का अंबर
लहरा लहरों से लहरों पर!
अधरों में भर अस्फुट मर्मर,
साँसों से पी सौरभ सुखकर
फिरते रहते हम निशि वासर
चढ़ चित्रग्रीव चल जलदों पर!
हम साँस-साँस में लास अमर
करते, दुर उर उर के भीतर,
बनकर फिर झंझा से दुर्धर
द्रुत जीर्ण जगत दल लेते हर!
खिल उठते चपल परस पाकर

पुलकों से तृण तरुदल सत्वर,
नाचतीं संग विवसना लहर
बाँहों में कोमल बाहें भर!

संयुक्त-गीत

लहर : हम कोमल सलिल हिलोर नवल,
झकोर : हम मारुत मधुर झकोर चपल!
लहर : हम मुग्धा नव-यौवन चंचल,
झकोर : हम तरुण, मिलन इच्छा विह्वल!
लहर : हम लाज-भीरु खुल पड़ता तन,
झकोर : सुंदर तन का सौन्दर्य वसन!
लहर : श्लथ हुए अंग सब सिहर-सिहर,
झकोर : आकुल उर काँप रहा थर-थर!
लहर : हम तन्वि, भार यह नव-यौवन,
झकोर : नवला का आश्रय आलिंगन!
लहर : हम जल अप्सरि!
झकोर : हम वर नभचर!
दोनों : है प्रेम-पाश स्वर्गीय, अमर!

[दोनों गीत-नृत्य करते-करते सरोवर में ओझल हो जाते हैं। पवन बाँसुरी बजाना बंद करता है। प्राची की ओर, गिरि-शिखरों के अंतराल से, उदित होता हुआ सूर्य-बिंब दिखलाई पड़ता है। सरोवर में कमल खिल गए हैं। मध्यवर्ती एक विशाल नीलोत्पल पर आकाश से मानो आलोक का एक जाज्वल्यमान निर्झर बरस पड़ता है, जिसके भीतर उज्ज्वल रश्मियों से निर्मित, देवबाला की तरह, प्रकाश की सूक्ष्म आभा-मूर्ति दिखाई पड़ती है। सारा विश्व आलोक-प्लावित हो उठता है।]

उषा : कैसा दिव्य स्वरूप है।

[सहसा वीणा की-सी गुंजार सुनाई पड़ती है। चारों ओर से नीले-पीले रेशमी वस्त्रों से भूषित, भौंरों के बालक और बालिकाएँ आकर, पंख खोले, नीलोत्पल के चतुर्दिक् मँडराकर गीत-नृत्य करते हैं। ओस, फूल, दूब, पल्लव, किरणें आदि सब किनारे पर एकत्रित होकर मूक-भाव-नृत्य पूर्वक प्रार्थना में सम्मिलित होते हैं।]

गीत

अविचल, अतल, अकूल अमल जल,--
विकसित जिसमें, जीवन शतदल
नाम-नाल पर विपुल रूप-दल!
बहु छवि, बहुरँग-रुचि रंजित दल,
प्रचुर कामना चय मरंद कल,
गुंजित, पुंजित दिशि-दिशि चंचल
अखिल चराचर आकुल अलिदल!
सुख-परिमल पुलकित भव-अंचल,
निखिल प्रेम मधुमय अंतस्तल,
मधुरस पूरित, मुखरित प्रतिपल
विशद विश्व मधुमल-गृह अविकल।

[गीत अभी समाप्त नहीं होता, यवनिका गिरती है।]

एकांकी

छाया

पात्र	:	पात्री
सुनीता	:	एक मध्यवर्ग की युवती
सतीश	:	उसका स्नेही सखा
विनय	:	सुनीता का छोटा भाई
सुनीति कुमार	:	सुनीता के पिता

स्थान

सुनीतिकुमार के घर के सामने का एक भाग।

(यवनिका उठती है। मंच के एक-चौथाई हिस्से में सुनीतिकुमार के घर का बरामदा और तीन चौथाई हिस्से में उनकी बैठक के कमरे का दृश्य दिखाई देता है। मंच के अंतिम छोर पर बरामदे के सीमेंट के दो खंभे सामने की दीवार में बैठक में प्रवेश करने के दो दरवाज़े, जिनमें परदे पड़े हैं। दाईं ओर की दीवार में भी दो दरवाज़े हैं। आगे का दरवाज़ा विनय के कमरे का और पीछे का सुनीता के कमरे का है। पीछे की दीवार पर एक सादा परदा पड़ा हुआ है, जिससे मंच का एक-तिहाई हिस्सा छिपा रहता है, जो छायाभिनय के काम में लाया जा सकता है। परदे पर युग-नारी की एक निश्चल, धुँधली-सी बृहदाकर छाया झूल रही है।

नेपथ्य से जल्दी-जल्दी सीढ़ियों पर चढ़ने की आवाज़ आती है और सतीश मंच की बाईं ओर के बरामदे में प्रवेश करता है। उसी समय बैठक के दूसरे दरवाज़े से सुनीतिकुमार भी बाहर निकलते हैं। सतीश लंबे छरहरे बदन का, सफ़ेद खादी का कुर्ता-पायजामा पहने तथा रिमलेस ऐनक लगाए हुए हैं। सुनीतिकुमार, जो केवल जाँघिया और क़मीज़ पहने है, वयस प्राप्त होने पर भी स्वस्थ तथा रोबीले लगते हैं। वह सतीश पर एक तीक्ष्ण दृष्टि डालकर तेज़ी से बाहर की ओर जाते हैं। सतीश का शरीर उन्हें देखकर अपने आप तन जाता है, उसके हाथ उन्हें नमस्कार करने को हिलकर रह जाते हैं। सुनीति कुमार तीन-चार क़दम आगे बढ़कर सतीश की ओर घूम कर देखते हैं। अभ्यास-वश ही वह उन्हें नमस्कार करता है। सुनीतिकुमार जल्दी से लौटकर सतीश से हाथ मिलाते और उसकी आँखों में स्नेह-प्रसन्न दृष्टि डालकर मुसकराते हैं। सतीश उनकी मुसकराहट से

कुछ झिझकता हुआ नज़र आता है। सुनीतिकुमार आवाज़ देते हैं–सुनीता, अरी सुनीता, तुम्हारे सतीश भइया आए हैं। वह सतीश का हाथ पकड़े हुए उसी तरह मुसकराकर कहते हैं 'अंदर जाओ...सुनीता अंदर ही है।' दोनों क्षण भर हाथ पकड़े खड़े रहते हैं। सुनीतिकुमार के मुख का भाव धीर–धीरे कड़ा पड़ने लगता है, जैसे उन्हें सतीश के मन का धक्का लगा हो। वह तुरंत उसका हाथ छोड़कर 'मैं जरा सिविल लाईस हो आऊँ' कहते हुए बिना उसकी ओर देखे, जल्दी से सीढ़ियाँ उतर कर चले जाते हैं। सतीश अन्यमनस्क भाव से परदा हटाकर बैठक के अंदर प्रवेश करता है, और उसी समय विनय भी हाथ में 'इलस्ट्रेटेड वीकली' लिए अपने कमरे से निकलकर सतीश का स्वागत करते हुए प्रसन्नतापूर्वक कहता है:'आइए, आइए!' सतीश कमरे में इधर–उधर दृष्टि दौड़ाता है, जैसे एक ही महीने में यह कमरा उसके लिए अपरिचित–सा हो गया हो। विनय उसी तरह सहज भाव से कहता है: 'बैठिए, सुनीता अभी आती है।' वह कुर्सी से आधा बुना हुआ 'पुल ओवर' उठाता है। सतीश खीझ और विरक्ति से भरा हुआ एक ऊँची पीठ की कुर्सी पर बैठ जाता है और कुर्ते की जेब से रूमाल निकालकर अपना दायाँ हाथ पोंछता है, जैसे उस पर सुनीतिकुमार के मन की छाप पड़ गई हो।)

विनय : *(उसकी ओर देखकर स्वभाववश मुसकराता हुआ)*अच्छा, आपने भी अब कुर्ता–पायजामा अपना लिया है? *(वह हल्की नीली सर्ज की पतलून और उससे मिलते जुलते रंग की शर्ट पहने हुए है।)*

सतीश : *(अपने कपड़ों की ओर देखता हुआ और धीरे–धीरे संकोच तथा हिचकिचाहट से बाहर निकलकर)* हाँ, मैं ही बाहर के प्रभाव से कैसे बच सकता हूँ! *(परिहासपूर्वक)* हमारा देश–प्रेम हमसे जो कुछ न कराए वह कम है। *(पायजामे के पायचों और चप्पलों को देखता हुआ गंभीरतापूर्वक दोनों हाथ फैलाकर कहता है)* अपने चारों ओर तुम जो कुछ देख रहे हो, वही हमारा मन है, ये गंदी गलियाँ,...मधुमक्खी के छत्ते की तरह सटे हुए शहर के छोटे–बड़े बेसिलसिले मकान...... हमारे देश का तरह–तरह का बेढंगा पहनावा... रागद्वेष से भरे, जीवन से ऊबे हुए लोगों के छोटे–छोटे घिनौने काम...यही सब हमारे सदियों से असंगठित देश का बिखरा हुआ मन है! सब कुछ बेतरतीब..संतुलन और सामंजस्य से हीन!...इन सबों के प्रभाव से बचना क्या आसान है?

विनय : *(पास की कुर्सी पर बैठा,'इलस्ट्रेटेड वीकली' के पन्ने उलटता हुआ सशंकित दृष्टि से सतीश की ओर देख कर)* हाँऽऽ ... –लेकिन आप सोचते हैं कुर्ता–पायजामा हमारा राष्ट्रीय पहनावा बन सकता है?

सतीश : *(कुर्सी की पीठ से सटकर दोनों हाथ से कुर्सी की बाँह पकड़ता हुआ)*

मैं यह नहीं जानता...मैं केवल प्रभाव की सामाजिक प्रभाव की बात कह रहा हूं। आजकल कुर्ते-पायजामे का ही चलन चल पड़ा है। वैसे हिन्दोस्तान जैसे गरम देश के लिए-

सुनीता : *(जो अपने कमरे में शृंगार-मेज़ के सामने जल्दी-जल्दी बाल सँवार रही है)* भारत कहिए, भारत!...यह हिन्दोऽस्ताऽन आपके मुँह से अच्छा नहीं लगता! *(उसकी हँसने की आवाज़ सुनाई देती है।)*

सतीश : *(हँसता हुआ)* भारत ही सही!..भारत जैसे हमारे उष्णप्रधान देश के लिए हैट और जाँघिया के तरह की कोई पोशाक अधिक उपयोगी होती। लेकिन हमारी जनता के पहनावे से वह आज मेल नहीं खाती और अभी हम जनता के लिए बड़े पैमाने में हैट, कमीज़ या जाँघिया नहीं तैयार कर सकते।

विनय : *(एकाएक हँसता हुआ)* और शायद कुर्ते-पायजामे कर सकते हैं?

सुनीता : *(मन ही मन वाग्युद्ध की आशंका से घबड़ाकर)* बेचारे!....जनता की धजा के पीछे हाथ धोकर पड़े हैं...विनय का सीधा-सादा मतलब यह है कि आपको सूट अच्छी लगती है, आप कुर्ता-पायजामा न पहनें।

विनय : *(अपनी बात के स्पष्टीकरण से खीझकर)* तुम वहाँ से...बिना देखे ही कैसे कह सकती हो?

सतीश : *(तर्क को समाप्त करने के अभिप्राय से ज़ोर से हँसता हुआ)* नहीं, नहीं। मेरा ऐसा कोई भी अभिप्राय नहीं। *(दोनों हाथ पीछे की ओर घुमाकर कुर्सी की पीठ पकड़ता हुआ)* मैं तो शुरू से तुमसे केवल प्रभाव की बात कह रहा हूँ। आजकल कुर्ते-पायजामेवालों के साथ मेरा अधिक हेलमेल है...कल तुम्हारी तरह के सूट- बूट के पुजारियों के साथ रहना पड़े तो शायद फिर से सूट पहनने लगूँ।...यह फिर प्रभाव की बात हुई!

विनय : *(सिर हिलाकर)* हाँ....*(क्षणभर रुककर)* लेकिन क्या यह आपकी कमज़ोरी नहीं है कि आप इतनी जल्दी प्रभावित हो जाते हैं! *(वह अपने कहने के ढंग से स्वयं सशंकित होकर सतीश की ओर देखता है।)*

सतीश : *(गंभीर होकर)* मैं अपनी बात नहीं कहता। मैं कहता हूँ समाज में निन्नानबे प्रतिशत आदमियों के लिए क्या बात सही है....इसे चाहे तुम उनकी दुर्बलता कहो या शक्ति....पर यह सामूहिक प्रभाव भी एक प्रबल सत्य हैं!

विनय : *(तर्क के स्वर में)* मैं केवल आपकी व्यक्तिगत बात पूछ रहा हूँ।

(इसी समय सुनीता अपने कमरे के दरवाज़े के पास खड़ी परदे से मुख दिखलाकर कहती है : 'अभी आती हूँ' और मुसकराकर अंदर चली जाती है। सतीश उसकी ओर देखता है। उसके मुख पर सुनीता की प्रसन्नता बरबस झलक उठती है। वह सुस्त होकर कुछ आगे की ओर झुककर कहता है।)

सतीश : *(सुनीता को देखने के बाद अपने जीवन में उसके प्रभाव का अनुभव कर)* और हाँ, कुछ व्यक्तिगत प्रभाव भी बड़े गहरे और चिरस्थायी होते हैं।

विनय : *(सतीश से समझौता करने की चेष्टा में अज्ञात व्यंगपूर्वक)* जैसे गाँधी जी प्रभाव!

(सुनीता जल्दी से आकर मुसकराती हुई सतीश के पास खड़ी हो जाती है। सतीश उठने का प्रयत्न कर उसे नमस्कार करता है। सुनीता हँसती हुई हाथ जोड़कर नमस्कार का प्रत्युत्तर देती है। विनय उठकर बिजली का बटन दबाता है, कमरा प्रकाश से भर जाता है। सुनीता काला ब्लाउज़ और नारंगी रंग की साड़ी पहने है, जो उसके रक्तिम गौरवर्ण पर बहुत फबती है। वह अत्यंत प्रसन्न जान पड़ती है।)

सुनीता : *(खड़े-खड़े)* आप आज बहुत दिनों बाद आए। सतीश भइया...मैं सोच रही थी आप कहीं नाराज़ न हो गए हों।

सतीश : *(स्निग्ध हास्यपूर्वक)* क्यों?

(परदे पर पड़ी स्त्री की छाया अधिक स्पष्ट होकर सौन्दर्य-भंगिमा करती है।)

सुनीता : *(धीरे-धीरे गंभीर होती हुई, आँखें नीची कर)* क्यों नहीं?...आप इतने रोज़ ग़ायब रहे!....मुझे आप पर मन ही मन बड़ा गुस्सा आ रहा था...!

सतीश : *(आश्चर्यपूर्वक)* अच्छा?...*(फिर मन ही मन सँभलकर किञ्चित व्यंगपूर्वक)*...तुम्हारे पास कैसे आया जा सकता है? *(वह दोनों हथेलियों को कुर्सी की बाँहों से रगड़ता है।)*

(सुनीता सतीश की बातों की ध्वनि से मन ही मन सतर्क हो जाती है। वह विनय के पास जाकर सतीश के सामने की कुर्सी पर बैठ जाती है। उसकी आँखों से कुछ दर्प और जागरूकता झलकने लगती है। परदे पर स्त्री की छाया उसके मन के चढ़ाव-उतार दिखाती हुई धीरे-धीरे धुँधली हो जाती है। सुनीता जल्दी से विनय की ओर दृष्टि फेंकती है। वह जैसे सतीश की बात का ठीक-ठीक अर्थ न समझ कर कहता है।)

विनय : *(बाएँ हाथ से सिर के बालों को ऐंठता हुआ)* सुनीता रोज़ आपका इंतज़ार करती थी कि आपके साथ पिक्चर देखने चलेंगे।

सतीश : *(दुखी होकर)* ओह! सुनीता, मैं बिलकुल ही भूल गया था। मुझे इस बीच अपने संघ के संबंध में काफ़ी दौड़-धूप करनी पड़ी; कई लोगों से मिलना था। यह शहर तो... *(और कुछ न सूझने पर)* शैतान की आँत की तरह इस तरह दूर-दूर बसा हुआ है कि दिन भर में दो-एक जगह से ज़्यादा जाया ही नहीं जा सकता! *(कुर्सी की बाँहों पर कुहनी टेककर हाथ के इशारे से अपनी बात स्पष्ट करता है।)*

सतीश : और उफ़ – *(सुनीता की ओर देखकर)* दिन को अभी से कितनी सख़्त गरमी पड़ने लगी हैं...ताँगे पर बैठे-बैठे दचके खाते-खाते, इंसान यों ही थक जाता है। आज भी दिन भर चक्कर काटता, *(सुनीता के मुख पर कठोर व्यंग तथा उपहास का भाव देखकर)* धूल फाँकता हुआ अभी लौट रहा हूँ।

(सुनीता सिर हिलाकर समर्थन करती है। वह सतीश की कैफ़ियत देने की आदत पर मन ही मन हँस रही है एवं उसकी आँखों से हँसी टपकना ही चाहती है। वह मन का भाव छिपाने के लिए हँसती हुई कहती है)

सुनीता : बेचारे!

विनय : चाय पीजिएगा?

सतीश : क्या बुरा है? *(अन्यमनस्क भाव से फर्श पर पड़े हुए तस्वीरों के अलबम को उठाने के लिए झुकता है)* वही तो एकमात्र भारतीय पेय है!

विनय : *(हँसता हुआ उठता है और सिर हिलाकर कहता है)* हाँ....

(विनय अंदर जाकर नौकर को चाय बनाने का आदेश देता है। पीछे के बरामदे से उसकी आवाज़ सुनाई देती है। सतीश अलबम को गोद में लेकर उसके पन्नों से खेलता है। सुनीता तटस्थ दृष्टि से एक ओर देख रही है। सहसा उसकी आँखों से शून्यता का भाव विलीन हो जाता है और प्रच्छन्न स्नेह झलक उठता है। जैसे उसके हृदय ने अनुभव किया हो कि सतीश उसकी प्रसन्नता और स्नेह प्राप्त करने के लिए ही लंबी-चौड़ी कैफ़ियत दिया करता है। वह स्नेह-स्निग्ध, किञ्चित दर्द-भरी दृष्टि से सतीश की ओर देखती है, फिर अंचल का कोना पकड़कर उसके किनारों पर हाथ फेरती है। दोनों स्नेहद्रवित दृष्टि एक दूसरे

की ओर देखकर निरर्थक मुसकराते हैं। परदे पर पड़ी हुई छाया अधिक स्पष्ट होकर ललित चेष्टाएँ करती है। सतीश संतोषपूर्वक अपनी आँखें सुनीता के मुख पर से हटा लेता है और गोद पर रखे हुए अलबम को बीच से खोलकर देखता है।)

सतीश : *(प्रसन्न आश्चर्य से)* आह, यह तुम्हारा अलबम है! *(फिर से उसे बंद कर शुरू से देखता है।)*

सुनीता : *(उसी स्वर में)* आपने क्या आज तक नहीं देखा था? *(वह कुर्सी से सटकर सतीश की बाईं ओर खड़ी हो जाती है।)*

सतीश : *(नकारात्मक सिर हिलाकर ध्यानपूर्वक देखता हुआ)* यह शायद तुम्हारे बिलकुल छुटपन का चित्र है! *(सुनीता की आकृति से चित्र को मिलाता है)*

सुनीता : *(सिर हिलाकर हँसती हुई)* हाँ।

सतीश : *(अर्द्ध दृष्टि से उसकी ओर देखकर बनावटी स्वर में)* दूज की कला अब पूनो का चाँद बनकर स्नेह-मधुर चाँदनी बरसाने लगी है!

सुनीता : *(दबे हुए क्षुब्ध स्वर में)* और उसमें कलंक की छाया पड़ गई है।

सतीश : *(बिना उसकी ओर देखे)* कहीं नहीं!...*(साँस छोड़कर)* यह शायद तुम्हारी गुड़िया है। *(चित्र के ऊपर उँगली रखता है।)*

(सुनीता चुपचाप खड़ी रहती है। सतीश उसकी ओर देखकर बात बदलने के लिए मुसकरा कर कहता है)

सतीश : मुझे तो तुम्हारी छुटपन की तस्वीर और इस गुड़िया में अधिक अंतर नहीं दिखाई देता। *(सुनीता उसकी ओर देखकर आधे मन से मुसकराती है। सतीश धीरे-धीरे पन्ने उलटता है)* तुम्हारे पापा...मम्मी...हूँ...पापा और मम्मी...तुम्हारी मम्मी मुझ पर कितना स्नेह रखती थीं!...*(सुनीता एक साँस छोड़ती है। विनय पीछे की ओर से अलबम पर एक दृष्टि डालता है और मुसकराता हुआ अपने कमरे में चला जाता है।) (पन्ना उलटकर)* यह कौन है? मैंने इन्हें नहीं देखा।

सुनीता : यह मेरी मौसी हैं। शायद आपने उन्हें नहीं देखा हो।

सतीश : *(पन्ना उलटकर)* यह शायद तुम्हारी तब की तस्वीर है, जब मैंने तुम्हें पहली बार देखा था। तब तुम चौदह साल की रही होगी। *(सुनीता सकारात्मक सिर हिलाकर स्निग्ध दृष्टि से उसकी ओर देखती है।)*

सतीश : *(उसके मुख पर दृष्टि गड़ाकर)* तब तुम नेवी ब्लू रंग की सर्ज का फ़ाक पहने थी, शायद यह वही फ्राक है। *(हँसती हुई उसकी गोद में सिर झुकाकर चित्र को देखती है।)*

सुनीता : *(दर्प-भरी दृष्टि से)* अच्छा, आपको अभी तक याद है ? (हँसती है) बेचारे !....

सतीश : क्यों नहीं ? *(उसकी नकल उतारता हुआ)* बेचारे !....तुम्हारी रेशमी रिबन से बँधे घुँघराले बाल तब बहुत अच्छे लगते थे।

सुनीता : और ?*(हँसती है)*

सतीश : और *(परदे पर एक युवती की छाया युवक की बाहों में दिखाई देती है। पिछली स्मृति से द्रवीभूत होकर सुनीता अपनी स्नेहस्निग्ध दृष्टि सतीश की आँखों में डालती है।)*

सतीश : *(गंभीर होकर)* सब कुछ....जैसे आज ही की घटना हो...अभी की...जैसे मैं आज ही तुमसे पहली बार मिला हूँ!

(दोनों निस्पंद दृष्टि से देखकर एक दूसरे के मन का भाव जानना चाहते हैं। परदे पर युवती की छाया छोटा-बड़ा आकार धारण कर निकट और दूर आती-जाती है। सुनीता धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ हो जाती है।)

सतीश : *(विरक्ति को दबाकर)* ठीक तो है...जैसे मैं आज पहली ही बार तुमसे मिला हूँ। *(शून्य में हाथ हिलाता हुआ)* इसे चाहे चिर परिचय कहो या अपरिचय! पिछली पहचान कहो या जैसे हम एक दूसरे को आज नहीं पहचानते! *(सुनीता का शरीर तन जाता है, वह एक ओर मुँह फिरा लेती है।)* आज इस अलबम के चित्रों से पिछला जीवन जैसे अज्ञात असफल अतीत की तरह हमारी ओर ताक रहा है !...तुम असफल के बदले उसे निर्बल भी कह सकती हो!.....*(वह अनमने भाव से पन्ने उलटता हुआ एकाएक रुककर कहता है)* अहा, यह तुम्हारा और प्रमोद का शादी का चित्र है *(सुनीता का चेहरा कुछ कठोर पड़ जाता है। वह जल्दी से मुँह फिरा लेती है।)*

सतीश : *(उसी तरह चित्र को देखता हुआ)* यह मेरे पास भी है।

सुनीता : *(विरक्ति से)* होगा!

सतीश : इस शादी के घूँघट ने तुम्हें बिलकुल ही छिपा लिया है। *(सुनीता बिजली की तरह घूमकर उसे देखती है। सतीश उसकी तीक्ष्ण दृष्टि से चकित होकर कहता है)* तुम्हें याद है....प्रमोद से मैंने ही तुम्हें पहले मिलाया था। उसे टेनिस खेलने का बड़ा शौक था....गेंद की तरह वह जीवन से भी खेला है।...... *(एकाएक)* और तुम्हें भी तो उसने खेल ही खेल में जीत लिया।

(सुनीता का क्रोध विषाद में बदलकर धीरे-धीरे ग़ायब हो जाता है। उसका शरीर कोमल पड़ने लगता है जैसे उसका हृदय द्रवीभूत हो रहा हो। वह जैसे अपने आप कह उठती है।)

सुनीता : अब आप जो कुछ समझें!

(वह कुर्सी से सटकर उसके पास बैठ जाती है। जैसे वह उसे किसी प्रकार अप्रसन्न नहीं करना चाहती हो। दोनों कुछ देर तक चुपचाप बैठे रहते हैं। सतीश अलबम के पन्ने उलट-पुलट रहा है। परदे पर स्त्री की छाया शोक-मुद्रा में बैठी धुँधली पड़ जाती है।)

सुनीता : *(चित्र देखकर)* यह मेरा लड़का है।

सतीश : लड़के के रूप में तुम्हारा ही बचपन साकार हो उठा है! *(सुनीता मुसकराने का प्रयत्न करती है। बार-बार खुले हुए शब्दों में अपनी प्रशंसा सुनकर उसका उत्साह मंद पड़ जाता है।)*...तुमने शायद इसे कॉनवेन्ट भेज दिया है।

सुनीता : और क्या करती, घर में खराब हो रहा था।

सतीश : अच्छा तो है, कुछ साल वहीं रहने दो...हमारे यहाँ बाल-शिक्षा के अच्छे केन्द्र हैं भी तो नहीं!...कॉनवेन्ट में अधिक रहने से लड़कों पर अलबत्ता विदेशी संस्कृति का भूत सवार हो जाता है।

सुनीता : यही तो....और अपने यहाँ की बातों से घिन करने लगते है। खासकर लड़कियाँ तो, भइया, बिलकुल ही बिगड़ जाती हैं। हमारे कछुए की चाल से आगे बढ़ते हुए समाज तथा मध्यवित्त के ग्रहस्थों के लिए किसी काम की नहीं रह जातीं!

सतीश : *(पन्ना उलटकर)* विनय...अच्छा चित्र आया है। *(समाज से विरक्ति प्रकट करते हुए)* हाँ...लेकिन गृहस्थ तथा समाज ही क्या, हमारी सभी संस्थाओं का यही हाल है!...आज तो सभी समाजों, संस्कृतियों और मानव-सभ्यता को नए रूप में लाना है!...तब तक चलने दो!.....*(पन्ना उलटकर)* यह शायद तुम्हारे छोटे भाई अजय का छुटपन का चित्र है...अब बिलकुल ही बदल गया है।

सुनीता : *(चित्र पर झुककर हँसती हुई)* कैसा चुपचाप बैठा है गोबर गनेश-सा!.....विनय से किसी बात में झगड़ा हो गया था। इसी से मुँह फुलाए हुए है!....

सतीश : *(पन्ना उलटकर)* वह तुम्हारा कुत्ता......'राजा'! तब तुम्हारे साथ देखा था...मर गया शायद!

सुनीता : *(सिर तिरछा कर 'हाँ' कहती हुई)* बेचारा....

सतीश : एक बेचारा तुम्हारा कुत्ता और दूसरा मैं! *(दोनों हँसते हैं। सतीश दूसरे पन्ने को गौर से देखता हुआ)* और यह किसका चित्र है?

सुनीता : *(चित्र को देखकर जल्दी से उसके ऊपर हाथ रखकर ज़ोर से हँसती हुई)* उसे मत देखिए-उसे मत देखिए।

(सतीश कुछ तो उत्सुकतावश और कुछ उसे छेड़ने के इरादे से चित्र को देखने का प्रयत्न करता है। सुनीता दोनों हाथों से उसे छिपा लेती है और कहती है) नहीं, नहीं!

सतीश : आखिर इस चित्र में ऐसी क्या खास बात है?

सुनीता : सतीश भइया, आपको हाथ जोड़ती हूँ, आप उसे मत देखिए, उसे मत देखिए!

सतीश : *(सुनीता के हाथ हटाकर तथा एक झलक देखकर और परिहासपूर्वक)* ओफ, जैसे किसी महाशोक की छाया हो!...प्रेत के समान...एकदम अपरूप—अमानुषी।

(सुनीता चित्र के ऊपर अपना मुँह रखकर उसे एकदम छिपा लेती है और जैसे हिस्टीरिया में हँसने लगती है।)

सुनीता : *(सतीश के हाथों पर अलबम के ऊपर सिर रखे)* ओह, न जाने उस समय मैं किस मूड में थी!...विनय ने न जाने कब तसवीर उतार ली!...वह भी बिलकुल ही 'आउट आफ़ फ़ोकस'.....और उसे अलबम में भी लगा लिया...मैं-

सतीश : *(अलबम को मजबूती से पकड़े हुए)* अच्छा, तो यह तुम्हारा चित्र है?....तब तो मैं इसे जरूर देखूँगा।

सुनीता : *(उसी तरह)* नहीं-नहीं-*(ज़ोर से हँसती है)* यह मेरी शादी के रोज़ का चित्र है...सतीश....भइया मैं इसे चुपचाप अलबम से निकालकर फाड़कर फेंक देना चाहती थी...लेकिन भूल गई!-

सतीश : आख़िर खराब चित्र आया है तो क्या हुआ? क्या चाँद पर बादलों के धब्बे नहीं छा जाते?

सुनीता : *(अनसुनी कर)* आप बहुत बुरे हैं! *(उसी तरह आवेश से)* नहीं, कभी नहीं-आप उसे नहीं देखेंगे! *(वह उसी तरह जैसे हिस्टीरिया में हँसती है। सुनीता की परेशानी देखकर सतीश की उत्सुकता और बढ़ जाती है। सुनीता मानो क्षण-भर के लिए अपने को भूलकर अपना सिर सतीश की गोद में अलबम के ऊपर चिपकाए अनिमेष दृष्टि से उसकी*

ओर देखती है। उसके ओठ काँप रहे हैं। सतीश सुनीता के आवेश से घबड़ाकर कुर्सी पर से उठना चाहता है; किन्तु सुनीता उसे दबाए हुए है।)

सतीश : अच्छी बात है...लो, नहीं देखूँगा बस!

(परदे पर अस्त-व्यस्त कुंतला युवती की छाया दिखाई देती है। वह दोनों हाथों से अपने बाल खींच रही है। उसका बदन ऐंठ रहा है। वह छिन्न लता की तरह घिरकर ज़मीन पर लोट जाती है। विनय अपने कमरे से बाहर निकलता है। वह सतीश और सुनीता की ओर देख कर नज़र नीची कर लेता है और कुर्सी पर बैठकर हिचकिचाता हुआ पूछता है।)

विनय : क्या बात है!

(सुनीता उठकर खड़ी होती है। सतीश भी कुर्सी के पीछे खड़ा हो जाता है और ऊँचे उठे हुए हाथ में अलबम को लेकर चित्र को देखता हुआ सुनीता को चिढ़ाने के अभिप्राय से परिहासपूर्वक कहता है।)

सतीश : *(विनय से)* यह सुनीता का शादी के रोज़ का चित्र है!...बिलकुल आउट ऑफ़ फ़ोकस!...मूड का पता नहीं!...बाल बिखरे हुए!–साड़ी में जगह-जगह सिलवटें पड़ी हैं!...सिर का पल्ला पछाड़ खाकर ज़मीन पर लोट रहा है!–आँखें जैसे लगातार रोने से सूजी हुई हैं!.....*(सुनीता उसके हाथ से छीनना चाहती है। वह एँड़ियों के बल उठकर हाथ और भी ऊँचा किए कुर्सी के चारों ओर घूमता हुआ कहता जाता है)* ओंठ, नाक और गाल, सब फूलकर, जैसे एक दूसरे से मिल गए हों!...*(विनय सतीश की व्याख्या के ढंग पर हँसता है)*....जैसे जीवन का कोई भयानक आवेश.....करुणा और व्यथा की निर्मल दारुण छाया....मन के गहरे अंधकार से बाहर निकलकर साकार हो उठी हो! *(विनय ठहाका मारकर हँसता है। सुनीता दोनों हाथों से अपना मुँह छिपा लेती है। प्रकाश यथावत्! परदे पर एक धुँधली छाया बार-बार उठने का प्रयत्न कर-जैसे वह अपने से लड़ रही हो...आँधी में लता की तरह .... थरथर काँप कर ज़मीन पर ढेर हो जाती है। प्रकाश यथावत्! परदे पर एक धुँधली छाया रह जाती है। सुनीता मुँह पर से हाथ हटा लेती है। उसके मुँह का रंग स्याह पड़ गया है। ओंठ फड़क रहे हैं। वह अपने मनोवेग को दबाने की कोशिश कर रही है। उसके मुँह से एकाएक एक दूरस्थ, पराजित, घृणा, क्षोभ तथा विरक्ति भरी हुई चीख निकल पड़ती है!)*

सुनीता : *(स्वप्नग्रस्त की तरह)* ओह,...छिः छि : .....अलबम की ओर उँगली उठाकर) वह भयानक छाया मैं ही हूँ। सतीश, जीवन की वह भयानक छाया मैं ही हूँ!...जो जीवन के रूप में न जाने कब से दारुण मृत्यु तथा आत्म-हनन का भार ढो रही हूँ। *(वह अपना आँचल पकड़कर खींचती है, जो क़रीब-क़रीब फटने लगता है। उसकी भर्राई हुई आवाज़ और चीख को सुनकर सतीश के हाथ से अलबम छूटकर कुर्सी के ऊपर गिर पड़ता है। वह सुनीता की दशा देखकर क्षण-भर के लिए स्तब्ध रह जाता है और दोनों हाथों से कुर्सी की पीठ पकड़कर सिर झुका लेता है। तुरंत ही वह अपने को सँभाल कर सिर उठाता है और शांत निर्विकार दृष्टि से सुनीता की ओर देखकर दृढ़ गंभीर शासन के स्वर में कहता है।)*

सतीश : कभी नहीं!...*(सुनीता आँचल को छोड़कर बाँहें लटका कर पत्थर की मूर्ति की तरह खड़ी रहती है। सतीश दोनों हाथ ठुड्डी के नीचे मोड़कर चुपचाप देखता रह जाता है।)*

सतीश : *(स्वप्नाविष्ट की तरह शांत-स्थिर स्वर में शून्य को अपनी दृष्टि से भेदता हुआ कहता है और विनय उसकी ओर आँखें फाड़कर देखता है।)* तुमने यह बात पहले मुझसे कभी नहीं कही सुनीता! लेकिन...मैं जानता हूँ, तुम्हारा मुँह बंद था...सदियों से बंद!...तुम हमारे समाज में नारी के मूक दयनीय जीवन का एक करुण उदाहरण भर हो।....जिसके हृदय की प्रत्येक धड़कन में युग-युग से नारी की निःशब्द व्यथा छटपटाती रही है!....कुछ साल पहले मैं शायद तुम से विद्रोह करने को कहता...किन्तु अब मैं उसे ठीक नहीं समझता!.....नारी-समाज को दूसरा रास्ता खोजने की आवश्यकता नहीं है....केवल हमारी स्त्रियों और विशेषकर नवयुवतियों को घर से बाहर, इस बड़े सामाजिक जीवन में भी अपना स्थान बना लेना है!....उनके बिना हमारा समाज एकदम अधूरा है!...उन्हें पुरुषों के साथ नवीन लोक-जीवन तथा मानव का निर्माण करने में हाथ बँटाना है।......केवल इसी प्रकार हमारा गृहस्थ-जीवन परिपूर्ण तथा आनंद मंगलमय बन सकता है!....हम दांपत्य प्रेम तथा घरों में विभक्त पारिवारिक जीवन को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देते हैं!.....और अपने असली बड़े परिवार को और इस सामाजिक जीवन को भूल गए हैं, जिसकी पसलियों के भीतर हमारे गृहस्थ-जीवन का हृदय धड़कता है, जहाँ से उसकी नाड़ियों में रक्तप्राण

का संचार होता है.....मैं तुम्हें प्यार करता हूँ सुनीता, और चाहता हूँ कि तुम लोक-निर्माण के इस महान कार्य को अपना सको!...हमारे देश में शिक्षित-अशिक्षित स्त्रियों की दो पीढ़ियों के बीच एक बहुत बड़ी खाई है!...तुम्हारी पीढ़ी का यही काम है कि तुम नई पीढ़ी के लिए रास्ता बनाओ।....अपने बाल-बच्चों के लिए सुन्दर-स्वस्थ सामाजिक जीवन का निर्माण करो!....*(सुनीता चित्रस्थ-सी होकर अपने समस्त अस्तित्व से सतीश की घन-गंभीर बाणी सुनती है।)* सतीश हाथ की घड़ी देखकर कहता है-' अच्छा, अभी मुझे एक जगह और जाना है....नमस्कार!...*(और दोनों हाथ जोड़कर दृढ़ कदम रखते हुए दरवाजे की ओर बढ़ता है। विनय अभ्यर्थना के भाव से खिंचकर उसके पीछे जाता है। सामने के दरवाज़े से सुनीता के पिता आते हुए दिखाई देते हैं।)*

सुनीतिकुमार : *(मुसकराते हुए)* जा रहे हो!...अच्छा!....*(हाथ के पुलिन्दे को दिखाकर)* सुनीता के लिए ऊन खरीद लाया हूँ! *(सतीश हाथ उठाकर नमस्कार करता हुआ प्रस्थान करता है। सुनीता के पिता कमरे में घुसकर क्षण-भर इधर-उधर दृष्टि दौड़ा कर असंतुष्ट स्वर में कहते हैं)* मैं सतीश का अपने घर में आना पसंद नहीं करता!...

(विनय अवाक् होकर अपने पिता की ओर देखता है। उसके चेहरे पर घृणामिश्रित विरक्ति के भाव हैं। सुनीता एकदम गरदन उठाकर अपने पिता की ओर मुड़ती है। परदे पर एक बलिष्ठ मनुष्य की कठोर छाया पड़ती है, जो अपने सीने के ऊपर दोनों बाँहें मोड़कर उद्धत भाव से खड़ा है। सुनीतिकुमार ऊन के पुलिन्दे को कुर्सी पर फैंक कर अंदर चले जाते हैं। परदे पर लोकनिर्माण में निरत नर-नारियों की सुसज्जित छाया झूलती है। सुनीता आशा-विस्फारित नेत्रों से मानों भविष्य का आवरण उठाकर निर्निमेष दृष्टि से देखती हुई स्वप्नाविष्ट की तरह दुहराती है-"मैं तुम्हें प्यार करता हूँ सुनीता...और चाहता हूँ कि तुम लोक निर्माण के इस महान् कार्य को अपना सको!")

(यवनिका-पतन)

उपन्यास

(कवि की पहली रचना)

हार (उपन्यास)

तरलंग-तट

प्रात:काल का मनोहर समय है। सारा आकाश स्वर्ण-वस्त्र विभूषित दिखलाई देता है। वसंत-ऋतु का अनुपम विभव, आकाश मंद मंद सुरभि-सिंचित अनिल, अलि-दल की मृदुल गुंजन, विहंगों की कल-कंठ ध्वनि—सभी हृदय हर रहे हैं।

भविष्य तरलंग के तट में एक स्वच्छ-शिला के ऊपर अकेले बैठे हैं। आज नौ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं जब हम एक बार पहिले भी इस वन में आए थे। अब भविष्य भी युवा हो चुके हैं। अब आशा उनके साथ खेलने को नहीं आया करती। अब भविष्य उसे पुष्पालंकारों से विकसित कर वनदेवी सी नहीं बनाते। अब वह क्रीड़ा-कौतूहलमयी तथा मनोहर बाल्यावस्था बीत चुकी है। अब वह निष्काम-स्नेह, वे अकपट-विचार, वह निर्भीक हृदय, वह सरल चितवन, वह मादक बोली आदि सभी बाल्यावस्था के अनुगामी हो चले गए हैं। अब आशा का स्नेह भविष्य के हृदय में अधिक प्रबल हो प्रणय में परिणत हो गया है। क्यों न होता? बाल्यावस्था यौवन की मादक सुरा चढ़ा चुकी थी, सौन्दर्योपासना का नशा कब न वृद्धि पाता? शैशव युवावस्था का चटकीला जामा पहन चुका था, स्नेह का रंग अधिक चटकीला क्यों नहीं दिखलाई देता? जीवन का स्रोत यौवन के जीवन से परिपूर्ण हो चुका था। प्रणय के दृढ़ बाँध की कब आवश्यकता न थी? आशा के स्नेह ने भी भविष्य के हृदय में प्रणय का पुरट-पट पहिन लिया था। प्रेम का पवित्र-पट परिधान कर लिया था।

आज भविष्य ने प्राय: एक मास से आशा को नहीं देखा था। उसका मृदुल स्वर नहीं सुना था। अब आशा भविष्य से बातें करने में सकुचाती थी। भविष्य के दृग-खंजनों ने

---

* पंत जी ने इस 'खिलौना' उपन्यास की रचना 15-16 साल की उम्र में की थी, जब वे आठवीं कक्षा के छात्र थे। सन् 1916-17 ईस्वी में रचित इस बालकृति का प्रकाशन सन् 1960 ईस्वी में 20 मई को पंत जी की षष्ठि-पूर्ति के अवसर पर हुआ था। इस उपन्यास के नाम 'हार' में जो श्लेष (पराजय तथा माला का अर्थ) है, वह पंत जी के अनुसार इसके कथ्य की दृष्टि से सार्थक है। *ग्रंथि* की तरह *हार* के नायक ने भी अन्त में 'प्रेम संन्यास' धारण कर लिया है।

जब से आशा के रुचिर-रूप सरोवर में यौवन का प्रिय पद्म प्रफुल्लित देखा तब से वे उसी कमल में बैठ गए थे। भविष्य इस सगुन के सुफल की आशा में ही दिवस व्यतीत कर रहे थे। उनके दृग-मीन आशा के लीला-सलिल के लिए सदा तड़पते थे। श्रवण-चातक आशा के वचन-स्वाति के लिए उत्कंठित रहते थे। उनकी आकांक्षा चकोरी आशा के स्नेह सुधानिधि को निर्निमेष ताकती रहती थी। उनकी व्याकुलता उसके दर्शनों के लिए दिन पर दिन बढ़ती जाती थी। उन्हें आशा ही का ध्यान सुख देता था। वे आज आराम के विविध सुंदर-प्रसूनों से आशा के रम्य-रूप की तुलना कर चुके थे; किन्तु उन्हें उस रूप का उपमान कहीं नहीं मिला था। उनको वह सजीवता कहीं नहीं दिखलाई दी थी। भविष्य अंत में थक कर तरलंग के तट पर बैठ गए थे। तरलंग का जल उषा के आलोक में अरुण दिखलाई देता था। उसके हृदय में पवन के वेग से लोल-लोल तरंगे उठ रही थीं। भविष्य तरलंग का यह सजीव सौन्दर्य देख मुग्ध हो गए। वह कहने लगे—"संसार में सौन्दर्य किसे मुग्ध नहीं करता? तरलंग! तुम भी आज प्राची से मुसकाती हुई उषा को अनुराग भरी अर्ध-खुली आँखों के अरुण राग में अपने को रंजित किए हो। आज तुम भी अपने निर्मल हृदय में अर्ध-विकसित कमल दल की दिव्य अंजलि सज्जित कर उस चरम सौन्दर्य का सम्मान कर रहे हो। आज तुम्हारा मानस-सा विमल मानस भी उस रम्य रूप में मिलने के लिए चंचल हो रहा है। तुम्हारा सरल हृदय वायु के अदृश्य करों को ग्रहण कर उस अपूर्व सौन्दर्य की ओर बढ़ रहा है। तुम मानो फेन-रूपी मुक्ता हार लिए अपने तरंग-रूपी अगणित पतले-पतले करों को उस परम सुषमा की ओर बढ़ा रहे हो। तुम मानो दंतद्युति-युक्त अगणित सस्मित मुखों से 'कल-कल' रव कर उस रूप-राशि के गुण गा रहे हो। उसके अलभ्य छवि में मुग्ध हो तरंगोत्थित कल्लोल कर 'टुल-टुल, कुल-कुल' शब्दों में कविता रच उसकी सुषमा को सजीव कर रहे हो।"

तरलंग! मैंने तुम्हारे विशद हृदय का ऐसा रुचिर चित्र पहिले कभी नहीं देखा। तुम्हारे हृदय में—इस शीतल मानस में भी—यह बाड़वाग्नि कब से अगोचर थी-यह अनुराग की-विशुद्ध-अनुराग की—अरुण-ज्वाला कब से तिरोहित थी यह मैं नहीं जानता था। आज मैंने इसे स्वीय दृगों से ही देख लिया है।

कौन जाने, इसी प्रकार कितने हृदय अपने में इसी विशुद्ध परीक्षक अग्नि को छिपाए हुए हैं? उन्हीं में से-

"भविष्य"

भविष्य ने तुरंत मुँह फेर कर देखा तो निमेष।

भविष्य—क्यों दद्दा, आज इतने प्रातः यहाँ कैसे आ गए? क्या भावी से रात में कुछ तकरार हुआ जो उठते ही भाग आए?

निमेष तथा भविष्य बाल सहचर थे। निमेष अवस्था में भविष्य से बहुत बड़े थे। इसीलिए भविष्य उन्हें दद्दा कह कर पुकारते थे। निमेष का भी भविष्य से अच्छा स्नेह था। वे सदा भविष्य के ही ध्यान में रहते थे। उन्होंने भविष्य के मुख से ऐसे परिहास-प्लावित वचन सुन कर हँसते हुए कहा—हाँ भवि, भावी को छोड़ कर भाग आया था किन्तु भविष्य ने फिर पकड़ लिया।

भविष्य—तुम्हें ही क्या, दद्दा, भविष्य सभी को पकड़ लेता है। प्रायः सभी भावी में लीन होकर कष्ट पाते हैं। तुम्हें भी भावी ने बुरा पकड़ा।

निमेष—किन्तु मुझे तो इस समय वर्तमान ही ने पकड़ लिया है।

भविष्य तथा निमेष में इसी प्रकार बातें हो रही थीं कि इतने में सुफला तथा आशा भविष्य के पास आ पहुँची। आशा आज अनुरोध कर सुफला को देवी-दर्शन के लिए ले आई थी। वे इस समय दर्शन कर घर को लौट रही थीं। किन्तु सुफला आशा को बाध्य कर भविष्य के पास ले आई थी। यथार्थ में आशा आज देवी-दर्शन के भविष्य को ही देखने के लिए यहाँ आई थी। वह भविष्य की आदतों से परिचित थी। उसे विश्वास था कि भविष्य निश्चय तरलंग के तट में बैठे हुए मिलेंगे। आशा के हृदय में प्रतिभा के अंतिम वाक्य ने कल पूरा प्रभाव डाला था। इसलिए अति संकोच होने पर भी आज उसने भविष्य से मिलना निश्चय कर लिया था।

भविष्य को इस प्रातः अचानक चंद्रोदय-सा प्रतीत हुआ। उसके नयन-चकोर संकोच का जाल तोड़ कर आशा के चंद्रानन पर अड़ ही गए।

''लाज लगाम न मानहीं, नैना मो वस नाहिं,
ये मुँहजोर तुरंग लों ऐंचत हूँ चलि जाहिं।''

भविष्य का दाहिना दृग खंजन आशा के मुख-कमल में वास करने को मानो फड़फड़ाने लगा। आज उसे कितने ही महीनों से अपना परिचित पुष्प मिला। हृदय-चातक को स्वाति-सलिल मिला। भविष्य को आज अपने दृग-खंजन का आशा के यौवन-पद्म में बैठने के सगुन का फल मिला। उसकी आशा आज सुफला हुई।

भविष्य ने एक बार बड़े कष्ट से आशा के मुख से दृष्टि हटा कर तरलंग की ओर डाली। उसे प्रतीत हुआ मानो तरलंग का हृदय भी चंद्रानन को देख समधिक चपल हो आया है। उसने एक बार तरलंग की तरल व पतली पतली तरंगों से आशा के सुकुमार व कोमल अंगों को मिलाया, किन्तु भविष्य को वह सौन्दर्य ढूँढ़ने पर भी उनमें न मिला। उसे तरलंग के निर्जीव अंग आशा के सुंदर अंगों के सामने बिलकुल ही कांतिहीन तथा नीरस लगे। भविष्य का मुख आंतरिक भावोच्छ्वास से सहसा खिल उठा। मानो कि वह उसके मनोगत भाव आशा को जतलाने के लिए ही प्रफुल्लित हुआ हो।

इन सब बातों को लिखने में इतना समय लगा, किन्तु यह काम अत्यंत अल्पकाल का था।

आशा की भी यही दशा हुई। किन्तु वह लज्जाधिक्य से भविष्य के मुख-कमल पर अपने लोचन-भृंग न अड़ा सकी।

"छुटी न लाज न लालचौ, प्यो लखि नेह गिरेह,
सटपटात लोचन खरै, भरे सँकोच सनेह।"

आशा पृथ्वी की ओर दृष्टि डाल कर अपने कोमल पद-नखों से मिट्टी खुरचने लगी। वह मानो मन ही मन कह रही थी—

"इन दुखिया अँखियान को, सुख ही सिरज्यो नाहिं,
देखै बने न देखिबो, बिन देखे अकुलाहिं।"

आशा की मुख की अरुणिमा इस समय सचमुच भविष्य की अशिष्ट-दृष्टि का तिरस्कार कर रही थी। किन्तु सुफला यह सब न देख सकी। उसकी आँखें न जाने विधि ने किस द्रव्य से बनाई थीं कि वे प्रत्येक पदार्थ में सौन्दर्य ही सौन्दर्य अनुभव करती थीं। उसके लिए सारा संसार ही सौन्दर्यमय था। वह जब से यहाँ आई थी तब से तरलंग ही की ओर टकटकी लगाकर खड़ी थी। उसके हृदय को तरलंग ने मानो अपने किसी अदृश्य गुण से बाँध लिया था। वह अधिक समय तक चुप न रह सकी और भविष्य से बोली—

"देखो दद्दा, तरलंग की तरल-तरंग-क्रीड़ा आज कितनी अपूर्व तथा सुंदर प्रतीत हो रही है। इसके हृदय में जो लोल तरंगे उठ-उठ कर विलीन हो रही हैं वे मेरे हृदय में बड़ा आंदोलन मचा रहीं है। एक प्रकार से तो मैं आनंदित हो रही हूँ कि ये तरंगे आज तरलंग ही के हृदय में समुत्थित होकर विलीन नहीं हो जा रही हैं प्रत्युत मेरे निर्निमेष नयनों में विश्राम ले रही हैं। मुझे प्रतीत हो रहा है मानो ये मेरी आँखों को भी अपने ही साथ डुबा ले जा रही हैं। इनका सौन्दर्य व्यर्थ नष्ट न होकर मेरे हृदय को भी अपने अदृश्य सूत्र में गूँथ ले रहा है।"

"किन्तु मुझे यह सोचकर बड़ा कष्ट हो रहा है कि प्रत्येक तरंग इतने अल्पकाल में ही दुर्बल होकर क्यों सुसुप्त हो जा रही हैं। हर एक तरंग मानो वायु से कह रही है— "गिरी जाती हूँ बालम पकड़ मेरा हाथ।" किन्तु पवन उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं कर रहा है। और वह तरंग निराश होकर निज सुसुप्तिमय-भविष्य की चिर-विश्राम-दायिनी क्रोड़ में अनंत काल के लिए सो जा रही है। दूसरी तरंग उसे देख कर भी शांत नहीं हो रही है। वह भी रजत-पट-परिधानित भविष्य के हृदय-मरु में मायाविनी आशा की मृग-मरीचिका के प्रलोभन में पड़ एक बार कुटिल नियति का कृश-सूत्र ग्रहण कर उठना चाहती है और वायु से मृदु स्वरों में कहना चाहती है कि—

"गिरी जाती हूँ बालम पकड़ मेरा हाथ!"

"किन्तु उसके उठते ही कुटिल नियति का कृश-सूत्र छिन्न हो रहा है। और वह भग्न-हृदया भी अपनी पूर्व-आशाहता सखी की अनुगामिनी बन उसी निर्दिष्ट स्थान में—अंधकारमय भविष्य की अदृश्य गोद में—तप्त निःश्वास से फेन उठाती हुई सदा के लिए सो जा रही है।"

"प्रिय दद्दा! मुझे कभी ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो यह प्रत्येक तरंग एक-एक आकांक्षा है, जो कि तरलंग के हृदय में उठते ही नष्ट हो जा रही है। अहा! इस तरलंग का हृदय सचमुच विशद है। इसका मानस गीता की उपदेश-सुधा से सरसित है। यह भली भाँति जानता है कि—

"यदा विनियतं चित्तमात्मंयेवावतिष्ठते,
निस्पृहः सर्वकामेयो युक्त इत्युच्यते तदा।"

और इसीलिए यह इच्छाओं को उठते ही नष्ट कर दे रहा है।"

ऐसा कहते कहते सुफला के लोचनों से एक दो अश्रु-बिन्दु टपक कर तरलंग के निर्मल जल में लुप्त हो गए। उसके हृदय में तरलंग के असामान्य चरित्र से अत्यंत गहन प्रभाव पड़ा।

सुफला ने जब देखा कि मैंने जिन अश्रुबिन्दुओं के साथ अपने मानस की दुर्बलता तिरस्कार के साथ बहा दी थी, उन्हीं अश्रु-बिन्दुओं को तरलंग के उदार हृदय ने अपने में मिला लिया है और जब उसे अंवेषण करने पर भी नहीं मिले कि मेरे अश्रु-बिन्दु तरलंग के द्रवित हृदय में किस स्थान पर गिरे थे, तब उसकी दशा और भी विचित्र हो गई। वह सहसा कह उठी—

तरलंग! तुम्हारा हृदय धन्य है। तुम धन्य हो। प्रत्येक वायु के अदृश्य स्पर्श का भी तुम्हारा हृदय इतनी उत्सुकता से स्वागत कर रहा है! तुम सहृदयता के सरोवर हो! तुम विशद हो। तुम्हारे निर्मल हृदय में अपने बड़े होने के अभिमान का कहीं पर एक काला छींटा भी नहीं है। तुमने मेरे तिरस्कार के साथ फेंके अश्रुबिन्दुओं को भी इतना सम्मान दिया। तुम इतने बड़े हो जाने पर भी नहीं भूले कि मेरा हृदय इन्हीं क्षुद्र बिन्दुओं से बना है।

निमेष अभी तक निर्निमेष नयनों से सुफला के मुख को देख रहे थे। वह सुफला के इन वाक्यों को सुन कर अपने को न सँभाल सके और सहसा "वाह! वाह!" कह उठे। किन्तु वे साथ ही अपनी इस अशिष्टता पर अत्यंत लज्जित हुए। सरला सुफला ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। उसकी दृष्टि इस समय तक भ्रमण करती हुई तरलंग के दूसरे भाग में जा पहुँची। उसने देखा कि तरलंग के हृदय से एक चंचल-पीत प्रभा निकल

रही है। सुफला को प्रतीत हुआ मानो स्वयं कमलालया कमला कमल दल से उतर कर तरलंग के निर्मल जल में स्नान कर रही है, जिसके शरीर की कांचन-कांति जल के गर्भ में अत्यंत सुंदर जान पड़ती है। किन्तु वह इतने ही में समझ गई कि यह देवी जी के द्वार के दीप शिखा का प्रतिबिम्ब है। सुफला ही इस दीपक को वहाँ जला आई थी। उसे सहसा याद आ गया—

"परगुणपरमाणूंपर्वतीकृत्य नित्यं—
निज हृदि विकसंत: संति संत: कियंत।"

सुफला कहने लगी—"तरलंग! तू भी ऐसे "संत: कियंत:" में से एक है, तेरे गुणग्राही हृदय में उस क्षुद्र शिखा का बिम्ब इतना वृहत् दिखलाई दे रहा है मानो "बालार्क कोटि प्रभा" स्नान कर रही हो।"

निमेष की रही सही सुधि भी इन बातों को सुन कर जाती रही। उनका हृदय सुफला के "छुटी न शिशुता की झलक, झलक्यो यौवन अंग" की "दीपति देह दुहून मिलि" में फिसल गया। बिचारी विजया का प्रेम उनके मन से सुफला के "दिपति ताफता-रंग" की शिखा में कर्पूर के सदृश उड़ गया, बिचारे का चिर-सिन्चित स्नेह का बाँध उस रूप-राशि की प्रबल-धारा के सामने न ठहर सका! टूट ही गया! निमेष सुफला के रंग में निमेष निमेष में घुलने लगे, उन्हें सुफला तरलंग से भी एक सुंदर सरी प्रतीत होने लगी—

"यौवन महासर में रूप को सलिल भरो,
तरल तरंग हाव भावन को भाव है।"

निमेष के "अंग अंग सब झौंर में भंयो भौंर की नाव।" उनके नयन निर्निमेष हो गए। और स्वतंत्र हो सुफला के मुखकमल पर अबोध "अलि-छौनों" के सदृश बँध गए। उड़ न सके। निमेष का कोई बल न चला।

इतने ही में आशा ने सुफला की अँगुली दबाई। सुफला इस संकेत से समझ गई कि आशा की इच्छा घर जाने की है। वह आशा से कहने लगी—

"क्यों आशु, तू आज अलग खड़ी होकर अपने पद-नखों को क्या गिन रही है? भविष्य दद्दा से आजकल क्यों नहीं बोलती?"

आशा मन ही मन न जाने सुफला को कितनी गालियाँ देने लगी। उसके आँखों की सुफला तथा लज्जा के बीच में—"इचें खिचें इत उत फिरें" यह दशा हो रही थी। किन्तु उसे अपने को सुफला के व्यंग-बाणों से बचाने के लिए लाज की बेड़ी तोड़नी ही पड़ी। वह अपने निर्गुण भ्रू-धनुषों को खींच कर सुफला की ओर देखने लगी। और अत्यंत दबे स्वर में बोली—

"मैं कहाँ नहीं बोलती?"

रँगीले नारंगी सदृश रसीले अधरों के भीतर मुसकान की मधुरिमा के बीच में उसके सित-दंत बीजों से छिपे दिखलाई दिए। तरलंग का जल वायु के एक तीव्र झोंके के साथ उछल पड़ा। मानो प्रकृति ने ईर्ष्या से भविष्य के हृदय के आनंद की अनंवयता भंग करने ही के लिए यह नवीन उपमान प्रस्तुत किया। तरलंग सित-फेन के कणों से भर गया। भविष्य को प्रतीत हुआ कि तरलंग के हृदय में मानो चपला स्नान कर रही है। उन्हें जान पड़ा मानो तरलंग के उषा-रंजित अरुण हृदय में श्वेत कमलावलि हँस रही है। भविष्य को ज्ञात हुआ कि मानो तरलंग के भीतर श्वेत वस्त्राविभूषिता सरस्वती अपनी मधुर वीणा बजा रही है। उन्होंने उस तरंगोत्थित श्वेत-फेन कणावलि को आशा की दंतावलि का प्रतिबिम्ब समझा। वे सोचने लगे कि तरलंग का हृदय आशा की अधर अरुणिमा के प्रतिबिम्बित होने ही से अरुण हो रहा है।

आशा सुफला से बार-बार गृह को लौटने के लिए अनुरोध करने लगी। आशा की लता-सी कोमल देह लाज के बोझ से दबती जा रही थी। सुफला उसका अनुरोध न टाल सकी। दोनों सखियाँ गृह को चली गईं।

निमेष भी उनके चले जाने पर वहाँ नहीं ठहरे। और भविष्य को किसी कार्य का मिस बतला कर चलते बने। भविष्य वहाँ अकेले ही रह गए। निमेष आज ''तरलंग-सरोवर'' के तट में अपना ''मानस'' खो गए।

आशा ने जाते समय भविष्य की ओर एक दृष्टि डाली थी। भविष्य के हृदय में अभी तक उसी का घाव लगा था। वे उस मधुर वेदना से फड़फड़ाते हुए मन ही मन कहते थे—

''आशे! तुम्हारा स्वरूप सचमुच अत्यंत सुंदर तथा सुखद है। तुम मेरे जीवन रूप मरु में शीतल-जल-परिप्लुता अनंत-वाहिनी तरंगिणी हो! तुम मेरे कुहू रूपी हृदय में सदा रहने वाली एक अचंचल-दीप शिखा हो। तुम्हारा ध्यान सोम-रस से भी मादक तथा सोम-रस से भी शक्तिमय है। तुम्हारे ध्यान में वर्ष पल के सदृश व्यतीत होते है। तुम्हारा ध्यान मेरे मृत शरीर को पुनः जीवन प्रदान करता है। तुम्हारी आकृति सदा दृष्टि के सम्मुख रहने पर भी नवीन तथा मधुर प्रतीत होती है। उसकी मनोरमता से मन नहीं भरता। तुम्हारी आकृति अयस्कांत-मणि से भी शक्तिमती है। अयस्कांत-मणि सार ही को खींचती है किन्तु यह असार विचार तथा निस्सार स्वप्नों को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। धन्य आशे! तुम्हारी अनंत महिमा है!''

''तुम्हारा आभास अनंत तारक-राशि के झिलमिल में, तुम्हारी लीला जल की तुतली तरंगों में, तुम्हारा बोलना अलिदल के मृदु गुंजन में, तुम्हारी छवि ''शरदेन्दु'' में, तुम्हारी मनोरमता वसंत के बाल-विकास में, तथा तुम्हारा गाना कोकिल के कल कंठ में क्रीड़ा सा करता है। सुमुखि! तुम त्रिभुवन-विजया हो। मेरी अमित कल्पनाओं की कल्पलता हो!''

भविष्य इसी प्रकार सोच रहे थे कि इतने में आराम का मृग ग्रीवा मटकाता हुआ भविष्य के सामने आकर खड़ा हो गया। मानो वह भविष्य से कहने आया हो कि—

"भविष्य! अवश्य, आशा मायामयी मृग-मरीचिका होने पर भी अत्यंत पवित्र है। मृग,मृगनयनी तथा मृग-मरीचिका देखने में अत्यंत सुंदर दिखलाई देती हैं तथा आशा-जनक प्रतीत होती हैं। किन्तु इनसे सुख की प्राप्ति कठिन है। इनके ऊपर अधिकार जमाना असंभव है।"

मृग चला गया। भविष्य भी अपने घर को चले गए।

कहानियाँ

पाँच कहानियाँ

पानवाला

यह पानवाला और कोई नहीं, हमारा चिर-परिचित पीतांबर है। बचपन से उसे वैसा ही देखते आए हैं। हम छोटे लड़के थे—स्थानीय हाई स्कूल में चौथे-पाँचवे क्लास में पढ़ते थे। मकान की गली पार करने पर सड़क पर पहुँचते ही जो सब से पहली दुकान मिलती, वह पीतांबर की। हम कई लड़के रहते, मास्टरों से लुक-छिप कर वहाँ पान का बीड़ा खाते, कुछ दुकान के अंदर अलमारी की आड़ में खड़े-खड़े सिगरेट-बीड़ी की भी दो-चार कश लेते; पर मुख्य आकर्षण की सामग्री पीतांबर की दुकान में आलू और मिठाइयाँ रहतीं। कभी-कभी वह स्कूल से लौटने तक हम लोगों के लिए औटाए हुए दूध में केले मिलाकर रखता, कभी रबड़ी बना देता। स्कूल से लौटने पर थका-माँदा, भूख से व्याकुल हम लोगों का दल टिड्डियों की तरह पीतांबर की दुकान पर टूट पड़ता, कोई मिठाई और रायता खाता, कोई कचालू, मटर, दूध-केला, रबड़ी इत्यादि। पान खाना, बीड़ी-सिगरेट फूक लेना भी किसी-किसी के लिए आवश्यक हो जाता था। घर में हमारी उम्र के लड़कों को ये नियामतें कहाँ नसीब हो सकतीं? पीतांबर हमें हँसाता, बहलाता, ख़ुद हँसता, परिहास करता और थोड़ी-बहुत छेड़खानी करने एवं ताना मारने में भी न चूकता। हममें से सभी को घर से पैसे तो मिलते न थे, हम उधार खाते और पीतांबर को भी खिलाते। वह हम लोगों का दोस्त था, वह सभी का दोस्त था—छोटे, बड़े, बच्चे, बूढ़े सभी से वह परिहास करता, उन पर मीठी फ़बतियाँ कसता और सब को ख़ुश रखता।

पीतांबर तब किस उम्र का था, अब किस उम्र का है, यह बात हम तब भी नहीं जानते थे, अब भी नहीं जानते। उससे पूछने का किसी को साहस भी हो? वह तो सब को हँसी में उड़ा देता है। ऐसी खरी-खोटी सुनाता, ऐसे ताने और व्यंग-बाण मारता है कि अपने व्यक्तित्व को, निजी याद को, पास ही नहीं फटकने देता। लोग हँस कर, घिघियाकर, खिसियाकर, कुढ़कर चुप हो जाते हैं। दूसरे ही क्षण वह उन्हें फिर ख़ुश कर लेता है। वह

कैसा भी आत्माभिमानी हो; परंतु यह कभी नहीं भूलता कि उन्हीं लोगों से उसकी गुज़र चलती है, लेकिन पीतांबर को हो क्या गया ?—

तब से बीस साल बीत गए, हममें से बहुतों की शादियाँ और बाल-बच्चे भी हो गए, मित्र लोग कॉलेज़ की डिग्रियाँ लेकर बड़े-बड़े ओहदों पर पहुँच गए, भारी-भारी वेतन पाने लगे; कइयों ने कोठियाँ खड़ी कर दीं, मोटर गाड़ियाँ खरीद लीं,—पर पीतांबर! पीतांबर वैसा ही रह गया है। तब कौन जानता था कि हमारे ही लिए विधाता ने भविष्य बनाया है, पीतांबर के वास्ते भविष्य सी किसी वस्तु का आविष्कार नहीं हुआ है, अथवा वह भूत, भविष्य और वर्तमान से अतीत है। सावन सूखा न भादों हरा। अर्थशास्त्र के नियमों के लिए तो उसकी दुकान अपवाद थी ही, पर क्या प्रकृति के नियमों ने भी उसके लिए बदलना छोड़ दिया है.? किसी तरह का भी तो बदलाव उसमें इन बीस सालों में नहीं आया—लेशमात्र नहीं, चिह्न तक नहीं। वही आकृति, वही प्रकृति, वही क़द, वही आदतें और वही दुकान!—किसी में भी उन्नति-अवनति के कोई लक्षण नहीं। वह अब आलू और मिठाई नहीं रखता, तो इसलिए कि मुहल्ले में अब वैसे चटोर, खाने के शौक़ीन लड़के ही नहीं रह गए। लेकिन पान, सुपारी, सिगरेट, बीड़ी—अब भी उसी प्रकार, उन्हीं जगहों पर दुकान में रक्खे हैं। चूने-कत्थे के बर्तन भी वही पुराने पहचाने हुए हैं। चूने की लकड़ी घिस-कट कर पतली पड़ गई है, कत्थे की पपड़ी जम जाने से और भी मोटी हो गई है। दुकान के बीचों बीच वही पुराना लैम्प टँगा है जो उसके किसी मित्र की इनायत है, चिमनी के ऊपर का भाग टीन की पत्ती का बना हुआ है। सामने एक मझोले आकार का शीशा लगा है, जिसके पारे में धब्बे और चकत्तियाँ पड़ जाने के कारण काँच के पीछे से बीच में द्रौपदी का तिरछा रंगीन चित्र चिपका दिया गया है। अंदर के कमरे में मूँज की एक चारपाई और बिस्तरा, खूँटी पर टँगा कोट, सिगरेट-दियासलाई के खाली डिब्बे, एक लोहे की अँगीठी और कुछ चाय का सामान रहता है, बाहर वही पुराना काठ का बेंच पड़ा हैं, जिस पर सुबह, शाम, दोपहर हर वक्त, दो-चार दोस्त लोग बैठे गप-शप करते, एक दूसरे की खिल्ली उड़ाते और शहर भर की बुराइयों एवं खराबियों की चरचा करते हैं। उस बेंच से नित्य नई अफ़वाहों का आविष्कार एवं प्रचार होता, ना जाने कितनी स्त्रियों की कलंक-कथाएँ, युवकों-रसिकों की लीलाएँ, भाग्यों के बनने-बिगड़ने के खेल, जन्म-मृत्यु के समाचार, गाँव, शहर, देश, एवं विश्व के इतिहास का प्रवाह आने-जाने वालों के मुखों से निस्सृत हो पीतांबर के कर्ण-कुहरों में जाह्नवी की तरह समा गया उसका क्या पता, क्या पार ? वही उसका मानसिक भोजन है, जो उसकी अस्थि, रक्त, मज्जा, मांस बन गया है।

अपने लड़कपन के मित्रों के साथ उसकी एक तस्वीर है जो दूकान में गद्दी के ऊपर लटकी रहती है। कोई भी उस चित्र के गोल, सुडौल, भरे हुए मुख को, अंगों की गठन, बनाव-शृंगार को देखकर यह नहीं विश्वास करेगा कि वह यही पीतांबर है! वह यह पीतांबर है भी नहीं। वह सोलह-सत्रह साल का, यूनीफ़ार्म पहने, हाथ में हाकी की स्टिक लेकर, अकड़कर, कुर्सी पर बैठा अमीरों और रईसों का अमीरदिल मित्र इस तंगदिल कोठरी में बैठा हुआ ग़रीब पनवारी कैसे हो सकता है? उसकी गोल चमकदार आँखों में गर्व और चालाकी भरी है; दृष्टिगरिमा बाहर को फूट रही है, इसकी आँखें धँसी हुई, लाल छड़ों से भरी, छिलका निकाल देने पर पिचकी हुई लीची की तरह गँदली, करुणा, क्षोभ, प्रतिहिंसा बरसा रही हैं। उनके कोनों में कौओं के पंजे बन गए हैं। उस सोलह साल के नवयुवक के मुखमंडल पर सुख-सौकुमार्य, स्वास्थ्य, आशा और उत्साह की आभा है, इस अधेड़ का मुख—जिसकी उम्र तीस से पचास साल तक कुछ भी कहीं जा सकती है—दु:ख, दारिद्र्य, निराशा, आत्मपीड़न, असंतोष का भग्न जीर्ण खंडहर है। गालों की गोल रेखाओं को संसार ने नींबू की तरह चूसकर टेढ़ा-मेढ़ा विकृत कर दिया है। दु:ख से काटे हुए रात-दिन के शेष चिह्नों की तरह बेमेल स्याह, सुफ़ेद, घनी दाढ़ी-मूछों ने—जिन्हें हफ्ते में एक बार बनाने की भी नौबत नहीं आती—उस सोलह साल के फूल को सुखाकर, काँटों की झाड़ी से घेर लिया है। दुर्भाग्य के स्रोत की शीर्ण शुष्क धाराओं की तरह, सिकुड़े हुए भाल पर गहरी चिन्ता की रेखाएँ पड़ गई हैं। नीले मुरझाए हुए ओठों के दोनों ओर नाक से मिली हुई दो लकीरों ने मनचाहा खाना न मिलने के कारण अनावश्यक मुख को दोनों ओर से दो घेरों में बंद कर दिया है। मुख का रंग धूप में जलकर काला पड़ गया है, और उसका प्रत्येक चर्म-अणु सूजी के दाने की तरह शोक-ताप में पक कर फूल गया है। रोड़े की तरह गले में अटकी हुई हड्डी मांस के सूख जाने से बाहर निकल आई है। वह चित्र भले ही हो, वास्तविक पीतांबर यही है। दुबला, नाटा, अविकसित हड्डियों का ढाँचा यह पीतांबर—उसकी कलाइयाँ दो अंगुल से अधिक चौड़ी नहीं, वे भी जैसे कसकर तंग चमड़े में बाँध दी गई हों। उसके इकहरे जीर्ण चमड़े के अंदर से चरबी का अस्तर कभी का गायब हो चुका है। रक्तहीन हाथों में नीली-नीली फूली नाड़ियाँ और हथेलियों में चूने-कत्थे से कटी रेखाओं की जालियाँ पड़ गई हैं। दु:ख, दैन्य और दुर्भाग्य के जीवन-प्रवाह के तट पर ठूँठ की तरह खड़ा उसके तीक्ष्ण, कटु आघातों से लड़ता हुआ पीताम्बर उस अभाव-वाचक स्थिति पर पहुँच गया है, जहाँ उस पर आशा, तृष्णा, लोभ, जीवनेच्छा, सौन्दर्य, स्पर्धा, मोह, ममता, उम्र आदि भाववाचक विभूतियों के अत्याचार-उत्पात का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। वर्तमान मनुष्यता, सामाजिकता, नैतिकता, धर्म,

आचार, रूढ़ि-रीतियों की कला का वह एक साधारण नमूना मात्र है। अपने देश के वर्तमान जीवन के कुशल कलाकार की तरह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं एवं परिस्थितियों की कूचियों से उसमें रूप, रंग, रेखाएँ भरकर उसे हमारी पैशाचिकता, पशुत्व, अंधकार का निर्मम सजीव चित्र बना दिया है। उस षोडश-वर्षीय किशोर का चित्र इस चित्र से कैसे मिल सकता है ? वह सब समय की मानवीय प्रकृति की कला का नमूना था, यह हमारी इस समय की सभ्यता की मानवीय विकृति का नमूना है।

पीतांबर जात का तंबोली नहीं, वह अच्छे घराने का है। छुटपन में ही माँ-बाप के मर जाने के कारण पीताबर अयाचित स्नेह के संरक्षण से वंचित हो गया। उसके भाई को, जो उससे पाँच साल बड़ा था, यह समझते देर नहीं लगी कि अब उसे दूसरों की चापलूसी, ख़ुशामद कर उनकी करुणा, दया को जाग्रत कर, उनके स्वभाव और इच्छाओं को अपना कर, दूसरों की बुरी वृत्तियों के सामने अपनी अच्छी प्रवृत्तियों का बलिदान कर, दबकर, सहकर, कुटकर, पिसकर जीवन निर्वाह करना है। मुक्ति-श्रेयी, माँ-बाप उसकी शादी कर गए थे। एक असहाय, मूक, पंगु, अपढ़, अंध-विश्वासों से निर्मित मांस की लोथ, निष्प्राण, पतिप्राण सती का भार उस पर था। इसलिए लाचार हो वाणी में दीनता, आँखों में याचना, होंठों में शरमायी हुई करुण हँसी भर कर सब के सामने आँखें झुकाना, माथा नवाना सीखकर यज्ञदत्त ने अपना स्वरूप बदल डाला। पड़ोस और शहर के लोग उसकी नम्रता, सेवा-तत्परता पर मुग्ध हो गए, उसे जिला बोर्ड में दफ़्तरी का काम दिला दिया। पंद्रह रुपए वेतन मिलता, जिसमें चार प्राणी किसी तरह जीवन व्यतीत करते। यज्ञदत्त में कोई खास बात न थी, वह जैसे ऐसे ही छोटे-मोटे काम के लिए बना था।

पर इसी यज्ञदत्त का भाई, उन्हीं माँ-बाप की दरिद्र कोख से पैदा हुआ पीतांबर अपने आत्माभिमान को न छोड़ सका, वह उस निर्धन घर पर अमीरदिल प्रकाश था। उसके वैसे ही संस्कार थे। सृष्टिकर्ता ने उसे निर्माण करने में किसी प्रकार का संकोच या संकीर्णता न दिखाई थी। प्रकृति ने रईसों के लड़कों को और उसे समान-रूप से अपने मुक्तदान, अपनी गुप्त शक्तियों का अधिकारी बनाया था। उसके स्वभाव में आत्मसम्मान प्रमुख, और इच्छाएँ गौण हो गई थीं। किसी के सामने झुकना, किसी के रोब में आना उससे न हो सकता था। माँ को वह खो ही चुका था, जिसके हाथों का स्नेह-स्पर्श उसके अभिमान और हठीले स्वभाव के तीखे कोनों को कोमल, चिकना बना सकता। अभिमान केवल स्नेह के सामने झुक सकता है, उसे सहिष्णु साथी की ज़रूरत होती है। पर अपने भले-बुरे के ज्ञान से अनभिज्ञ उस ग़रीब के लड़के को ऐसा कुछ भी न मिल सकने के कारण उसका अतृप्त अभिमान आत्म-निर्माण करने के बदले आत्म-संहारक हो गया। पीतांबर

उच्छृंखल, स्वतंत्र तबियत का हो गया। आत्महीनता के पीड़ाजनक ज्ञान से बचने के लिए वह धनी युवकों से मित्रता स्थापित कर झूठा संतोष ग्रहण करने लगा। जीवनोपाय के लिए कोई हुनर, कोई उद्योग सीखने की ओर उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया, जिससे पीछे उसे सच्चा संतोष मिल सकता। वह बड़ा तेज़ और होशियार था। बात की बात में शहर के अमीर लड़कों को अपने वश में कर, उनकी स्नेह-सहानुभूति पर अधिकार प्राप्त कर, मौज उड़ाया करता। वह मनोरंजन के उन्हें नित्य नवीन उपाय बतलाता, जवानी की बहार लूटने को उत्साहित करता, उसमें साहस भरता और मुश्किल को आसान बनाकर अपने को उनके लिए आवश्यक बना लेता था। वह उनसे दबता न था, बराबरी का व्यवहार रखता था। उनके साथ पिकनिक में जाता, ताश खेलता, हॉकी, फुटबाल, क्रिकेट में अपनी दक्षता दिखलाता, किसी के कुछ कहने पर या छेड़ने पर बिगड़ भी उठता। यदि वह वैसा उद्दंड, स्वतंत्र एवं आत्माभिमानी न होता और अपने मित्रों की जरा सी ख़ुशामद कर सकता, तो आज वह फटेहाल न होता।

अमीरज़ादों के साथ ऐश-आराम में रहना सीख कर शीघ्र ही वह जीवन-संग्राम की कठिनाइयों को झेलने और कठोर परिश्रम कर सकने में अक्षम साबित हो गया। जवानी का ख़ुमार उतरने और होश आने पर उसने अपने को मोर के पर लगाए हुए कौए की तरह और भी दयनीय, कुरूप, एवं निकम्मा पाया। अपने भाई की ग़रीब गृहस्थी से, पास-पड़ोस से, शहर से और खुद अपने से उसे घृणा होने लगी, वह और भी चिड़चिड़ा, दुराग्रही, हठी, निन्दक, आत्म-घातक और परद्रोही हो गया। उसके धनी मित्रों ने भी, जिनके साथ रह कर उसे अनेक प्रकार की कुटेवें और बुरी आदतें पड़ गई थीं, उसकी ऐसी दशा देखकर उसका साथ छोड़ दिया। वह न घर का रह गया न घाट का। चाय, पान, सिगरेट के लिए, सुस्वादु भोजन के लिए अब उसका जी तरसने लगा। सिनेमा, थियेटर उसे और भी ज़ोर से अपनी ओर खींचने लगे। लाचार हो, अपने से तंग आकर उसने अपने ग़रीब भाई की ज़ेब पर हाथ साफ़ करना शुरू किया। भाई उससे पहले से ही रुष्ट था, अब उसका ऐसा पतन देखकर उसने उसका घर में आना बंद कर दिया।

सब तरह से निराश हो, अपमान, भय, लज्जा, क्षोभ, यातना, आत्म-सम्मान, दारुण भूख-प्यास से एक साथ ही ग्रस्त, पीड़ित, क्लांत एवं पराजित हो अंत में पीतांबर ने एक तंबोली की दूकान में पान लगाने की नौकरी कर ली, पर वहाँ भी वह अधिक समय तक न ठहर सका। उसकी कुटेवें उसका दुर्भाग्य बन गई थीं। और एक रोज़ दूकान पर पान खाने को आई हुई एक वेश्या के रूप-सम्मोहन के तीर से बुरी तरह घायल हो उसने शाम के वक्त चुपचाप गल्ले की संदूकची से पाँच रुपए का नोट चुराकर अपनी विपत्ति-निशा

की कालिमा को एक रात के कलंक से और भी कलुषित कर डाला। उसका स्वाथ्य अभी खराब नहीं हुआ था। उसके अविवाहित जीवन, सबल इंद्रियों की स्वस्थ प्रेरणाओं का समाज अथवा संसार क्या मूल्य आँक सकता था, क्या सदुपयोग कर सकता था ? फूल की मिलनेच्छा सुगंध कही जाती है, मनुष्य की प्रणयेच्छा, दुर्गंध, उसे निर्मल समीर वाहित करता है, इसे कलुषित लोकापवाद। नर-पुष्प के वीर्य को गीत गाता हुआ भौंरा, नृत्य करता हुआ मलयानिल स्त्री-पुष्प के गर्भ में पहुँचा आता है, मनुष्य का वीर्य वैवाहिक स्वेच्छाचार की अंधी कोठरियों, पाशविक वेश्याचार की गंदी नालियों में, सहस्त्र प्रकार के गर्हित, नीरस, कृत्रिम, मैथुनों द्वारा छिपे-छिपे प्रवाहित होता है। यह इसलिए कि हम सभ्य हैं, मनुष्य के मूल्य को, जीवन की पवित्रता को समझ सकते हैं। असंख्य जीवों से परिपूर्ण यह सृष्टि एक ही अमर, दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति हैं, प्रकृति के सभी कार्य पुनीत हैं, मनुष्य-मात्र की एक ही आत्मा है—हम ऐसे-ऐसे दार्शनिक सत्यों के ज्ञाता एवं विधाता हैं, हम प्रकाशवादी हैं !

खैर, दुकान का मालिक पीतांबर को पुलिस के हवाले करने जा रहा था, उसके बड़े भाई ने बीच-बचाव कर, हाथ जोड़कर, गिड़गिड़ाकर तंबोली के रुपये भर दिए और पीतांबर को धिक्कारकर, उस पर गालियों की बौछार कर, अंत में लोगों के समझाने पर तरस खाकर उसके लिए निजी पान की दूकान खोल दी। तभी से हमारे कथानायक इस दूकान की गद्दी पर बैठकर पान वाले की उपाधि से विभूषित हुए। अवश्य ही वह कोई शुभ मुहूर्त रहा होगा कि उस पानवाले की गद्दी अभी तक बनी हुई है; भले ही वह नाम-मात्र को हो।

पर यहाँ से पीतांबर का दूसरा दुर्भाग्य शुरू हुआ। वह क्रियाशील, निरंकुश पीतांबर अब विचारशील और गंभीर हो गया। उसका रुद्ध आत्माभिमान कुंठित हो गया; वह निर्जीव, निर्बलात्मा, निश्चेष्ट, अस्थि-मांस का पुतला मात्र रह गया। उसने यथाशक्ति अपने स्वभाव और प्रवृत्तियों के अनुसार अपने परिस्थितियों के संसार में लड़ने, जीवन-संग्राम में विजय पाने का प्रयत्न किया था, पर वह निष्फल हुआ—संसार ने ही अंत में उस पर विजय पाई।

क्या वह निर्धन युवक किसी भाग्य-दोष से या अपने दोष से निरंकुश, उच्छृंखल अथवा आत्माभिमानी था ? क्या ग़रीब के लड़के में ऐसे गुण शोभा नहीं देते ? नहीं-नहीं, वह सुंदर, स्वस्थ, सशक्त, सचेष्ट, आत्म-सम्मान से पूर्ण युवक ग़रीब का लड़का कैसे हो सकता है ? जब प्रकृति ने अपने सब विभवों से सँवारकर उसे धनी-मानी बनाया था। वह युवक अपना सौन्दर्य पहचानता था, अपने सुंदर स्वस्थ शरीर के प्रभाव से वह अनजान न

था, युवावस्था की प्रवृत्तियों ने उसके मन-चक्षुओं के सामने जो एक सौन्दर्य का स्वर्ग, आशा-आकांक्षाओं का इंद्रजाल उछाल दिया था, अपने और संसार के प्रति जो एक प्रगाढ़ अनुरक्ति एवं उपभोग की सामर्थ्य पैदा कर दी थी, —उसकी अमंद मादकता से, प्रबल आकर्षण से वह कैसे आत्म-विस्मृत न होता? बाह्य-जगत के जीवन-संघर्ष का आघात लगते ही उसकी सहज-प्रेरणा उसके अन्दर एक आत्मविश्वास पैदा करती रहती थी कि उसके अभिमान का, उसके अस्तित्व का मूल्य आँकनेवाला कोई मिलेगा; कोई अवश्य मिलेगा जो उसकी समस्त आशा, आकांक्षाओं के लिए, प्रवृत्तियों की चेष्टाओं के लिए मार्ग खोल देगा। उनके सौन्दर्य से वशीभूत होकर उन्हें चरितार्थ कर देगा, तृप्त कर देगा। प्रत्येक युवक के भीतर स्वभावतः यह स्फुरणा जन्म पाती है।

पर इस आत्म-संतोष के लिए धनी युवकों के पास जाना पीतांबर की अनुभव-शून्यता एवं भ्रम था। वे इस काम के लिए उससे भी निर्धन थे। यह काम किसी एक व्यक्ति के करने का था भी नहीं। इसका संचालक या संपादक हो सकता है हमारा सुव्यवस्थित, सामाजिक या सामूहिक व्यक्तित्व। सामाजिक एकता, सामाजिक सुव्यवस्था एवं समुन्नति व्यक्ति का विशद व्यक्तित्व है, जिसकी छत्र-छाया में वह आत्मोन्नति कर सकता है, आत्म-तृप्ति पा सकता है। समाज व्यक्ति की सीमा का सापेक्ष निःसीम है। वह बूँदों की सम्मिलित शक्ति का समुद्र है, जिसमें मिलकर प्रत्येक बूँद एकत्रित ऐश्वर्य का उपभोग कर सकता है, पर अपने देश में वह सामूहिक आधार है ही नहीं जिसकी विशद भूमि पर व्यक्ति निर्भीक रूप से खड़ा होकर आगे बढ़ सके। हम सब अनाथ, यतीम हैं, हमारा देश एक महान् सभ्यता का विशाल भग्नावशेष है। हमारे यहाँ प्रत्येक व्यक्ति एक व्यक्ति-मात्र, मांसपिण्ड-मात्र है—वह कुलीन हो या अकुलीन, धनी हो या निर्धन। वह समाज नहीं है, वह देश नहीं है, उसके पीछे इन सब का सम्मिलित बल काम नहीं करता। वह निराधार है, वह क्षुद्र है।

हम केवल व्यक्तिगत उन्नति, व्यक्तिगत सम्मान, व्यक्तिगत शक्ति को ही समझ सकते हैं, उसी का उपभोग भी करते हैं—अपने सामाजिक व्यक्तित्व का सम्मान, उसकी शक्ति एवं उन्नति का महत्त्व अभी हमें मालूम नहीं हो पाया, इसीलिए हम कच्चे सूत की लच्छी के उन उलझे और बिखरे तागों की तरह हैं, जो अपनी एकता से बनने वाली रस्सी के बल से अपरिचित हैं।

फलतः इस विशाल पृथ्वी पर जटिल जीवन-संग्राम की कठिनाइयों का सामना हम में से प्रत्येक को केवल अपने बल पर करना पड़ता है। अर्थात् प्रत्येक तिनके को बाढ़ का सामना पृथक्-पृथक् रूप से करना पड़ता है! व्यक्ति के लिए देश के व्यक्तित्व का, मनुष्य

के लिए विश्व के व्यक्तित्व का अभाव होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति की इकाई केवल व्यक्ति ही रह जाता है और उसके लिए बाह्य-जगत के जीवन-संग्राम के घात-प्रतिघात, उत्थान-पतनों को सहना कठिन ही नहीं असंभव हो जाता है। दो-एक बार निष्फल होकर वह शीघ्र ही अपने को अयोग्य समझने लगता है और हतबुद्धि हो अंत में निराशावादी, भाग्यवादी, दुःखवादी, विरक्त, उदास, द्रोही, द्वेषी, निन्दक सभी कुछ बन जाता है। सभ्यता के ह्रास के युग में, राष्ट्र के या समाज के अवनति के युगों में ऐसी ही विचारधारा जनसाधारण की बन जाती है।

इसी विचारधारा के प्रवाह में प्रताड़ित, प्रतिहत, पीतांबर भी तिनके की तरह बह गया। समाज की दुर्बलता को वह अपनी दुर्बलता, उसके दोषों को अपने ही दोष समझने लगा। वह अपनी ही आँखों में गिर गया। ईश्वर ने उसे क्यों वैसा हेय, जघन्य और निकम्मा बनाया, यह उसकी समझ में नहीं आया। वह उसे अपने ही कर्मों का, पापों का फल, पूर्व-जन्म का, भाग्य का दोष मानने लगा। अपने चारों ओर व्याप्त वातावरण में उसे ऐसे ही विचार और भावनाएँ मिलीं, जो उसके भीतर भी जड़ जमा गईं। उसे अपने से घृणा, अच्छाई से घृणा—जीवन, संसार सब से विरक्ति हो गई। वह अपने अंतर की जीवनोत्पादक प्रेरणाओं, अभिलाषाओं, आशाओं, रुचियों को बलपूर्वक दबाने लगा। मन ही मन जीवन-इच्छा के लिए आत्मा का तिरस्कार करने लगा। वह जीवन माया है, संसार भ्रम है, इच्छाओं का अंत दुःख है; जीवन, संसार, आत्म-उन्नति सब कुछ दुःखमय है, यह सब निर्मम भाग्य का छल है। ऐसी ही बातों में उसका विश्वास बढ़ने लगा। उसके भीतर कार्य में प्रवृत्त करने वाली स्फुरणा निश्चेष्ट पड़ गई, मन की सब स्फूर्ति सदैव के लिए जाती रही। उसने अपने से भी गए-बीतों, दुर्भाग्य-पीड़ितों को देखना, उन पर सोचना प्रारंभ किया; ऐसे विचारों से उसे सान्त्वना मिलने लगी और उसका विश्वास जीवन और संसार की निस्सारता पर बढ़ने लगा। व्यक्ति के जिस क्षुद्र रूप को उसने जीवन और संसार का स्वरूप समझ लिया था, वह अवश्य ही निस्सार एवं दुःखप्रद है। व्यक्ति के विशद रूप का, उसके सामाजिक, दैशिक, विश्व-व्यक्तित्व का चिरंतन स्वरूप उसे अपने यहाँ कहीं देखने को नहीं मिला। जीवन की समग्रता से कटकर वह अलग हो गया और पेड़ की डाली से विच्छिन्न पुष्प की तरह मुरझाने और सूखने लगा।

किसी को सुंदर, स्वस्थ, संसार में रत, आशा, सदिच्छा, सदाशयता में तत्पर देखकर उसके भीतर से एक विद्रूप हँसी निकलने लगी, वह सबका उपहास करने लगा। सभी पर ताने कसना, व्यंग्य-बौछार करना उसका स्वभाव ही बन गया। उसका समस्त विश्वास भाव से विश्व से उठ गया, अभाव का विश्व कठोर है सही, पर वही सत्य है। सुख,

सफलता, संपत्ति का स्वप्न देखना अज्ञान है। अब वह मनुष्यों की खोट, उनकी बुराइयों को खोजने लगा। जो कोई सुखी-संपत्तिशाली दीखता, समाज जिसे आदर-सम्मान देता उसमें भी दो-चार दोष निकालकर वह अपने मन को संतोष देने लगा। उसके पड़ोस में उसके किसी संबंधी ने एक विशाल दो-मंजिला कोठी खड़ी कर दी थी। वह आधुनिक ढंग की, बड़ी ही सुंदर, उस ग़रीब बस्ती में अपना गर्वोन्नत मस्तक उठाए हुए थी, पर पीतांबर ने वह सड़क के किनारे है, उसमे पर्दा नहीं, उसके मालिक ने मजदूरों की तनख़्वाह काटी इत्यादि, उसमें कई दोष निकाल दिए। वह जब मक़ान जाता उस कोठी की ओर कभी नहीं देखता, पहले ही से आँखें फेर लेता।

हम कभी से इस अभावात्मक सत्य पर विश्वास करते चले आ रहें हैं। ऐसा करने से हम सक्रिय जीवन के घात-प्रतिघात, उसकी स्वास्थ्यवर्धक स्पर्धाओं का सामना करने से बच जाते हैं, हम अपने विशद व्यक्तित्व के उज्ज्वल परिमाणों से अनभिज्ञ होने के कारण क्षुद्र व्यक्तित्व को अपनाए हुए हैं, अपने को सर्व न बना सकने के कारण हम शून्यवत् हो गए हैं। पर सूरज, चाँद और तारे हमें शून्य बन जाने का उपदेश नहीं देते। नीला आकाश, हरी धरती, इठलाती वायु, रंग-बिरंगे फूल, गाते हुए पक्षी, दौड़ती हुई लहरें, हमें दूसरा ही सदेश देते, दूसरे ही सत्य का दर्शन कराते हैं। वहाँ अजेय जीवन, अविराम सृजन हमारे मरणशील व्यक्तित्व का, हमारे जड़त्व और निर्जीवता का प्रत्येक क्षण उपहास उड़ाया करते हैं, हमें विश्व की समग्रता की ओर, हमारे अमर व्यक्तित्व की ओर आकर्षित करते रहते हैं। पारस्परिक स्पर्धा, द्वेष, द्रोह, छोटे-मोटे सुख-दुःख, हानि-लाभ, भेद-भाव के अंधकार से घिरे हम सर्वत्र-प्रकाशमान सम्पूर्णता से अपना संबंध-विच्छेद कर नाशमान हो गए हैं।

इसी अभावात्मक सत्य की निर्जीव-सजीव मूर्ति पीतांबर को हम छुटपन से इस पानवाले के रूप में देखते आए हैं। उसे अब निश्चेष्ट, निर्जीव रहने ही में आराम मिलता है। उसका स्वास्थ्य अब नहीं के बराबर रह गया है। लगातार पान चबाने से दाँत सड़ गए, दिन-रात बैठे रहने से जठराग्नि बुझ गई है। वह केवल जीवित रहने के अभ्यास से जीता है। स्वास्थ्य गँवा बैठने एवं हृदय में निर्जीवता व्याप्त हो जाने के कारण वह अपनी पत्नी से भी प्रसन्न नहीं रह सका। पानवाला बन जाने के कुछ ही महीनों बाद भाई ने उसकी शादी कर दी थी। जब तेल टपक कर समाप्त हो चुका था तब केवल वत्ती को जलाने के लिए मानो दीपक को शिखा के पाश में बाँध दिया गया। पीतांबर का निर्बल रुग्ण बच्चा जब जाता रहा तब उसने संतोष की ही साँस ली।

आज दीवाली के रोज दूकान सजाते हुए उसने एक पुराना मिट्टी का खिलौना कपड़े

की तहों से बाहर निकाल गद्दी के पास रक्खा है। जिसके लिए पाँच साल पहिले यह खिलौना लाया था वह तो रहा नहीं, यह खिलौना रह गया है। "वह मिट्टी का नहीं था इसलिए, वह मिट्टी का नहीं था!" ऐसा कहते हुए पीतांबर उसी तरह ठठाकर हँस रहा है।

आत्मकथा

जीवन कथा

मेरा जन्म सन् 1900 में 20 मई को हुआ, इस प्रकार बीसवीं सदी के साथ ही मैं बड़ा हुआ हूँ। मेरी जन्मभूमि कौसानी का छोटा-सा गाँव है, जो हिमालय के अंचल में बसा हुआ है और उत्तर प्रदेश के एक उत्कृष्ट सौन्दर्य-स्थलों में माना जाता है। गाँधी जी ने उसकी तुलना स्विट्ज़रलैण्ड से की है। कौसानी के बारे में मैंने अपनी 'आत्मिका' नामक कविता में इस प्रकार कहा है:

हिमगिरि प्रांतर था दिग् हर्षित, प्रकृति क्रोड़ ऋतु शोभा कल्पित,
गंध गुथी रेशमी वायु थी, मुक्त-नील गिरि पंखों पर स्थित!...

मेरी माँ की मृत्यु मेरे जन्म के छ: सात घंटों के भीतर ही हो गई थी। मैंने प्रकृति की गोद में पलकर ही, प्रारंभ में, अपनी रचनाओं के लिए कौसानी के सौन्दर्यपूर्ण वातावरण से प्रेरणा ग्रहण की। सन् 1926 तक, जब तक मेरा संबंध हिमालय की तलहटी की रानी कौसानी से बना रहा, मेरी रचनाओं में प्रकृति-चित्रण की प्रधानता मिलती है। रचना-काल की दृष्टि से आप मेरे प्रकृति-काव्य के युग को *पल्लव* की रचनाओं तक ले सकते हैं, जिसका प्रकाशन सन् 1926 में हुआ। मेरी बाद की रचनाओं में भी प्रकृति संबंधी उद्गार मिलते हैं, पर उनकी प्रधानता नहीं दिखाई देती।

कौसानी में चाय का बगीचा था और मेरे पिता वहाँ पहले एकाउंटेन्ट और पीछे मैनेज़र के पद पर काम करते थे। चौथी कक्षा तक मेरी शिक्षा कौसानी के ही वर्नाकुलर स्कूल में हुई। उसके बाद प्राय: दस साल की उम्र में मुझे उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अल्मोड़ा गवर्नमेन्ट हाईस्कूल में भेज दिया गया जहाँ हमारा विशाल पैतृक गृह था और मेरे बड़े भाई पढ़ते थे। गाँव से नगर में जाने पर मुझे अनेक लाभ हुए। वहाँ मेरा मानसिक क्षितिज ही विस्तृत नहीं हुआ, साहित्य के अध्ययन-मनन की ओर भी मेरा अनुराग बढ़ा। और मुक्त प्रकृति के गीत गानेवाला वन विगह छंद अलंकार आदि संबंधी काव्य-शास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त कर शास्त्रीय व्यायाम में दक्षता प्राप्त करने लगा। अपनी कुछ ऐसी ही अनुभूति के बारे में मैंने तब लिखा था:

तेरा कैसा गान, विहंगम, तेरा कैसा गान!
न गुरु से सीखे वेद पुराण, न षड्दर्शन, न नीति विज्ञान,
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान? मनन कर मनन, शकुनि नादान!

अल्मोड़ा में सार्वजनिक सभाओं में नेताओं के जो भाषण होते उनसे मेरे स्वदेश-प्रेम तथा मातृभाषा के प्रति सम्मान की भावना में वृद्धि हुई। पुस्तकालयों से अच्छी-अच्छी पुस्तकें सुलभ हो सकने के कारण साहित्य के अतिरिक्त सामाजिक तथा ऐतिहासिक जीवन का ज्ञान भी अधिक गंभीर तथा परिपुष्ट हो सका। उस समय के बारे में मैंने लिखा है :

इन्हीं दिनों तब विश्व युद्ध की दिगृध्वनि प्रथम पड़ी कानों में
निर्मम विस्मय कौतूहल बन रही घुमड़ती जो प्राणों में।
'पराधीन यह भारतमाता, हमें काटने दुख के बंधन,
नव युवकों को देश भक्ति हित अर्पित करने अपने जीवन—'
जागृति का संदेश लिए नव मंचों से नित होते भाषण,
जनपद से मैं नगरवास में करता विद्याध्ययन छात्र बन! —इत्यादि।

1916 से 18 तक मेरे दो काव्य-संग्रह *कलरव* तथा *नीरव तार* के नाम से लिखे गये और 1916 में जब मैं आठवीं कक्षा में पढ़ता था मैने *हार* नामक एक खिलौना उपन्यास भी लिख डाला, जिसका प्रकाशन हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा मेरी षष्ठि-पूर्ति के अवसर पर हुआ। इस प्रकार सन् 11 से 18 तक मेरा छात्र-जीवन मेरी साहित्यिक रुचि के विकास के लिए उपयोगी सिद्ध हुआ और मैंने इस बीच भारतेन्दु युग से लेकर तत्कालीन द्विवेदी-युग तक के गद्य- पद्य साहित्य का गंभीर अध्ययन कर डाला। मेरा शब्द-ज्ञान इतना समृद्ध हो गया था कि मेरे सहयोगी मुझे 'मशीनरी ऑफ़ वर्ड्स' कहा करते थे।

सन् 1918 में मुझे मँझले भाई के साथ बनारस भेज दिया गया, जहाँ से मैं हाई स्कूल की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। बनारस का नौ-दस महीनों का प्रवास काव्य-बोध तथा साहित्य-साधना की दृष्टि से आशातीत रूप से लाभदायक सिद्ध हुआ। काशी जैसे बड़े नगर के भरे-पूरे जीवन तथा वहाँ की साहित्य तथा संस्कृति की परंपरा की ओर मेरा मन विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। वहाँ एक ओर जहाँ मेरे संस्कृत-साहित्य के ज्ञान की अभिवृद्धि हुई वहाँ दूसरी ओर अपने एक बंगाली मित्र की सहायता से मैं रवीन्द्र-साहित्य के संपर्क में आकर उनकी काव्य-माधुरी का रसास्वादन करने में भी समर्थ हुआ। रवीन्द्रनाथ की सौन्दर्य भावना, परिष्कृत कल्पना तथा युगबोध की चेतना मेरी काव्य-दृष्टि में नए आयामों को जोड़ने में सहायक हुई। इसी समय मैंने रीतिकालीन कवियों का भी अध्ययन किया जिससे मेरी भाषा में कोमलता तथा माधुर्य का पुट आया। मेरी *वीणा* तथा *ग्रंथि* नामक काव्य-पुस्तकें इसी काल की रचनाएँ है, जिनमें द्विवेदी-युग का इतिवृत्तात्मक

काव्य एक नया मोड़ लेता नज़र आता है। हमारा युग छायावाद युग कहलाता है। बहुत से विद्वानों का मत है कि इस युग का छायावाद नाम मेरी प्रसिद्ध कविता 'छाया' के कारण पड़ा, पर यह शायद उस युग की सौन्दर्य-दृष्टि तथा भावबोध के कारण भी पड़ा हो, जो द्विवेदी-युग की सौन्दर्य-दृष्टि तथा भावबोध से अधिक सूक्ष्म तथा परिष्कृत थी। मेरे सहयोगियों में प्रसाद, निराला तथा महादेवी भी रहे, जिनमें प्रसाद और निराला ने मुझसे पहले लिखना शुरू कर दिया था और महादेवी ने बाद को। पर छायावाद की काव्य-चेतना का उदय, संभवत: हम सभी में प्राय: एक ही काल के आस-पास हुआ। फिर भी अग्रज होने के कारण कुछ लोग प्रसाद ही को इस काव्य-धारा का प्रवर्तक मानते है।

मेरी काव्य-प्रतिभा का सर्वाधिक विकास सन् 1919 से 21 के दशक में हुआ जब मैं प्रयाग म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में विद्याध्ययन के लिए गया। सन् 21 में गाँधी जी के असहयोग आंदोलन में मैने उनके आह्वान पर कॉलेज छोड़कर छात्र-जीवन को तिलांजलि दे दी और तब से स्वतंत्र रूप से अंग्रेज़ी, हिन्दी, संस्कृत और बंगला साहित्य का अध्ययन करने लगा। इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेज़ी साहित्य के गंभीर पठन और कालिदास आदि संस्कृत कवियों के अधिकाधिक संपर्क में आने से मुझे अपनी काव्य-चेतना, भाव-बोध तथा कला-शिल्प संबंधी दृष्टि के विकास में अभूतपूर्व सहायता मिली और इस समय की मेरी रचनाओं ने जो सन् 26 में *पल्लव* नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई, हिन्दी-कवियों में मुझे अपने विशिष्ट स्थान का अधिकारी बना दिया। *पल्लव* काल तक मेरी कृतियों में कला, सौन्दर्यबोध तथा भावनाजनित आवेगों की प्रधानता मिलती है। सन् 26 के बाद वैयक्तिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय संघर्ष के प्रति मेरा मन अधिक प्रबुद्ध होने लगा और पहला संतुलन मैंने भारतीय जीवन-दृष्टि के अनुरूप अपने व्यक्तिगत जीवन के उद्वेगों, संघर्षों तथा उत्थान-पतनों में स्थापित करने की चेष्टा की, जिस अंत:साधना की अभिव्यक्ति मैंने *गुंजन* के प्रगीतों में देने का प्रयत्न किया है। *गुंजन* की रचनाओं में मैंने वैयक्तिक सुख-दु:ख की भावना में समत्व स्थापित कर लोक-जीवन की ओर अपनी, दृष्टि को मोड़ने का प्रयास किया है. इस सन् 26 से 30 तक के काल को मैं आत्मसाधना का काल कहता हूँ जिसके स्पंदनों को *गुंजन* में वाणी मिली है। उसके बाद ही मैंने अपने समाज-दर्शन तथा मानवता की विकसित होती हुई धारणा को अपने *ज्योत्स्ना* नामक नाट्य-रूपक में सँजोने का प्रयत्न किया है और सन् 35 में *युगांत* की रचनाओं तक पहुँचते-पहुँचते मेरी जीवन-दृष्टि में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, जिसका आभास 'द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र' या 'गा कोकिल, बरसा पावक कण' आदि रचनाओं में मिलता है। कला-शिल्प के परदे को उठाकर मेरी दृष्टि भीतरी—जीवन सत्य तथा बाहरी जीवन-परिस्थितियों का साक्षात्कार करने लगी।

सन् '36 के उपरांत मेरे मानवतावादी दृष्टिकोण में उत्तरोत्तर व्यापकता आने लगी।

सन् '31 से '40 तक गाँवों के निकट संपर्क में आने के कारण तथा द्वितीय विश्वयुद्ध, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की पृष्ठभूमि में कार्ल मार्क्स के जीवन-दर्शन तथा रूसी साम्यवादी वस्तुदृष्टि के अधिकाधिक प्रचार-प्रसार के कारण मैंने अपनी *युगवाणी* तथा *ग्राम्या* नामक काव्य-संग्रहों में सामाजिक-भौतिक मूल्यों को भारतीय आदर्शवाद के अंचल में बाँधने का प्रयत्न कर मानव-जीवन के लिए उनकी अनिवार्य उपयोगिता पर बल दिया। इस युग का मेरा काव्य विश्वजीवन की राजनीतिक, सामाजिक प्रगति से संबद्ध रहा और उसमें एक प्रमुख स्वर गाँधीजी के जीवन-दर्शन का भी रहा। इन रचनाओं में मेरी इस प्रकार की अनेक भावनाएँ मिलती हैं :

धन्य मार्क्स, चिर तमाच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान चक्षु-से प्रकट हुए प्रलयंकर।

....

साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण।

....

भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान।
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।—इत्यादि

मानव-कल्याण अथवा लोकमंगल का जो व्यापक आधार मुझे इस युग की जन साम्य तथा लोक संगठन की भावना तथा अर्थशास्त्र संबंधी कार्ल मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि में देखने को मिला उसका शिखर मुझे भारतीय अध्यात्म के उन मानवतावादी मानव-प्रेम, जीवन सौन्दर्य तथा आनंद आदि के सांस्कृतिक मूल्यों में मिला जिनके बिना मेरी मन की आँखों के सम्मुख विश्व जीवन एवं लोक मानवता का परिपूर्ण चित्र ही नहीं उतर पाता था। इसी से सन् 1940 के बाद की मेरी रचनाओं में लोक मानव के राजनीतिक-आर्थिक उन्नयन के साथ ही उसके सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक विकास के प्रति भी आग्रह मिलता है। *स्वर्णकिरण* की *इन्द्रधनुष* आदि रचनाएँ मेरी इन्हीं मान्यताओं पर आधारित भावनाओं से ओतप्रोत है। *लोकायतन* की कल्पना भी मानव सत्य के प्रति इसी समग्र (इंटीग्रल) दृष्टि से प्रेरित है। उसमें मैंने व्यापक सांस्कृतिक जीवन, लोक ऐक्य तथा विश्वशांति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है और एक संतुलित लोक समता पर आधारित राजनीतिक-आर्थिक दृष्टि से संपन्न जीवन-व्यवस्था के ढाँचे में मानव आत्मा के आनंद, सौन्दर्य के साथ ही इस धरती के जीवन के प्रति प्रेम तथा हृदय की पवित्रता को प्रतिष्ठित करने का आग्रह किया है। इस संक्षिप्त आत्मकथा में मैं अपनी कृतियों के संबंध में इतना ही कहकर संतोष करता हूँ।

शिल्प और दर्शन

मेरी पहली कविता

जहाँ तक मुझे स्मरण है मेरी पहली कविता में कोई विशेषता नहीं थी, जैसे-जैसे मेरे मन का अथवा मेरी भावना या चेतना का विकास हुआ और मेरा जीवन का अनुभव गंभीर होता गया मेरी कविता में भी निखार आता गया।

मेरी पहली कविता एक न होकर अनेक थी। अपने किशोर मन के आवेग और उत्साह को अथवा कविता के प्रति अपने नवीन आकर्षण को 'ताल और लय' में बाँधने की आकुलता में मैं अनेक छंदों में अनेक पद साथ ही लिखा करता था। किसी छंद में चार चरण और किसी में आठ या बारह चरण लिखकर मेरा सद्य:-स्फुट काव्य-प्रेम मेरी अस्फुट भावना को अनेक रूपों में व्यक्त कर संतुष्ट होता था। इस प्रकार के मेरे समस्त प्रारम्भिक किशोर-प्रयत्न मेरी पहलो कविता कहे जा सकते हैं, क्योंकि उन सबका एक ही विषय होता और उनमें एक ही भावना और प्राय: एक ही प्रकार के मिलते-जुलते शब्द रहते थे, जो केवल विभिन्न छंदों और तुकों के कारण अलग-अलग रचना-खंड प्रतीत होते थे। उदाहरण स्वरूप हमारे घर के ऊपर एक गिरजाघर था जहाँ प्रत्येक रविवार को सुबह-शाम घंटा बजा करता था। यह अल्मोड़े की बात है और जैसा कि पहाड़ी प्रदेशों में प्राय: हुआ करता है हमारा घर नीचे घाटी में था और गिरजाघर ऊपर सड़क के किनारे उस गिरजे के घंटे की ध्वनि मुझे अत्यंत मधुर तथा मोहक प्रतीत होती थी। गिरजे के घंटे पर मैंने प्राय: रविवार के दिन अनेक छंदों में अनेक कविताएँ लिखी हैं, जिन्हें प्रयत्न करने पर भी अब मैं स्मरण नहीं कर पा रहा हूँ। उन सब रचनाओं में प्राय: यही आशय रहता था कि "हम लोग बेखबर सोए हुए है। यह दुनिया एक मोह निद्रा है, जिसमें हम स्वप्नों की मोहक गलियों में भटक रहे हैं। गिरजे का घंटा अपने शांत मधुर आह्वान से हमें जगाने की चेष्टा कर रहा है और हमें प्रभु के मंदिर की ओर बुला रहा है जहाँ दुनिया की मोह-निशा का उज्ज्वल प्रभात हमारी प्रतीक्षा कर रहा है। ईश्वरीय प्रेम का जीवन ही केवल मात्र पवित्र जीवन है। प्रभु ही हमें पापों से मुक्ति प्रदान कर सकते हैं।" इत्यादि। अल्मोड़े में पादरियों तथा ईसाई धर्म-प्रचारकों के भाषण प्राय: ही सुनने को मिलते थे, जिनसे मैं

छुटपन में बहुत प्रभावित रहा हूँ। वे पवित्र जीवन व्यतीत करने की बातें करते थे और प्रभु की शरण में आने का उपदेश देते थे, जो मुझे बहुत अच्छा लगता था। गिरजे के घंटे की ध्वनि से प्रेरणा पाकर मैंने जितनी रचनाएँ लिखी हैं, उन सब में इन्हीं पादरियों के उपदेशों का सार-भाग किसी न किसी रूप में प्रकट होता रहा है। 'गिरजे का घंटा*' शीर्षक एक रचना मैंने अपने आत्मविश्वास तथा प्रथम उत्साह के कारण श्री गुप्त जी के पास भेज दी थी, उन्होंने अपने सहज सौजन्य के कारण उसकी प्रशंसा में दो शब्द लिखकर उसे मेरे पास लौटा दिया था।

अब एक दूसरा उदाहरण लीजिए। मेरे भाई एक बार अल्मोड़े में किसी मेले से काग़ज़ के फूलों का एक गुलदस्ता ले आए, जिसे उन्होंने अपने कमरे में फूलदान में रख दिया था। मैं जब भी अपने भाई के कमरे में जाता था, काग़ज़ के उन रंग-बिरंगे फूलों को देखकर मेरे मन में अनेक भाव उदय हुआ करते थे। मैं बचपन से ही प्रकृति की गोद में पला हूँ। काग़ज़ के वे फूल अपनी चटक-मटक से मेरे मन में किसी प्रकार की भी सहानुभूति नहीं जगा पाते थे। मैं चुपचाप अपने कमरे में आकर अनेक छंदों में अनेक रूप से अपने मन के उस असंतोष को वाणी देकर काग़ज़ के फूलों का तिरस्कार किया करता था। अंत में मैंने सुस्पष्ट शब्दों में अपने मन के आक्रोश को एक चतुर्दशपदी में छंदबद्ध करके उसे अल्मोड़े के एक दैनिक पत्र में प्रकाशनार्थ भेज दिया, जिसका आशय इस प्रकार था: हे काग़ज़ के फूलो, तुम अपने रूप-रंग में उद्यान के फूलों से अधिक चटकीले भले ही लगो, पर न तुम्हारे पास सुगंध है, न मधु। तुम स्पर्श को भी तो वैसे कोमल नहीं लगते हो। हाय, तुम्हारी पँखुड़ियाँ कभी कली नहीं रहीं, न वे धीरे-धीरे मुस्कराकर किरणों के स्पर्श से विकसित हो हुईं। अब तुम्हीं बतलाओ तुम्हारे पास भ्रमर किस आशा से, कौन-सी प्रेम याचना लेकर मँडराए? क्या तुम अब भी नहीं समझ पाए कि झूठा, नकली और कृत्रिम जीवन व्यतीत करना कितना बड़ा अभिशाप है? हृदय के आदान-प्रदान के लिए जीवन में किसी प्रकार की तो सच्चाई होनी चाहिए। इत्यादि....।

एक और उदाहरण लीजिए: मेरे फुफेरे भाई हुक्का पिया करते थे। सुबह-शाम जब भी मैं उनके पास जाता, उन्हें हुक्का पीते पाता था। उनका कमरा तम्बाकू के धुएँ की नशीली गंध से भरा रहता था। उन्हें धुआँ उड़ाते देखकर तम्बाकू के धुएँ पर मैंने अनेक छंद लिखे हैं, जिनमें से एक रचना अल्मोड़े के दैनिक में प्रकाशित भी हुई है। इस रचना की दो पंक्तियाँ मुझे स्मरण हैं जो इस प्रकार हैं—

सप्रेम पान करके मानव तुझे हृदय में
रखते, जहाँ बसे हैं भगवान विश्वस्वामी।

इस रचना में मैंने धुएँ को स्वतंत्रता का प्रेमी मानकर उसकी प्रशंसा की थी। आशय कुछ-कुछ इस प्रकार था :—"हे धूम! तुम्हें वास्तव में अपनी स्वतंत्रता अत्यंत प्रिय है।

मनुष्य तुम्हें सुगंधित सुवासित कर, तुम्हें जल से सरस-शीतल बनाकर अपने हृदय में बंदी बनाकर रखना चाहता है, उस हृदय में जिसमें भगवान का वास है। किन्तु तुम्हें अपनी स्वतंत्रता इतनी प्रिय है कि तुम क्षण भर को भी वहाँ सिमट कर नहीं रह सकते और बाहर निकलकर इच्छानुरूप चतुर्दिक व्याप्त हो जाना चाहते हो। ठीक है, स्वतंत्रता के पुजारी को ऐसा ही होना चाहिए, उसे किसी प्रकार का हृदय का लगाव या बंधन नहीं स्वीकार होना चाहिए..... इत्यादि।''

इस प्रकार अपने आस-पास से छोटे-मोटे विषयों को चुनकर मैं अपनी प्रारंभिक काव्य-साधना में तल्लीन रहा हूँ। मेरे भाव तथा विचार तो उस समय अत्यन्त अपरिपक्व एवं अविकसित रहे ही होंगे किन्तु उन्हें छंदबद्ध करने में तब मुझे विशेष आनंद मिलता था। छंदों के मधुर संगीत ने मुझे इतना मोह लिया था कि मैंने अनेक पत्र भी उन दिनों छंदों ही में गूँथ कर लिखे हैं। यदि प्रारंभिक रचनाओं के महत्त्व के संबंध में तब थोड़ा भी ज्ञान मुझे होता तो मैं उन कविताओं तथा पत्रों की प्रतिलिपियाँ अपने पास अवश्य सुरक्षित रखता। अब मुझे इतना ही स्मरण है कि अपने पास-पड़ोस और दैनंदिन की परिस्थितियों एवं घटनाओं से प्रभावित होकर ही मेरी प्रारंभिक रचनाएँ निःसृत हुई हैं और अपनी अस्फुट अबोध भावना को भाषा की अस्पष्ट तुतलाहट में बाँधकर मैं अपने छंद-रचना के प्रेम को चरितार्थ करता रहा हूँ। एक प्रकार से आरंभ से ही मुझे अपने मधुमय गान अपने चारों ओर 'धूलि की ढेरी में अनजान' बिखरे पड़े मिले हैं।

वैसे एक प्रकार से मैं अल्मोड़े आने से और भी बहुत पहले छंदों की गलियों में भटकता और चक्कर खाता रहा हूँ। तब मैं अपने पिताजी के साथ कौसानी में रहता था और वहीं ग्राम-पाठशाला में पढ़ता था। मेरे फुफेरे भाई तब वहाँ अध्यापक थे और मेरे बड़े भाई बी.ए. की परीक्षा दे चुकने के बाद स्वास्थ्य सुधारने के लिए वहाँ आये हुए थे। मेरे बड़े भाई भी उन दिनों कविता किया करते थे। उनके अनेक छंद मुझे अब भी कंठस्थ हैं। यह अत्यंत मधुर लय में राजा लक्ष्मणसिंह-कृत मेघदूत के अनुवाद को भाभी को सुनाया करते थे। शिखरिणी छंद तब मुझे बड़ा प्रिय लगता था और मैं, ''सखा तेरे पी को जलद प्रिय मैं हूँ.....'' आदि पंक्तियों को गुनगुनाकर उन्हीं के अनुकरण में लिखने की चेष्टा करता था। कभी-कभी मैं भाई साहब के मुँह से कोई ग़ज़ल की धुन सुनकर उस पर भी लिखने की कोशिश करता था। लेकिन अब मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि मेरी तब की रचनाओं में छन्द अवश्य ही ठीक नहीं रहता होगा और मैं बाल-चापल्य के कारण छंद की धुन में बहुत कुछ असंबद्ध और बेतुका लिखता रहा हूँगा। मुझे स्मरण है, एक बार भाई साहब को मेरी पीले काग़ज़ की कापी मिल गई थी और उन्होंने मेरी ग़ज़लों की खूब हँसी उड़ाई थी। अतएव उस समय की कविता को मैं अपनी पहली कविता नहीं मान सकता।

व्यवस्थित एवं सुसंबद्ध रूप से लिखना तो मैंने पाँच-छः साल बाद अल्मोड़ा आकर ही प्रारंभ किया। तब स्वामी सत्यदेव आदि अनेक विद्वानों के व्याख्यानों से अल्मोड़े में हिन्दी के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत हो चुका था, नगर में शुद्ध साहित्य समिति के नाम से एक बृहत् पुस्तकालय की स्थापना हो चुकी थी और नागरिकों का मातृभाषा के प्रति आकर्षण विशेष रूप से अनुराग में परिणत हो चुका था। मुझे घर में तथा नगर में भी नवोदित साहित्यिकों, लेखकों एवं कवियों का साहचर्य सुलभ हो गया था। मैंने हिन्दी पुस्तकों का संग्रह करना प्रारंभ कर दिया था, विशेषकर काव्य-ग्रंथों का, और 'नंदन पुस्तकालय' के नाम से घर में एक लाइब्रेरी की भी स्थापना कर दी थी। इसमें द्विवेदी युग के कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त मध्ययुग के कवियों के ग्रंथ तथा प्रेमचंद जी के उपन्यासों के साथ बंगला, मराठी आदि उपन्यासों के अनुवाद भी रख लिए थे और कुछ पिंगल अलंकार आदि काव्यग्रंथ भी जोड़ लिए थे। सरस्वती, मर्यादा आदि उस समय की प्रसिद्ध मासिक पत्रिकाएँ भी मेरे पास आने लगी थीं और मैंने नियमित रूप से हिन्दी साहित्य का अध्ययन आरंभ कर दिया था।

आदरणीय गुप्त जी की कृतियों ने और विशेषकर *भारत-भारती, जयद्रथ वध* तथा *विरहिणी व्रजांगना* ने तब मुझे विशेष रूप से आकर्षित किया था। प्रिय-प्रवास के छन्द भी मुझे विशेष प्रिय लगते थे। 'कविता कलाप' को मैं कई बार पढ़ गया था। *सरस्वती* में प्रकाशित मुकुटधर पांडेय जी की रचनाओं में नवीनता तथा मौलिकता का आभास मिलता था। इन्हीं कवियों के अध्ययन तथा मनन से प्रारंभ में मेरी काव्य-साधना का श्रीगणेश हुआ और मैंने सुसंगठित रूप से विविध प्रकार के छंदों का प्रयोग करना सीखा। छंदों की साधना में मुझे विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ा। श्रवणों को संगीत के प्रति अनुराग होने के कारण तथा लय को पकड़ने की क्षमता होने के कारण सभी प्रकार के छोटे-बड़े छंद धीरे-धीरे मेरी लेखनी से सरलतापूर्वक उतरने लगे। जो भी विषय मेरे सामने आते और जो भी विचार मन में उदय होते, उन्हें मैं नए-नए छंदों में नए-नए रूप से प्रकट करने का प्रयत्न करता रहा। काव्य-साधना में मेरा मन ऐसा रम गया कि स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों की ओर मेरे मन में अरुचि उत्पन्न हो गई और मैंने खेलकूद में भी भाग लेना बंद कर दिया। इन्हीं दिनों अल्मोड़ा हाईस्कूल में पढ़ने के लिए एक नवयुवक आकर हमारे मकान में रहने लगे, जिन्हें साहित्य से विशेष अनुराग था। जिनके संपादन में हमारे घर से एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकलने लगा जिसमें नियमित रूप से दो-एक वर्ष तक मेरी रचनाएँ निकलती रहीं। उनके साहचर्य से मेरे साहित्यिक प्रेम को प्रगति मिली और नगर के अनेक नवयुवक साहित्यिकों से परिचय हो गया। मेरे मित्र अनेक प्रकाशकों के सूचीपत्र मँगवाकर पुस्तकों तथा चित्रों के पार्सल मँगवाते और उन्हें हम लोगों से बेचा करते थे। इस प्रकार उनकी सहायता से हिन्दी की अनेक उत्कृष्ट प्रकाशन-संस्थाओं तथा उनके द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का मेरा ज्ञान सहज ही बढ़ गया।

हरिगीतिका, गीतिका, रोला, वीर, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी आदि छंदों में मैने प्रारंभ में अनेकानेक प्रयोग किए हैं और छोटे-बड़े अनेक गीतों में प्रकृति-सौन्दर्य का चित्रण भी किया है। प्रकृति-चित्रण के मेरे दो-एक गीत संभवत: *मर्यादा* नामक मासिक पत्रिका में भी प्रकाशित हुए हैं। *भारत-भारती* के आधार पर अनेक राष्ट्रीय रचनाएँ तथा 'कविता कलाप' के अनुकरण में राजा रवि वर्मा के तिलोत्तमा आदि चित्रों का वर्णन भी अपने छंदों में मैंने किया है। अनेक पत्र तथा कल्पित प्रेम-पत्र लिखकर भी, जो प्राय: सखाओं के लिए होते थे, मैंने अपने छंदों के तारों को साधा है। अपनी प्रारंभिक काव्य-साधना-काल में, न जाने क्यों, कविता का अभिप्राय मेरे मन में छंदबद्ध पंक्तियों तक ही सीमित रहा है। छंदों में संगीत होता है, यह बात मुझे छंदों की ओर विशेष आकृष्ट करती थी और अनुप्रासों या ललित मधुर शब्दों द्वारा छंदों में संगीत की झंकारें पैदा करने की ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से रहता था। कविता के भाव-पक्ष से मैं इतना ही परिचित था कि कविता में कोई अद्‌भुत या विलक्षण बात अवश्य कही जानी चाहिए। कालिदास की अनोखी सूझ की बात मैं अपने भाई साहब से बहुच छुपटन में ही सुन चुका था, जब वह भाभी को मेघदूत पढ़ाया करते थे। किन्तु उस विलक्षण भाव को संगीत के पंख लगाकर छंद में प्रवाहित करने की भावना तब मुझे विशेष आनंद देती थी और मै अपनी छंद-साधना के इस पक्ष पर विशेष ध्यान देना प्रारंभ से ही नहीं भूला हूँ।

मेरी उस प्रारंभिक काल की रचनाएँ, जिन्हें मैं अपनी पहली कविता कहता हूँ, न जाने पतझर के पत्तों की तरह मर्मर करती हुई कब और कहाँ उड़कर चली गईं, यह मैं नहीं कह सकता। अपनी बहुत सी रचनाएँ काशी जाने से पहले मैं अल्मोड़े ही में छोड़ गया था जो मुझे घर की अव्यवस्था के कारण पीछे नहीं मिली। संभव है उन्हें कोई ले गया हो या किसी ने रद्दी काग़ज़ों के साथ फेंक दिया हो या बाज़ार में बेच दिया हो। *वीणा* काल से पहले के दो कविता-संग्रह जब मैं हिन्दू बोर्डिंग हाउस में रहता था, मेरी चारपाई में आग लग जाने के कारण, जल कर राख हो गए थे। कीट्स और शेली के दो सचित्र संग्रह भी, जो मुझे प्रो. शिवाधार जी पांडेय ने पढ़ने के लिए दिये थे, उनके साथ ही भस्म हो गए थे। अपने उन दो संग्रहों के जल जाने का दु:ख मुझे बहुत दिनों तक रहा। उनमें मेरी काव्य-साधना के द्वितीय चरण की रचनाएँ थीं। मेरी आँखों में अब उन अस्फुट प्रयासों का क्या महत्त्व होता यह मैं नहीं कह सकता, पर ममत्त्व की दृष्टि से वे मुझे अपनी प्रारंभिक काव्य-साधना के साक्षी के रूप में सदैव प्रिय रहते, इसमें मुझे संदेह नहीं। अपने कवि-जीवन के प्रथम उषाकाल में स्वर्ग की सुंदरी कविता के प्रति मेरे हृदय में जो अनिर्वचनीय आकर्षण, जो अनुराग तथा उत्साह था, उसका थोड़ा-सा भी आभास क्या मैं इस छोटी-सी वार्ता में दे पाया हूँ? शायद नहीं।

कला और संस्कृति

मेरी लेखन प्रक्रिया

लेखन प्रक्रिया के अनेक आयाम होते हैं। लेखक या कवि क्यों लिखता है, यह बताना संभव नहीं। दर्शनशास्त्र के पास भी क्यों का कोई उत्तर नहीं है, जब वह अपने से प्रश्न करता है कि यह सृष्टि क्यों है ? किन्तु सृष्टि कैसे रची गई अथवा लेखक कैसे लिखता है, इसके उत्तर में कुछ अनुसंधान करना संभव हो सकता है। प्रथम प्रश्न उठता है लेखक या कवि की प्रतिभा के संबंध में—किसी लेखक या कवि की प्रतिभा की क्या विशेषता है। व्यास, कालिदास या शेक्सपियर को युग-द्रष्टा, सौन्दर्य स्रष्टा या नाटककार किन विशेष प्रतिभा तत्त्वों ने बनाया ? व्यास की जीवन दृष्टि में तो इतनी गहराई, व्यापकता तथा ऊँचाई देखने को मिलती है कि उनके लिए संस्कृत के विद्वान काव्य पारखियों को कहना पड़ा—अचतुर्वदनो ब्रह्मा, द्विबाहुरपरोहरि:, अभाललोचन: शंभु: भगवान्बादरायण:। कालिदास प्रतिभा की दृष्टि से रसचेता एवं सौन्दर्यद्रष्टा रहे हैं, उसी प्रकार कहा जा सकता है शेक्सपियर की प्रतिभा मानव स्वभाव के निगूढ़ वैचित्र्य को थाहने में मुख्यत: सफल हुई है। मानव स्वभाव के रहस्यों का वैसा पारखी तथा चितेरा कम ही देखने को मिलते हैं। यदि हम अपने ही युग में हिन्दी साहित्य के भीतर से देखें, तो प्रसाद तथा प्रेमचंद दोनो ही प्रतिभावान् स्रष्टा हुए, पर दोनों के स्वभाव, रुचि तथा सृजन के क्षेत्र में महान् अंतर है। दोनों प्राय: एक ही युग चेतना से अनुप्राणित रहे, किन्तु दोनों के व्यक्तित्व, अंतर्दृष्टि तथा मनस्तत्व अथवा अंतर्वृत्ति में विभेद होने के कारण एक ने भारत के सांस्कृतिक अतीत का मंथन कर महाकवि की दृष्टि से मानव मानस का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया, दूसरे ने प्रसिद्ध उपन्यासकार की तरह अपने युग में व्याप्त लोकजागरण की चेतना को वाणी दी। इससे हम सहज की समझ सकते हैं कि लेखन-प्रक्रिया को संचालित तथा नियंत्रित करने में मुख्य हाथ लेखक की रुचि, स्वभाव तथा प्रतिभाजन्य अंत: संस्कारों का रहता है, जिसे हम उसकी विशेष दृष्टि कह सकते हैं, जिससे वह अपनी सृजन प्रक्रिया के लिए विशिष्ट सामग्री चुनकर उसे अपनी कृति के रूप में संयोजित करता है। उदाहरण स्वरूप हम बनार्ड शॉ को भी ले सकते हैं। शॉ की अंतर्दृष्टि शेक्सपियर की तरह मानव स्वभाव की वैचित्र्य भरी गहराइयों में उतनी नहीं उतरी जितनी मन:स्थिति विशेष के निरूपण में। शॉ

ने अपने नाटकों में अनेक गंभीर तथा प्रभावोत्पादक मनःस्थितियाँ उपस्थित की हैं। उसके पात्र उन विशेष मनःस्थितियों के ही प्रतिनिधि रहे हैं और उनका कथानक भी मुख्यतः कुछ विशेष मनःस्थितियों पर ही आधारित रहा है। यह शॉ की अपनी विशेषता रही है, उनके नाटकों में शेक्सपियर की तरह पात्रों के स्वभावों तथा घटनाओं की टकराहट न होकर विचारों तथा आदर्शों की टकराहट अधिक मिलती है और वह अपनी कृतियों द्वारा युग चिन्तन के लिए प्रभूत सामग्री अपने पाठकों तथा दर्शकों को देते हैं; यह संभवतः उनके युग का प्रभाव रहा हो, तो जो दूसरी मुख्य विधायिनी शक्ति लेखक की सृजन प्रक्रिया को निरूपित करती है, वह है लेखक के युग तथा उसकी परिस्थितियों का प्रभाव। जिस प्रकार युग का प्रभाव लेखन-प्रक्रिया को व्यापकता प्रदान करता है और लेखक को आत्मनिष्ठता के कोष से बाहर निकालकर उसे वस्तुनिष्ठता तथा यथार्थोन्मुखता की ओर अग्रसर करता है, उसी प्रकार परिस्थितियों का प्रभाव उसके कृतित्व को एक निजता, निकटता तथा आंचलिक वैचित्र्य प्रदान करने में सहायक होता है। जब मैं अपनी सृजन प्रक्रिया का विश्लेषण करता हूँ, तो मुझे लगता है कि मेरी रचनाओं को मेरी परिस्थितियों की चेतना ने बहुत हद तक प्रभावित किया है। उदाहरणार्थ, मैं कूर्मांचल में पैदा हुआ और प्रकृति की रम्य क्रोड़ में आँख खोलने के कारण मेरे कृतित्व में प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रधानता रही है। मेरे किशोर मन में सौन्दर्य के प्रति जो संस्कार पर्वत प्रदेश की उन्मुक्त प्रकृति ने संचित कर दिए वे अनिवार्य रूप से मेरी सृजन क्रिया के अंग बन गए और यह भी शायद पर्वत प्रदेश के एकांत एकाग्र वातावरण ही का प्रभाव है कि मैं अधिक कल्पना प्रधान हूँ। अपने एकाकीपन की रिक्तता को भरने के लिए मैंने, अपने को दुहरा बनाकर अपनी कल्पना ही को अज्ञातरूप से अपना साथी बना लिया। इसलिए आपको को मेरी प्रारंभिक रचनाओं में—*पल्लव* से *गुंजन* काल तक—कल्पना का ही प्राधान्य मिलता है। किन्तु *गुंजन ज्योत्स्ना* के बाद मेरा कल्पना प्रधान दृष्टिकोण धीरे-धीरे वस्तून्मुखी बनकर जीवन यथार्थ की ओर आकर्षित होता रहा। यह संभवतः मेरे स्वभाव की परिणति या विशेषता रही हो। मैं आत्मनिष्ठ कभी नहीं रहा और कल्पनानिष्ठता से वस्तुनिष्ठता में उतर आना एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है, क्योंकि जिसे हम जीवन यथार्थ या वस्तुबोध कहते हैं, वह भी अधिदर्शन की दृष्टि से एक कल्पना ही है—काल-सापेक्ष, दिशा-अधिष्ठित कल्पना। जैसे-जैसे मेरे भीतर जीवन-मूल्य का विकास होता गया, मेरी भावानुगामिनी कल्पना वस्तून्मुखी अथवा यथार्थोन्मुखी होती गयी। कुछ लोगों को बाह्य दृष्टि से इसमें एक विसंगति लगती है, किन्तु मैं इसकी अंतः संगति से भलीभाँति परिचित हूँ और यह मेरे लिए एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में ही संभव हो सका है।

कल्पनाशक्ति से परिचालित होकर मैंने जो रचनाएँ लिखी हैं, उन्हें मैं भावना का विलास ही मानता हूँ, जैसा, *परिवर्तन* को छोड़कर, मेरी अधिकांश *पल्लव-काल* की रचनाएँ हैं। उनमें प्राकृतिक सौन्दर्य चित्रण के तत्व है, मर तब मैं सौन्दर्य को मूल्य के रूप

में नहीं ग्रहण कर सका था। सौन्दर्य-मूल्य कला की दृष्टि से भाव-विचार अथवा जीवन-मूल्य की अंतिम परिणति है और सौन्दर्य से परिचालित होना एक बात है, सौन्दर्य-मूल्य से परिचालित होना दूसरी बात। सौन्दर्य को नवीन मूल्य देने की प्रक्रिया में मुझे इस युग के ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक यथार्थ का गंभीर चिन्तन-मनन करना पड़ा। वास्तव में जिसे सामान्य अर्थ में यथार्थ कहते हैं, उसमें इस संक्रांति युग के अनेक ह्रास तथा विघटन के तत्व घुलमिल गए हैं और इस यथार्थ को भी एक विशेष लेखक वर्ग आज अपने गद्य-पद्य साहित्य में वाणी देने का प्रयत्न कर रहा है। जहाँ तक इस ह्रासयुगीन विघटित यथार्थ के चित्रण का प्रश्न है, वह ठीक है, किन्तु उसी यथार्थ को पूर्ण मान लेना और नए जन्म ले रहे यथार्थ की संभावनाओं की ओर आँख मूँद लेना सचमुच ही प्रत्येक दृष्टि से घातक है। वास्तव में, जिसे साधारणतः ऐतिहासिक यथार्थबोध कहा जाता है, वह भी अपने में एकांगी है, वह केवल समदिक् विकसित हो रही वास्तविकता को ही मानव-जीवन की पूर्ण वास्तविकता मान लेता है और उसकी सीमाओं से परिचित नहीं है। नवीन सर्वांगीण वास्तविकता वही हो सकती है, जिसमें नवयुग के यथार्थ तथा आदर्श की भावनाएँ पूर्णरूपेण संयोजित हों, जिसमें हम बाह्य यथार्थ को अंतश्चैतन्य के प्रकाश में और अंतश्चैतन्य को बाह्य विकास की संभावनाओं के अनुरूप नया मूल्य दे सकें। मेरी रचनाओं में इस प्रकार के प्रयत्न *युगवाणी-ग्राम्या* काल से ही दृष्टि-गोचर होने लगते हैं यद्यपि तब बाह्य वास्तविकता का आग्रह ही उनमें अधिक मिलता है, किन्तु जैसे जैसे मेरे भीतर मूल्य की धारणा विकसित होती गई मैंने उस बाह्य ऐतिहासिक वास्तविकता को एक भीतरी आयाम भी देने का प्रयत्न किया, इसके अनेक उदाहरण मेरी *ग्राम्या* के बाद की कृतियों में मिल सकते हैं, जिसे मेरा स्वर्णकाव्य या चेतना-काव्य कहा जाता है, उसमें जीवन की वास्तविकता को एक अंतर्मूल्य देने के मेरे प्रयत्न स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं और यह निरपेक्ष भाव से स्वीकार किया जा सकता है कि जिस प्रकार मेरे *युगवाणी-ग्राम्या* काल में बाह्य जीवन अथवा राशि के प्रति अधिक आग्रह मिलता है, उसी प्रकार मेरे स्वर्णकाव्य में—विशेषतः स्वर्ण किरण, उत्तरा में अंतर्जीवन एवं गुणात्मक उन्नयन को अधिक महत्व दिया गया है। *अतिमा* तथा *वाणी* में मैं धीरे-धीरे इन दोनों दृष्टियों में अधिक सर्वांगीण संयोजन एवं संतुलन स्थापित करने की ओर अग्रसर हुआ हूँ और 'लोकायतन' में मैं जिस मानवमूल्य की एवं जीवनदृष्टि की खोज में *पल्लव* काल के बाद प्रयत्नशील रहा हूँ, उसे अपनी क्षमता के अनुरूप अधिक समग्र दृष्टि से प्रतिष्ठित कर सका हूँ।

मूल्य की दृष्टि से भारतीय 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के आदर्श में रचना-प्रक्रिया के तीनों आयाम समन्वित मिलते हैं। जिस सौन्दर्य की आधार भूमि सत्य हो, अर्थात् जो सौन्दर्य जीवन की वास्तविकता में प्रतिष्ठित हो और जिसका गुण शिव अथवा लोकमंगल हो, निश्चयमेव, वही सौन्दर्य या कलामूल्य सफल लेखन की कसौटी है और इसी कसौटी

में कसी जाकर लेखन प्रक्रिया भी प्रौढ़ता प्राप्त कर लोकव्यापी संप्रेषणीयता से युक्त होकर निखर उठती है। हमारा युग वैश्वनिर्माण का युग है, इसमें प्रत्येक बुद्धिजीवी तथा कलाजीवी को, चाहे वह कितना ही प्रतिभासंपन्न हो, मूल्य बोध के लिए निरंतर संघर्ष करना पड़ता है। जागरण युग के लेखक या चारण की तरह उसे पके पकाए मूल्य सुलभ नहीं हो सकते जिन्हें वह नवीन रूप से स्थापित करे। इसके विपरीत उसे विगत विघटित होती हुई वास्तविकता के अंधकार को टोहकर नए प्रकाश का रश्मिस्पर्श प्राप्त करना होता है और उसे नवीन वास्तविकता के रूप में संयोजित कर जीवनमूर्त करना होता है। इस युग में विशेषत: जबकि देशकाल सिमटकर मनुष्य के हस्तामलकवत् हो गए हैं और विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ, भावनाएँ, विचारधाराएँ तथा साहित्यिक मान्यताएँ परस्पर निकट संपर्क में आकर मनुष्य को अपने पिछले जीवन अभ्यासों, नैतिक दृष्टिकोणों तथा सौन्दर्य रस मूल्यों को अधिक व्यापक जीवन पट में संयोजित करने को बाध्य करती हैं, वही रचनाकार जीवित रह सकता है, जो युग-संघर्ष के भीतर से निरंतर नए भू-जीवन-मूल्य को उपलब्ध कर उसे अपनी कृतियों में वाणी दे सके। इस विराट् वैश्व युग में ह्रास तथा निर्माण की, विघटन तथा विकास की, व्यक्ति स्वातंत्र्य तथा विश्व संगठन की, लोकसाम्य तथा मानवीय एकता की इतनी विविधमुखी तथा परस्परविरोधी प्रतीत होने वाली शक्तियाँ मानव मन तथा विश्व चेतना में कार्य कर रही हैं कि आज अनेक अवसरवादी, यश:कांक्षी कलाकार तथा साहित्यकार इनमें से किसी एक पक्ष के हाथों बिककर उसी के प्रचार प्रसार के लिए अपने आत्मनिष्ठ, स्वार्थसिद्ध जीवन को अर्पित कर, भीतर ही भीतर अनास्था, संशय, भय से ग्रस्त होकर, बाहर कलाबोध के नाम से प्रवंचना को तथा जीवनमूल्य के नाम में आत्म-रुचि को महत्व दे रहे हैं। इनमें से अनेक अप्रबुद्ध पूँजीपतियों से साँठगाँठ भिड़ाकर, उनके काले धन के सहारे पत्रकारिता के आधुनिक विकसित साधनों का दुरुपयोग कर, दूसरे देशों की भावों-विचारों की लड़ाई अपने देश में लड़कर चरितार्थता का अनुभव कर रहे हैं, किन्तु इस प्रकार की विकृतियाँ संक्रांति के युगों में सदैव ही लक्ष्यहीन मनुष्यों को ग्रस्त कर लेती हैं। आज के युग में रचनाप्रक्रिया एक सशक्त जीवंत शक्ति के रूप में कार्य कर रही है और इस युग के राजनीतिक आर्थिक आंदोलनों से इस सांस्कृतिक मानस-मंथन का कम महत्व नहीं है। जो युगप्रबुद्ध कलाकार लोकमंगल तथा नवीन मनुष्यत्व की गंभीर प्रेरणा से अनुप्राणित हैं और नए मानव मूल्य को जीवनमूर्त करने के लिए अजस्र संघर्षरत हैं, उन्हीं की रचना-प्रक्रिया अतीत के ऊहापोहों को अतिक्रमकर भविष्य के लिए अपना अक्षय मूल्य रखती हैं, काल की रेती में आत्म-छलना के मृगजल के पीछे भटके शेष पद चिह्न स्वयं ही मिटकर आत्म-निष्ठ अस्तित्व की शून्यता में विलीन हो जाएँगे।

रेडियो-वार्ता

जो न लिख सका

साहित्य सृजन कृच्छ्र कर्म है, यह मुझे तब नहीं ज्ञात था, जब मैनें किशोर उत्साह से प्रेरित होकर पहले-पहल कलम उठाई थी। छंद की झंकार हृदय में एक अज्ञात गुदगुदी पैदा करती थी और कवि बनने के लिए न जाने कहाँ से एक बिल्कुल ही अपरिचित और रहस्यमयी आकांक्षा ने मन में घर कर जीवन को विवश बना दिया था। न जाने क्या लिखने के लिए-सांय प्रात: कितने छंद रच कर कितने पन्ने रंग डाले और अब तो कई पोथियाँ भी निकल गई हैं, पर अब भी न जाने भीतर ही भीतर कैसी कुलबुलाहट मची रहती है, और न जाने क्या लिखने को जी बेचैन रहता है।

कहते हैं भगवान ने तप के बल पर सृष्टि की रचना की। अब आप, तपोबल को चाहे संकल्प-शक्ति कहें, चाहे साधना या तपस्या का फल के बल पर संकल्प या तपस्या के बल से, मात्र कुछ नहीं से, इस आश्चर्यजनक जगत प्रपंच की रचना करना, असम्भव नहीं, तो अत्यन्त दुरूह कर्म तो है ही और मुझ जैसे साधारण मनुष्य के लिए तो और भी दुरूह, कृच्छ्र तथा क्लिष्ट है। इसीलिए मैं अब सोचता हूँ कि सृजन-कर्म अत्यंत कठिन है और इस युग में संभवत: वह और भी जटिल हो गया है।

मेरे चारों ओर शब्दों के ढेर लगे हैं, निरर्थक शब्दों के बड़े-बड़े अंबार और पहाड़ जिनकी चक्करदार भूलभुलैयाँ में पड़कर मन खो जाता है। आप भूचाल की तरह, किसी अज्ञात प्रेरणा के आवेश में, उनके भीतर घुस जाइए, उन्हें उलटिए-पलटिए, टटोलिए-परखिए, उन्हें सूँघिए-चखिए और चाहे शोधिए, सँवारिए, सुधारिए....किन्तु उनमें कुछ ऐसा मिल जाए, जो आपके मनोनुकूल हो, जो इस विराट युग के योग्य हो, जो नवीन मूल्यों तथा नवीन सौन्दर्यबोध की दृष्टि से खरा उतरे, यह सदैव ही संभव नहीं। बस चेतना के बाहरी छिलकों की तरह कोरे शब्दों के ढेर हैं, जिनकी सार्थकता खो गई है...बालू के अनगिनत कण, जिनकी धारा सूख गई है।

मैं केवल अभिधान या कोश में संगृहीत शब्दों की बात नहीं कह रहा हूँ, मैं इस रहन-सहन, आचार-विचार तथा क्रियाकलाप की बात कर रहा हूँ, जो आज चारों ओर

मानव समाज में बरता जा रहा है। कितने चलन हैं, कितनी प्रथाएँ और रूढ़ि-रीतियाँ, कितने अंध-विश्वास हैं, कितने तथ्य, कितने सत्व, कितने अनुभव, ओह! कितने यथार्थ और कितनी वास्तविकताएँ, जो आज चारों ओर कोहराम मचाए हुए हैं। उनका ध्यान कर, उनका अनुमान भर कर और उनका परिचय ही पाकर मन जैसे अवाक् रह जाता है, विस्मय विमूढ़ हो उठता है। अनेक खंण्डहर विगत युगों के महान प्रासादों के नष्ट-भ्रष्ट खंडहर जैसे ढेर होकर मन की आँखों के सामने बिखरे पड़े हैं। मानव-मन के भीतर सुप्त, विकासशील जीवनी-शक्ति के नवीन जागरण के भयानक आघात से विगत सभ्यताओं तथा संस्कृतियों की जीवन प्रणालियाँ आज ध्वंस-भ्रंश तथा चूर्ण-चूर्ण होकर ईंटों के ढेरों के रूप में,शब्दों के अंबारों के रूप में अर्थशून्य, किमाकार चारों ओर त्रस्त-ध्वस्त अवस्था में फैली हुई बिखरी पड़ी हैं। केवल पिछले युगों के जीवन शून्य, अभ्यास आज मानव चेतना को संचालित कर रहे हैं। वह ऊँची-नीची चोटियों और खाइयों की ओर अपने डगमग पग बढ़ाती हुई उठती-गिरती, लड़ती-भिड़ती, कराहती आगे बढ़ने के भ्रम में वहीं की वहीं अगति के वृत्त में चक्कर काट रही है।

दर्शन और विज्ञान, राजनीति और अर्थशास्त्र मानव जीवन की प्रणालियों का वैयक्तिक अथवा सामाजिक रूप में, जैसा भी विश्लेषण करते आए हैं,पर साहित्य और विशेषत: काव्य साहित्य तो इनके जीवंत, अंतरतम तथा संश्लेषणात्मक रूप के ही दर्शन कराता रहा है। अपनी इसी भीतरी खोज में मैंने भी, रसबोध से प्रेरित हो, अपनी क्षमतानुसार मानव जीवन की गहन अनुभूतियों के इस विशाल प्रासाद में विचरण कर तथा उसमें से रुचि अनुरूप सामग्री चयन कर युग साहित्य के चित्रपट को सँवारने का प्रयत्न किया है और इधर-उधर उसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन करने की भी चेष्टा की है। काव्य के रूप विधान में एक विशिष्ट सीमा तक संतुलन प्राप्त कर लेने के बाद मेरे सम्मुख सदैव से ही मानवीय मूल्यों का प्रश्न प्रमुख होकर आता रहा है और जैसा कि मैंने *गुंजन* में कहा है, मुझे मानव-जीवन की अपूर्णताओं के प्रति बड़ा असंतोष रहा है :

लगता अपूर्ण मानव-जीवन
मैं इच्छा से उन्मन उन्मन

पर इसके साथ ही:

क्या मेरी आत्मा का चिर धन ?अर्थात् मानव-आत्मा के चिर धन की खोज मुझे सदैव व्याकुल करती रहती है। *गुंजन* में मैं केवल एक नैतिक समाधान उपस्थित कर सका हूँ, क्योंकि तब मेरे सम्मुख प्रश्न था- अपनी यौवनोन्मुख प्रवृत्तियों को संयम के सौन्दर्य में बाँधने का और उनके सामने एक आदर्श रखने का, जिससे वे जग-जीवन के निर्माण में सहायक होकर जीवनमधु संचय कर सकें :

वन वन उपवन
छाया उन्मन उन्मन गुंजन

नव वय के अलियों का गुंजन...

ये गंध-अंध नव वय के अलि मेरी यौवनोन्मुख मानस-प्रवृत्तियों के ही प्रतीक हैं। *गुंजन* काल में मैं मानव-जीवन के अंतर्विधान का यथेष्ट विश्लेषण नहीं कर सका था, मुझे एक अज्ञात आनंद भावना चलाती रही थी, जो फिर-फिर बाहरी प्रभावों से दब-दब जाती थी और अनेक प्रकार की सुख-दुःख मिश्रित अनुभूतियों से मेरे मानस-पटल को घेर लेती थी। *गुंजन* में मैंने जैसे गा-गाकर अपनी भावना की सुख-दुःखमय परिणतियों में संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

इसके बाद ही ग्राम-जीवन के दुःख-दारिद्र्य का मेरे भावुक मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि मेरी सौन्दर्य-चेतना अथवा आनंद दीर्घ काल तक उससे आक्रांत रही। अपने ग्राम-जीवन की अनुभूतियों का चित्र मैंने *ग्राम्या* नामक काव्य-संकलन में उपस्थित किया है। मेरे भीतर यह प्रवृत्ति छुटपन से ही रही है कि केवल भावनाओं या हृदय के संस्कारों ही से मैंने अपने मन को नहीं चलने दिया है। अपनी बुद्धि का उपयोग करना भी मैंने सीखा है। अतः अपने ग्राम-प्रवास के काल में मैंने जहाँ एक ओर गांधीवाद का अध्ययन किया है, वहाँ मार्क्स दर्शन के ज्ञान से वंचित रहना भी ठीक नहीं समझा है और दोनों की मान्यताओं को मैंने अपनी भावना में घुलने-मिलने दिया है और अनेक लोक-जीवन के दैन्य-दुःख को दूर करने के लिए उनका उपयोग करने को कहा है। मैंने सदैव विचारों, दर्शनों, विज्ञानों तथा मान्यताओं के समन्वय करने की पुकार लगाई है। मानव-जीवन इतना व्यापक, गहन, जटिल तथा वैचित्र्यपूर्ण है कि यदि हम उसे किसी कृत्रिम यांत्रिक ढाँचे से न ढालकर उसके बहुमुखी सौन्दर्य की रक्षा करते हुए उसके विकास में सहायक होना चाहें, तो हमें दर्शन विशेष, विज्ञान विशेष या पद्धति विशेष का आग्रह और मोह छोड़ देना होगा और सभी विचारधाराओं से परिस्थितियों के अनुरूप उपयोगी तत्त्वों को ग्रहण कर, उनका लोक-जीवन में प्रयोग करना सीखना होगा। यदि देश विशेष के लिए कोई एक दर्शन या जीवन प्रणाली अधिक उपयोगी प्रमाणित हो, तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए, किन्तु मानव जीवन का दर्शन फिर भी सदैव उससे अधिक विशाल तथा बहुमुखी ही रहेगा। इस प्रकार के अनेकांतवाद को मैंने मानव एकता की मौलिक आत्मा के अधीन रखकर, समय-समय पर अनेक रूपों में उसे अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है।

मेरे कतिपय आलोचक युग विद्वेष की भावना से परास्त होकर मुझे जिस-तिस दर्शन का पक्षपाती बतलाकर मेरी भर्त्सना करते रहे हैं, पर भविष्य में वे अपनी व्यग्र विवेचनाओं को मेरी आने वाली कृतियों के प्रकाश में दुहराकर भ्रांति-मुक्त हो सकेंगे। मेरी समस्त रचनाएँ केवल मेरे विकास की पद चिह्न भर हैं। उनमें मेरी कवि दृष्टि का वैचित्र्य भले ही मिलता हो, पर मेरे काव्य व्यक्तित्व की समग्रता उनमें खोजना उन रचनाओं के साथ ही मेरे विकासप्रिय व्यक्तित्व के प्रति भी अन्याय करना है।

मैं जो नहीं लिख सका उसके लिए अभी तैयारी भर कर रहा हूँ। तैयारी करने के मेरे अधिकार को तो कोई नहीं छीन सकता? मैं अपनी दुर्बलता तथा त्रुटियों से परिचित हूँ, साथ ही परिचित हूँ अपने युग की कमियों, कुंठाओं, क्लांतियों तथा क्रांतियों से। आज के युग की इस दैन्य-दु:ख तथा अभावों की क्रांति को एक व्यापक आनंद मंगल तथा सौन्दर्य की भावात्मक क्रांति में पल्लवित पुष्पित होना है और आज के बोधशून्य कोलाहल को प्रबुद्ध शांति में परिणत होना है। आज के युग की कुरूपता के कर्दम से अवश्य ही विश्व जीवन के सौन्दर्य का पूर्ण संतुलित पद्म प्रस्फुटित हो सकेगा। अपने इस संबोध के, इस आशा और विश्वास के छुटपुट गीत मैंने अपने नवीन चेतना-काव्य में गाए हैं और संभव हुआ तो अभी जो नहीं लिख सका आगे चलकर अपनी नवीन काव्यकृतियों में उस चिर अपेक्षित लोक-जीवन एवं मानव-जीवन का आख्यान गा सकूँगा, जो इस महान युग के भीषण गर्दो-गुबार के भीतर निश्चिन्त नि:संग तथा प्रशांत भाव से जन्म ले रहा है।

आज वीर जन कोलाहल के भीतर भी मैं
सुनता हूँ स्वर शब्दहीन संगीत अतंद्रित
मन के श्रवणों में जो गूँजा करता अविरत!
इस अणु उद्जन के विनाश के दारुण युग में
सृजन निरत हैं सूक्ष्म सूक्ष्मतर अमर शक्तियाँ
मानव के अंतरतम में.........
इसीलिए,मैं शांति क्रांति, संहार सृजन को,
विजय पराजय, प्रेम घृणा, उत्थान पतन को,
आशा कुंठा को, युग के सुन्दर कुरूप को बाहों में हूँ आज समेटे.......
युग विवर्त के क्रन्दन किलकारों में ध्यानावस्थित रहकर!

(*आकाशवाणी प्रसारिका,* अप्रैल-जून, 1957)

आलोचना

विज्ञापन

महाकवि कालिदास ने, *रघुवंश* के प्रारंभ में, अपने लिए 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' लिखकर, हम लोगों के लिए विनम्रता प्रदर्शन करने का द्वार एकदम ही बंद कर दिया और हिन्दी के कवियों ने महात्मा सूरदास के समय से जिस प्रकार--सूर से शशि, शशि से उडगन, उडगन से खद्योत-- उन्नति का अटूट क्रम रखा है, उनके अनुसार भी हम लोग चमकीले रेत के कणों तथा बुझती हुई चिनगारियों से अवश्य ही कहीं आगे बढ़ गए होंगे। ऐसी दशा में समझ में नहीं आता कि अपने को प्रभात का टिमटिमाता तारा, दीपक का फूल, सील खाई हुई गंधक की दियासलाई आदि क्या बतलाया जाए! अत: नम्रता दिखलाने को अपने लिए *असंख्य* बार अल्पाति लिखना, साहित्य की दृष्टि से, राम नाम प्रचार करने के लिए एक लक्ष राम नामों की पुस्तक छपवाकर बिना मूल्य बितरण करने के प्रयत्न के समान हास्यास्पद तथा व्यर्थ जानकर मैंने इस विषय में चुप रहना ही ठीक समझा 'मौनं स्वीकृतिलक्षणम्' कहा भी है। मुझे आशा है कि वैज्ञानिक लोग शीघ्र ही अणु -परमाणुओं को और भी छोटे-छोटे खंडों में विभक्त कर एवं 'अब के कवि' के लिए नवीन उपमा का आविष्कार कर,हिन्दी साहित्य को इस उपमा की परिक्षीणता (बैंकरप्सी) से उबारेंगे।

इसमें संदेह नहीं कि अपनी वाणी को सजधज के साथ पुस्तक रूप में प्रकाशित होते देखकर मन में बड़ी प्रसन्नता होती है। ऐसे अवसर पर ज्ञान गंभीर मुद्रा बनाकर हृदय के इस बालोचित स्वभाव की ओर उपेक्षापूर्ण विरक्ति अथवा उदासीनता दिखलाना बड़ा कठोर जान पड़ता है। अतएव भीतर ही भीतर आनंद को पीकर, होंठ पोंछकर लोगों के सामने निकलने की *अधिक आवश्यकता* न समझकर, मैं प्रसन्नतापूर्वक अपने इन 'पल्लवों' को हिन्दी के कर-पल्लवों में अर्पण करता हूँ। इन्हें मैं' पत्रं पुष्पम् नहीं कह सकता, ये केवल पल्लव हैं--

'न पत्रों का मर्मर संगीत,
न पुष्पों का रस राग पराग!'

बालकों की तरह, कौतूहलवश, मैंने जो यह काग़ज़ की नाव साहित्य-समुद्र में छोड़

दी है, इसका मेरे चापल्य के सिवा और क्या कारण हो सकता है ? देखूँ, यह बड़ी-बड़ी नावों के बीच कैसी लगती है ! गिरिधर कविराय की तरह इस 'नय्या मेरी तनिक सी' को 'चहुँदिशि के भँवरों' का भय नहीं, यह तो अपने ही हलकेपन के कारण डूबने से बच जाएगी; न महापुरुषों के ही इसके पास आने की संभावना है, जो मुझे पाँव 'पखारने' की आवश्यकता पड़े। इसमें पार जाने की बात कैसी ? यह तो केवल मनोविनोद की वस्तु है। यदि वह भी न कर सकी तो फिर सोचूँगा। अस्तु--

पल्लव में मैंने 1918 से 1928 तक की, प्रत्येक वर्ष की दो-दो, तीन-तीन कृतियाँ रख दी हैं, जिनमें से अधिकांश *सरस्वती* तथा *श्री शारदा* में समय-समय पर प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रत्येक कविता के नीचे उनका रचना-काल--वर्ष तथा मास--दे दिया है। छाया, स्वप्न, बालापन, नक्षत्र, बादल, इन कविताओं में, बीच में, एक दो बार कहीं कहीं परिवर्तन-परिवर्धन भी हुआ है।

पुस्तक के आरंभ में एक भूमिका भी जोड़ दी है, मेरी इच्छा थी उसमें 'काव्य कला' के आभ्यंतरिक रूप पर भी एक साधारण दृष्टिपात किया जाए; पर विस्तार भय से ऐसा न हो सका, काव्य के बाह्य रूप पर ही थोड़ा बहुत लिखकर संतोष करना पड़ा।

मैंने अपनी रचनाओं में, कारणवश, जहाँ कहीं व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ तोड़ी हैं, यहाँ कुछ उसके विषय में भी लिख देना उचित समझता हूँ। मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों को स्त्रीलिंग पुल्लिंग मानना अधिक उपयुक्त लगता है। जो शब्द केवल अकारांत इकारांत के अनुसार ही पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग हो गए हैं और जिनमें लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य नहीं मिलता, उन शब्दों का ठीक-ठीक चित्र ही आँखों के सामने नहीं उतरता और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुंठित-सी हो जाती है। वास्तव में जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण क्षणों में बने हुए होते हैं उनमें भाव तथा स्वर का पूर्ण सामंजस्य मिलता है और कविता में ऐसे ही शब्दों की आवश्यकता भी पड़ती है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि संस्कृत का 'देवता' शब्द हिन्दी में आकर पुल्लिंग न हो गया होता, तो स्वयं देवता ही हिन्दी कविता के विरुद्ध हो गए होते।

'प्रभात' और प्रभात के पर्यायवाची शब्दों का चित्र मेरे सामने स्त्रीलिंग में ही आता है, चेष्टा करने पर भी मैं कविता में उनका प्रयोग पुल्लिंग में नहीं कर सकता।

'सौ सौ साँसों में पत्रों की
उमड़ी हिमजल सस्मित भोर', के बदले
'उमड़ा हिम जल सस्मित भोर'— तथा
'रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान,
पल्लवों की यह सजल प्रभात' के बदले
'रुधिर से फूट पड़ा रुचिमान
पल्लवों का यह सजल प्रभात',

इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी, 'प्रभात' आदि को पुल्लिंग मान लेने पर मेरे सामने प्रभात का सारा जादू, स्वर्ण श्री, सौरभ, सुकुमारता आदि नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका चित्र ही नहीं उतरता।

'बूँद', 'कंपन' आदि शब्दों को मैं उभय लिंगों में प्रयुक्त करता हूँ। जहाँ छोटी सी बूँद हो, वहाँ 'स्त्रीलिंग', जहाँ बड़ी हो, वहाँ पुल्लिंग; जहाँ हल्की-सी हृदय की कंपन हो, वहाँ 'स्त्रीलिंग',--जहाँ ज़ोर-ज़ोर से धड़कने का भाव हो, वहाँ पुल्लिंग।

'पल्लव' शीर्षक पहली ही कविता में 'मरुताकाश' समास आया है; मुझे 'मरुदाकाश' ऐसा लगा जैसे आकाश में धूल भर गई हो, या बादल घिर आए हों--स्वच्छ आकाश देखने ही को नहीं मिलता, इसलिए मैंने उसके बदले 'मरुताकाश' ही लिखना उचित समझा।

'बालिका मेरी मनोरम मित्र थी' के बदले '....मेरा मनोरम मित्र थी' लिखना मुझे श्रुतिमधुर नहीं लगता। इसी प्रकार--

'हा! मेरे बचपन से कितने
बिखर गए जग के शृंगार,
जिनकी अविकच दुर्बलता ही
थी उसकी शोभालंकार,
जिनकी निर्भयता विभूति थी,
सहज सरलता शिष्टाचार,
औ' जिनकी अबोध पावनता
थी जग के मंगल की द्वार!'

उपर्युक्त पद्य में 'शोभालंकार' तथा 'द्वार' का लिंग 'दुर्बलता' तथा 'पावनता' के अनुसार ही लेना मुझे श्रुतिमधुर जान पड़ता है; इसी प्रकार अन्यत्र भी।

कहीं-कहीं अंत्यानुप्रास मिलाने के लिए आवश्यकतानुसार 'कण' 'गण' 'मरण' आदि णकारांत शब्दों को नकारांत कर दिया है। यथा--

'एक छवि के असंख्य उडगन
एक ही सब में स्पंदन!'

यहाँ दूसरा चरण पहले से छोटा होने के कारण 'उडगन' के 'न' पर दीर्घ काल तक स्वर ठहरता है, अतः 'न' के स्थान पर 'ण' रख देने से कर्कशता आ जाती है। पुनः

'अचिर में चिर का अंवेषन
विश्व का तत्वपूर्ण दर्शन'

में 'अन्वेषन' के स्थान पर 'अन्वेषण' कर देने से दूसरा चरण फीका पड़ जाता है।

ऐसे ही 'कर दे मंत्रमुग्ध नत फन' में 'फण' का उद्धत 'ण' मंत्रमुग्ध हो विनम्र 'न' बन जाता है और 'छेड़ कर शस्त्रों की झंकार' इस चरण की 'झंकार' 'झींगुरों की झीनी

झनकार' में 'झीनी' बनकर 'झनकार', इसी प्रकार अन्यत्र भी। 'भौंहों' से मुझे 'झोंहों' में अधिक स्वाभाविकता मिलती है; 'भौंहें' ऐसी जान पड़ती हैं जैसे उनके काले-काले बाल क्रोध से कठोर रूप धारण कर खड़े हो गए हों। 'नवल कलियों के धोरे झूम' इस चरण में 'धोरे' शब्द प्रांतिक होने पर भी, उसके 'झूम' के धोरे आ जाने से भौंरे की गूँज अधिक स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं, इसीलिए उसका प्रयोग कर दिया है। अन्यत्र भी इसी प्रकार कहीं-कहीं मैंने शब्दों को अपनी आवश्यकतानुसार बदल लिया है। अंत में व्याकरण से अपनी इस 'ईडिओसिनक्रेसी' (स्वभाव-वैष्मय) के लिए क्षमा-प्रार्थना कर मैं विदा होता हूँ।

प्रवेश

भाषा संसार का नादमय चित्र है, ध्वनियम स्वरूप है। यह विश्व के हत्तंत्री की झंकार है, जिसके स्वर में वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की मान्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपत् विकास तथा ह्रास होता है। भिन्न-भिन्न भाषाओं की विशेषताओं, भिन्न-भिन्न जातियों तथा देश की सभ्यताओं की विशेषताएँ हैं। संस्कृत की देव वीणा में जो आध्यात्मिक संगीत की परिपूर्णता है, वह संसार की अन्य शब्द तंत्रियों में नहीं और पाश्चात्य साहित्य के विशद यंत्रालय में जो विज्ञान के कल पुर्जों की विचित्रता, बारीकी तथा सजधज है, वह हमारे भारती भवन में नहीं।

प्रत्येक युग की विशेषता भी संसार की वाणी पर अपनी छाप छोड़ जाती है। एक नित्य सत्य हैं, एक अनित्य सत्य के क्षणिक पद चिह्न संसार की सभ्यता के राजपथ पर बदलते जाते; पुराने मिटते, नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं। नित्य सत्य उसके शिलालेखों में गहरा अंकित हो जाता है, उसे कालानिल के झोंके नहीं मिटा सकते। प्रत्येक युग इस अखंडनीय सत्य के अपरिमेय वृत्त का एक छोटा-सा खंड मात्र, इस अनंत सिन्धु की एक स्वल्प तरंग मात्र है,जिसका अपना विशेष स्वरूप, विशेष आकार प्रकार, विशेष विस्तार एवं विशेष ऊँचाई होती है; जो अपने सद्यःस्वर में सनातन सत्य के एक विशेष अंश को वाणी देता है। वही नाद उस युग के वायुमंडल में गूँज उठता, उसकी हृत्तंत्री से नवीन छंदों तालों में, नवीन रागों स्वरों में प्रतिध्वनित हो उठता; नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पंदन कंपन तथा नवीन साहित्य ले आता और पुराना जीर्ण पतझड़ नवजात वसंत के लिए बीज तथा खाद स्वरूप बन जाता है। नूतन युग संसार की शब्द तन्त्री में नूतन ठाठ जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता; नवीन युग की नवीन आकांक्षाओं, क्रियाओं, नवीन इच्छाओं के अनुसार उसकी वीणा से नए गीत,, नए छंद, नए राग, नई रागिनियाँ, नई कल्पनाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं।

इस प्रकार भाषा का कुछ परिवर्तनशील अंश उसके लिए खाद्य सामग्री बन, भारती की नाड़ियों में नवीन रक्त का संचार, हृदय में नवीन स्फूर्ति तथा स्पंदन पैदा कर, उसके शरीर को सुंदर, शुद्ध, विकसित तथा पुष्ट बनाता रहता है। यह अचिर अंश हमारे अंश हमारे हृद्गत संस्कारों, विचारों, हमारी प्रवृतियों , मनोवेगों, हमारी इंद्रियों तथा दैनिक क्रिया कंपनों से ऐसा एकाकार हो जाता, इतनी अधिक प्रीति तथा घनिष्ठता स्थापित कर

लेता है कि वास्तव में जो अति विश्वास मात्र है, उससे हम अपने को पृथक् नहीं कर सकते, वह हमारा जीवन ही बन जाता, हमारे प्राणों का स्पंदन उसी की लय में ध्वनित होने लगता, दोनों अभिन्न तथा अभेद्य हो जाते हैं।

हिन्दी के जिन वयोबृद्ध आचार्यों को ब्रजभाषा ही में काव्योचित माधुर्य मिलता है, जो खड़ीबोली को काव्य की भाषा का स्थान देने में भी संशकित रहते है, उसका मुख्य कारण उनके यही हृद्गत संस्कार हैं,जिनसे उसकी रुचि का रक्त बन चुका, जो उनके भाव-अनुभावों की स्थूल सूक्ष्म नाड़ियों में प्रवाहित होकर, उनके आदर्श को अपने रंग में रंग चुके, अपने स्वर में गढ़ चुके हैं। मुझे तो उस तीन-चार सौ वर्षों की वृद्धा के शब्द बिलकुल रक्त मांस-हीन लगते हैं; जैसे भारती की वीणा की झंकारें बीमार पड़ गई हों, उसके उपवन के लहलहे फूल मुरझा गए हों, जैसे साहित्याकाश का 'तरणि', ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो; भाषा के 'प्राण' चिरकाल से क्षय रोग से पीड़ित तथा नि:शक्त होकर अब 'प्रान' कहे जाने योग्य रह गए हों। 'पत्थर' जैसे ज्वालामुखी के उदर में दग्ध हो जाने से अपने ओजपूर्ण कोनों को खोकर, गल, घिसकर 'पाहन' बन गए हों। खड़ी बोली का 'स्थान' मुझे साफ़ सुथरा, निवास के उपयुक्त जान पड़ता है और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा पुता न हो, श्री हीन, बिछाली बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य; वैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी-- 'कहत', 'लहत', 'हरहु', 'भरहु'-- ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुँह की पेशियाँ ठिठुर गई हों, अच्छी तरह खुलती न हों, अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो; पर यह सब खड़ी बोली के शब्दों को सुनने, पढ़ने, उनके स्वर में सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।

भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का, प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सांत को अनंत से मिलाती है। राग ध्वनि लोक निवासी शब्दों के हृदय में परस्पर स्नेह तथा ममता का संबंध स्थापित करता है। संसार के पृथक्-पृथक् पदार्थ पृथक्-पृथक् ध्वनियों के चित्र मात्र हैं। समस्त ब्रह्मांड के रोओं में व्याप्त यही राग, उसकी शिरोपशिराओं में प्रधावित हो, अनेकता में एकता का संचार करता, यही विश्व वीणा के अगणित तारों से जीवन की अँगुलियों के कोमल कर्कश घात प्रतिघातों, लघु गुरु सम्पर्कों, ऊँच नीच प्रहारों से अनंत झंकारों के असंख्य स्वरों में फूटकर हमारे चारों ओर आनंदाकाश के स्वरूप में व्याप्त हो जाता; यही संसार के मानस समुद्र में अनेकानेक इच्छाओं आकांक्षाओं, भावनाओं कल्पनाओं की तरंगों में प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ-सौ स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम के अक्षय मधु के सने, सृजन की बीजरूप पराग से परिपूर्ण संसार के मानस शतदल के चारों ओर यह चिर असुप्त स्वर्ण भृंग एक अनंत गुंजार में मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है; यह वह शक्ति है, जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक भाव हो जाता

है। प्रत्येक शब्द एक संकेत मात्र, इस विश्व व्यापी संगीत की अस्फुट झंकार मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलंबित हैं, ऋणानुबंध हैं, उसी प्रकार शब्द भी। ये सब एक विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का संबंध, सहानुभूति, अनुराग विराग जान लेना, कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़कर दूसरे का हृदय रोमांचित कर देता, कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता; कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते, कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते,--इनकी पारस्परिक प्रीति, मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है? प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है; लक्ष और मल द्वीप की तरह कविता भी अपने बनाने वाले शब्दों की कविता को खा-खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बद्ध होते हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतंत्र भी होते हैं। जहाँ राग की उन्मुक्त स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियमवश्यता में सामंजस्य रहता है, वहाँ कोमल माँ तथा कठोर पिता के घर में लालित-पालित संतान की तरह, शब्दों का भरण-पोषण, अंग विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब कहाँ और किस नदी के किनारे, न जाने कौन, एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु का सेवन कर रहा था; शायद बरसात बीत गई थी; शरद की निर्मलता कलरव की लहरों मे उच्छ्वसित हो, न जाने किस ओर बह रही थी! अचानक एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से रेशमी घूँघट हटा, अपने सुनहले पंख फैला,क्षण भर चंचल लहरों की ताल पर मधुर नृत्य कर, अंतर्धान हो गई! जैसे उस परिस्फुट यौवना-सरिता ने अपने मीन लोचन से कटाक्षपात किया हो! तब मीन आँखों का उपमान भी न बना होगा; ना जाने, हर्ष तथा विस्मयातिरेक से किस अज्ञात कवि के हृदय से क्या कुछ निकल पड़ा-'मत्स्य!' उस कवि का समस्त आनंद, आश्चर्य, भय, प्रेम, रोमांच तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा 'मत्स्य' शब्द के रूप में प्रतिध्वनित तथा संगृहित हो साकार बन गई। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी में छप्-छप् शब्द करता हुआ, एक बार छिप्रगति से उछलकर फिर अपनी ही चंचलता में जैसे डूब जाता है। शकुंतला नाटक के 'पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्' मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध में प्रवेश करना चाहता है!

भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। "भ्रू" से क्रोध की वक्रता, "भृकुटि" से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल कंपन, 'तंरग' में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पड़ना, 'बढ़ो बढ़ो' कहने का शब्द मिलता है; 'वीचि' से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूलती हुई, हँसमुख

लहरियों का, 'उर्म्मि' से मधुर मुखरित हिलोरे का हिलकोरा कल्लोल से ऊँची-ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पात पूर्ण तरंगों का आभास मिलता है। "पंख", शब्द में केवल फड़क ही मिलती है, उड़ान के लिए भारी लगता है; जैसे किसी ने पक्षी के पंखों में शीशे का टुकड़ा बाँध दिया हो, वह छटपटाकर बार-बार नीचे गिर पड़ता हो; अँगरेजी का "विंग" जैसे उड़ान का जीता जागता चित्र है। उसी तरह "टच" में छूने की कोमलता है, वह "स्पर्श" में नहीं मिलती। "स्पर्श" जैसे प्रेमिका के अंगो का अचानक स्पर्श पाकर हृदय में जो रोमांच हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रज भाषा के "परस" में छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, "जॉय" से जिस प्रकार मुँह भर जाता है, "हर्ष" से उसी प्रकार आनंद का विद्युत स्फुरण प्रकट होता है। अँग्रेज़ी के "एअर" में एक प्रकार की ट्रांसपेरेन्सी मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पड़ती हो; "अनिल से" एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छन कर आ रही हो,"वायु" में निर्मलता तो है ही, लचीला-पन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है,"प्रभंजन" विंड की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तों को उड़ाता हुआ बहता है,"श्वसन" की सनसनाहट छिप नहीं सकती, "पवन" शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारों से घिर सा जाता है, "समीर"लहराता हुआ बहता है।

कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों; सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े; जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों, जिनका भाव संगीत विद्युद्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके; जिनका सौरभ सूँघते ही साँसों द्वारा अंदर पैठकर हृदयाकाश में समा जाए; जिनका रस मदिरा की फेन राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारों ओर मोतियों की झालर की तरह झूलने लगे, छत्ते में न समाकर मधु की तरह टपकने लगे; अर्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन जड़ता के अंधकार को भेदकर अपने ही भावों की ज्योति में दमक उठे, जिनका प्रत्येक चरण प्रियंगु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमांचित रहे; जापान की द्वीपमालिका की तरह जिनकी छोटी-छोटी पंक्तियाँ अपने अंतस्तल में सुलगी ज्वालामुखी को दबा न सकने के कारण अनंत श्वासोच्छ्वासों के भूकम्प में काँपती रहें!

भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गए हो; निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गए हो; छुड़ाए न जा सकते हों; कवि का हृदय जैसे नीड़ में सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण रश्मि के स्पर्श से जगकर,एक अनिर्वचनीय आकुलता से, सहसा अपने स्वर की संपूर्ण स्वतंत्रता में कूक उठा हो,एक रहस्यपूर्ण संगीत के स्रोत में उमड़ चला हो; अंतर का उल्लास जैसे

अपने फूट पड़ने के स्वभाव से बाध्य होकर; वीणा के तारों की तरह,अपने आप झंकारों में नृत्य करने लगा हो, भावनाओं की तरुणता,अपने ही आवेश से अधीर हो, जैसे शब्दों के चिरालिंगन पाश में बँध जाने के लिए, हृदय के भीतर से अपनी बाँहें बढ़ाने लगी हो;--यही भाव और स्वर का मधुर मिलन सरस संधि है। हृदय के कुंज में छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के बाद अपने प्रियतम से मिली हो और उसके रोएँ-रोएँ आनंदोद्रेक से झनझना उठे हों।

जहाँ भाव और भाषा में मैत्री अथवा ऐक्य नहीं रहता, वहाँ स्वरों के पावस में केवल शब्दों के 'बटु समुदाय' ही, दादुरों की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनाई देते हैं। ब्रजभाषा के अलंकृत काल की अधिकांश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासों की ऐसी अराजकता तथा अलंकारों का ऐसा व्यभिचार और कहीं देखने को नहीं मिलता। स्वस्थ वाणी में जो एक सौन्दर्य मिलता है, उसका कहीं पता ही नहीं! उस "सूधे पाँव न धरि सकत शोभा ही के भार" वाली ब्रज की वासक सज्जा का सुकुमार शरीर अलंकारों के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल अंगों में कलम की नोक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप रंग कहीं दीख ही नहीं पड़ता; उस बालिका के अस्थि हीन अंग खीच खाँच तोड़-मरोड़ कर, प्रोक्रस्टीज़ की तरह, किसी प्रकार छंदों की चारपाई में बाँध दिए, फ़िट कर दिए गए हैं। प्रत्येक पद्य, म्यसरस वाइट अवे लेडलॉ एंड को० के केटेलॉग में दी हुई नर नारियों की तस्वीरों की तरह,--जिनकी सत्ता संसार में और कहीं नहीं,--एक नए फैशन के गौन या पेटीकोट, नई हैट या अंडर वियर, नए विन्यास के अलंकार आभूषण अथवा वस्त्रों के नए-नए नमूनों का विज्ञापन देने के लिए हीं जैसे बनाया गया हो।

अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं; पृथक् स्थितियों के पृथक् स्वरूप, भिन्न अवस्थाओं के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झंकारें विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गई हों, विशेष भावों के झोंके खाकर बाल लहरियों, तरुण तरंगों में फूट गई हों; कल्पना के विशेष बहाव में पड़ आवर्तों में नृत्य करने लगी हों। ये वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलंकारों के चौखटें में फिट करने के लिए बुनी जाती हैं, वहाँ भावों की उदारता शब्दों की कृपण जड़ता में बँधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।

जिस प्रकार संगीत में सात स्वर तथा उनकी श्रुति मूर्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं और विशेष स्वरों के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा व्यंजना आदि .विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छंदों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से

विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए, अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष अपह्नुति गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते हैं--जैसे पक्षी का प्रत्येक पंख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतंत्र रूप से उड़ूँ--वे अभीप्सित स्थान में पहुँचने के मार्ग न रहकर स्वयं अभीप्सित स्थान, अभीप्सित विषय बन जाते हैं; वहाँ बाजे के सब स्वरों के एक साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्वों के प्रलय में लुप्त हो जाना है; काण्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता सम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती और उपमा, अनुप्रास, यमक, रुपक आदि उसके अमात्य, सचिव,शरीर-रक्षक तथा राजकर्मचारी,शब्दों की छोटी-मोटी सेनाएँ संगृहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

कविता में शब्दों तथा अर्थ की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं; तब भिन्न-भिन्न आकारों में कटी-छँटी शब्दों की शिलाओं का अस्तित्व ही नहीं मिलता, राग के लेप से उसकी संधियाँ एकाकार हो जाती हैं; उनका अपना रूप भाव के बृहत्स्वरूप में बदल जाता, किसी के कुशल करों का, मायावी स्पर्श उनकी निर्जीवता में जीवन फूँक देता, वे अहल्या की तरह शाप मुक्त हो जग उठते, हँम उन्हें पाषाण खंडों का समुदाय न कह ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह, काव्य कहने लगते हैं। जिस प्रकार संगीत में भिन्न-भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते, यहाँ तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता, हम केवल राग के सिन्धु में डूब जाते हैं; उसी प्रकार कविता में भी शब्दों के भिन्न-भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप में बहने लगते, उनकी लंगड़ाहट में गति आ जाती, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते हैं,कणों का हमें अस्तित्व ही नहीं मिलता।

जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य में, उसके रंग-बिरंगे पुष्पों, लाल हरे पीले, छोटे बड़े तृण गुल्म लताओं, ऊँची-नीची, सघन-विरल वृक्षावलियों, झाड़ियों, छाया ज्योति की रेखाओं, तथा पशु-पक्षियों की प्रचुर ध्वनियों का सौन्दर्य रहस्य उनके एकांत सम्मिश्रण पर ही निर्भर रहता, और उनमें से किसी एक को अपनी मैत्री अथवा संपूर्णता पर अलग कर देने पर वह अपना इंद्रजाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण, एक दूसरे के बल से सशक्त रहते; अपनी संकीर्णता की झिल्ली तोड़, तितली की तरह,भाव तथा राग के रंगीन पंखों में उड़ने लगते और अपनी डाल से पृथक् होते ही, शिशिर की बूँद की तरह, अपना अमूल्य मोती गँवा बैठते हैं।

• ब्रज भाषा के अलंकृत काल में संगीत के आदर्श का जो अध:पात हुआ, उसका एक मुख्य कारण तत्कालीन कवियों के छंदों का चुनाव भी है। कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ठ संबंध है; कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कंपन; कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित

रखते-- जिनके बिना वह अपनी ही बंधनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रण से राग को स्पंदन, कंपन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हे सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसे नियन्त्रित हो जाती, तालयुक्त हो जाती; उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असंबद्ध झंकारे एक वृत्त में बँध जाती, उनमें परिपूर्णता आ जाती है। छंद-बद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लौहचूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र (मेग्नेटिक फ़ील्ड) तैयार कर लेते, उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप- एक विन्यास आ जांता; उनमें राग की विद्युत्धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अंतरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है; अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छंद ही में बहने लगता; उसमें एक प्रकार की संपूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि दिवस की आँख मिचौनी, षड्ऋतु परिवर्तन, सूर्य शशि का जागरण शयन, ग्रह उपग्रहों का अश्रांत नर्तन--सृजन, स्थिति, संहार,--सब एक अनंत छंद, एक अखंड संगीत ही में होता है।

भौगोलिक स्थिति, शीत ताप, जलवायु, सभ्यता आदि के भेद के कारण संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं के उच्चारण संगीत में भी विभिन्नता आ जाती है। छंद का भाषा के उच्चारण, उसके संगीत के साथ घनिष्ठ संबंध है। संस्कृत का संगीत समास संधि की अधिकता, शब्द और विभक्तियों की अभिन्नता के कारण शृँखलाकार, मेखलाकार हो गया है, उसमें दीर्घ श्वास की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द एक दूसरे का हाथ पकड़, कंधे से कंधा मिलाकर मालाकार घूमते,एक के बिना जैसे दूसरा रह नहीं सकता,एक शब्द का उच्चारण करते ही सारा वाक्य मुँह से स्वयं बाहर निकल आना चाहता; एक कोना पकड़कर हिला देने से सारा चरण जंजीर की तरह हिलने लगता है। शब्दों की इस अभिन्न मैत्री, इस अन्योन्याश्रय ही के कारण संस्कृत में वर्ण वृत्तों का प्रादुर्भाव हुआ; उसका राग ऐसा सांद्र तथा संबद्ध है कि संस्कृत के छंदों में अंत्यानुप्रास की आवश्यकता ही नहीं रहती, उसके लिए स्थान ही नहीं मिलता। वर्णिक छंदों में जो एक नृपोचित-गरिमा मिलती है,वह 'तुक' के संकेतों तथा नियमों के अधीन होकर चलना अस्वीकार करती है; वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव में झूमती हुई जाती, तुक का अंकुश उसकी मान मर्यादा के प्रतिकूल है। जिस प्रकार संस्कृत के संगीत की गरिमा की रक्षा करने के लिए, उसे पूर्ण विकास देने के लिए, उसमें वर्ण वृत्तों की आवश्यकता पड़ी, उसी प्रकार वर्ण वृत्तों के कारण संस्कृत में अधिकाधिक पर्यायवाची शब्दों की। उसमें पर्यायों की तो प्रचुरता है, पर भावों के छोटे बड़े चढ़ाव उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्च्छनाओं, लघुगुरु भेदों को प्रकट करने के लिए पर्याप्त शब्दों का प्रादुर्भाव नहीं हो सका। वर्ण वृत्तों के निर्माण में

विशेषणों तथा पर्यायों से अधिक सहायता मिलने के कारण उपर्युक्त अभाव विशेषणों की मीड़ों से ही पूरा कर लिया गया। यही कारण है कि रिपल, विलो, वेव, टाइड आदि वस्तु के सूक्ष्म भेदोपभेद द्योतक शब्दों को गढ़ने की ओर संस्कृत के कवियों का उतना ध्यान नहीं रहा, जितना तुल्यार्थ शब्दों को बढ़ाने की ओर।

संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। वह लोल लहरों का चंचल कलरव, बाल झंकारों का छेकानुप्रास है। उसमें प्रत्येक शब्द का स्वतंत्र हृत् स्पंदन, स्वतंत्र अंग भंगी, स्वाभाविक साँसें हैं। हिन्दी का संगीत स्वरों की रिमझिम में बरसता, छनता-छनकता, बुद्‌बुदों में उबलता,छोटे-छोटे उत्सव के कलरव में उछलता किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले पड़कर, पगों से पग मिलाकर, सेनाकार नहीं चलते; बच्चों की तरह अपनी ही स्वच्छंदता में थिरकते कूदते हैं। यही कारण है कि संस्कृत में संयुक्ताक्षर के पूर्व अक्षर को गुरु मानना आवश्यक-सा हो जाता, वह अच्छा भी लगता है; हिन्दी में ऐसा नियम नहीं और वह कर्ण कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता है,उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण वृत्तों की नहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल् कल् छल् छल् तथा अपने क्रीड़ा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसकी हास्य दृप्त सरल मुख मुद्रा गंभीर मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ़ हो जाती, उसका चंचल भृकुटि भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उसके चंचल पदों से स्वाभाविक नृत्य छीनकर किसी ने, बलपूर्वक, उन्हें सिपाहियों की तरह गिन-गिनकर पाँव उठाना सिखलाकर, उनकी चंचलता को पद-चालन के व्यायाम की बेड़ी से बांध दिया है। हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पदक्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फैशन के चाँदी के कड़ों की तरह बड़े भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदों में वह स्वाभाविक नूपुर ध्वनि नहीं रहती।

बाङ्ला के छंद भी हिन्दी कविता के लिए सम्यक् वाहन नहीं हो सकते; बाङ्ला भाषा का संगीत आलाप प्रधान होने से अनियंत्रित सा है। उसकी धारा पहाड़ी नदी की तरह ओठों के तटों से टकराती, ऋजु कुंचित चक्कर काटती, मंद-क्षिप्र गति बदलती, स्वरपात के रोड़ों का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती, अपनी शब्द राशि को झकोरती,धकेलती, चढ़ती, गिरती, उठती, पड़ती हुई आगे बढ़ती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति से ह्रस्व दीर्घ के पलड़ों में सूक्ष्म रूप से नहीं तुले मिलते; उनका मात्रा काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक होता जाता है? अंग्रेज़ी की तरह बाङ्ला में भी स्वरपात (एक्सेंट) अधिक परिस्फुट रूप में मिलता है। यदि अंग्रेज़ी तथा बाङ्ला के शब्द हिन्दी के छन्दों में

कम्पोज कर कस दिए जायँ, तो वे अपना स्वर खो बैठे। संस्कृत के शब्द जैसे नपे तुले, कटे छँटे,(डायमंड कट के) होते हैं, वैसे बाङ्ला और अंग्रेज़ी के नहीं, वे जैसे लिखे जाते हैं, वैसे नहीं पढ़े जाते। बाङ्ला के शब्द, उच्चारण की धारा में पड़, स्पंज के टुकड़े की तरह स्वर से फूल उठते और अंग्रेज़ी के शब्दों का कुछ नुकीला भाग, उच्चारण करते समय, विलायती मिठाई की तरह, मुँह के भीतर ही गलकर रह जाता, वे चिकने चुपड़े, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते हैं।

बाङ्ला में, अधिकतर, अक्षर मात्रिक छंदों में ही कविता की जाती है। पुराने वैष्णव कवियों के अतिरिक्त,--जिन्होने संस्कृत और हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ का ढंग अपनाया,--अन्यत्र, ह्रस्व दीर्घ के नियमों पर बहुत कम कविता मिलती है; इस प्रणाली पर चलने से बाङ्ला का स्वाभाविक संगीत विनष्ट भी हो जाता; रावीन्द्रिक ह्रस्व-दीर्घ में बाङ्ला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूर्ण मिलता है; उसके अनुसार 'ए' 'औ' तथा संयुक्ताक्षर के पूर्व वर्ण को छोड़कर और सर्वत्र--आ, ई, ऊ, ए,ओ में--एक ही मात्राकाल माना जाता और वास्तव में बाङ्ला में इनका ठीक ठीक दीर्घ उच्चारण भी नहीं। पर हिन्दी में तो सोने की तोल है, उसमें आप रत्ती भर भी किसी मात्रा को, उच्चारण की सुविधा के लिए घटा-बढ़ा नहीं सकते, उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती; इसीलिए बाङ्ला छंदों की प्रणालियों में ढालने से उसके संगीत की रक्षा नहीं हो सकती।

ब्रज भाषा के अलंकृत काल में "सवैया" और "कवित्त" का ही बोलबाला रहा, दोहा चौपाई महात्मा तुलसीदास जी ने इतने ऊँचे उठा दिए, ऐसे चमका दिए, तुलसी की प्रगाढ़ भक्ति के उद्गारों को बहाते-बहाते उनका स्वर ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल, पवित्र तथा परिणत हो गया था कि एक दो को छोड़, अन्य कवियों को उन पवित्र स्वरों को अपनी शृंगार की तंत्री में चढ़ाने का साहस ही नहीं हुआ; उनकी लेखनी द्वारा वे अधिक परिपूर्ण रूप पा भी नहीं सकते थे। इसके अतिरिक्त सवैया तथा कवित्त छंदों में रचना करना आसान भी होता है और सभी कवि सभी छंदों में सफलतापूर्वक रचना कर भी नही सकते। छंदों को अपनी अँगुलियों में नचाने से पूर्व, कवि को छंदों के संकेतों पर नाचना पड़ता है; सरकस के नवीन अदम्य अश्वों की तरह उन्हें साधना उनके साथ साथ घूमना, दौड़ना, चक्कर खाना पड़ता है; तब कहीं वे स्वेच्छानुसार, इंगित मात्र पर वर्तुलाकार, अंडाकार, आयताकार नचाए जा सकते हैं। जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक् पृथक् वाद्य यंत्रों में उनकी पृथक पृथक रीति से साधना करनी पड़ती है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न छंदों के तारों, परदों तथा तंतुओं से भावनाओं का राग जाग्रत करने के पूर्व भिन्न भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पड़ता है, तभी छंदों की तांत्रियों से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल तान, आलाप,भावना की मुरकियाँ तथा मीड़ें स्वच्छंदता तथा सफलतापूर्वक झंकारित की जा सकती हैं। प्रायः

देखा जाता है कि प्रत्येक कवि के अपने विशेष छंद होते हैं, जिनमें उसकी छाप-सी लग जाती; जिसके ताने बाने में वह अपने उद्गारों को कुशलतापूर्वक बुन सकता है। खड़ी बोली के कवियों में गुप्त जी को हरिगीतिका, हरिऔध जी को चौपदों, सनेही जी को षट्पदियों में विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

पिंगलाचार्य केशवदास जी अपनी रामचंद्रिका को जिन-जिन ड्योढ़ियों तथा सुरंगों से ले गए हैं, उनमें अधिकांश उनसे अपरिचित-सी जान पड़ती हैं; जिनके रहस्यों से वे पूर्णतया अभिज्ञ न थे। ऐसा जान पड़ता है, उन्होंने बलपूर्वक शब्दों की भीड़ को ठेल,छंदों के कंधे पिचकाकर अपनी कविता की पालकी को आगे बढ़ाया है, नौसिखिए साइकिलिस्य की तरह, जिसे साइकिल पर चढ़ने का अधिक शौक होता है, उनके छंदों के पहिए, बैलेन्स ठीक-ठीक न रहने के कारण, डगमगाते, आवश्यकता से अधिक हिलते-डुलते हुए जाते हैं।

सवैया तथा कवित्त छंद भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृति होने से, उसमें एक प्रकार की जड़ता,एकस्वरता(मोनोटनी) आ जाती है। उसके राग का स्वरपात बार-बार दो लघु अक्षरों के बाद आने वाले गुरु अक्षर पर पड़ने से सारा छंद एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड़ जाता है। कविता की लड़ी में, छंद की डोरी पर दोनों के बीच दी हुई स्वरों की गाँठें तो बड़ी-बड़ी होकर सामने आ जाती है और भावद्योतक शब्दों की गुरियाँ छोटी पड़, उन गाँठों के बीच छिप जाती हैं। चूने के पक्के किनारों के बीच बहती हुई धारा की तरह,रस की स्रोतस्विनी से,अपने वेगानुसार तटों में स्वाभाविक काट-छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है; अपने पुष्प गुल्म लताओं के कोमल पुलिनों से चुंबन आलिंगन बदलने, प्रवाह के बीच पड़े हुए रंग-बिरंगे रोड़ों से फेनिल हास-परिहास करने, क्षिप्त आवर्तों के रूप में भ्रू पात करने का उसे अवसर ही नहीं मिलता, वह अपने जीवन की विचित्रता (रोमांस), स्वतंत्रता तथा स्वच्छंदता खो बैठती है।

कवित्त छंद, मुझे ऐसा जान पड़ता है, हिन्दी का औरस जात नहीं, पोष्य- पुत्र है, न जाने, यह हिन्दी में कैसे और कहाँ से आ गया, अक्षर मात्रिक छंद बंगला में मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण संगीत की ये रक्षा नहीं कर सकते। कवित्त को हम संलापोचित (कलोकियल) छंद कह सकते हैं संभव है पुराने समय में भाट लोग इस छंद में राजा महाराजाओं की प्रशंसा करते हों और इसमें रचना-सौन्दर्य पाकर, तत्कालीन कवियों ने धीरे-धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो।

हिन्दी का स्वाभाविक संगीत ह्रस्व दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा पूरा समय देता है। मात्रिक छंद में बद्ध प्रत्येक लघु गुरु अक्षर को उच्चारण करने में जितना काल तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणतः

मिलता है, दोनों में अधिक अंतर नहीं रहता। यही हिन्दी के राग की सुंदरता अथवा विशेषता है पर कवित्त छंद हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमें, यति के नियमों के पालनपूर्वक, चाहे आप इकतीस गुरु अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है; छंद की रचना में अंतर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त में प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा काल मिलता है, जिससे छंद बद्ध शब्द एक दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते हुए उच्चारित होते है; हिन्दी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली जैसे मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई, अड़ती, खिंचती,एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त छंद के किसी चरण के अधिकांश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छंद में बाँध दीजिए, यथा-

"कूलन में केलिन कछारन में कुंजन में क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है"
-इस लड़ी को यों सोलह मात्रा के छंद में रख दीजिए--

"सु-कूलन में केलिन में (और)
कछारन कुंजन में (सब ठौर)
कलित क्यारिन में (कल) किलकंत
वनन नें बगर्‌यो (विपुल) वसंत।"

अब दोनों को पढ़िए, और देखिए कि उन्हीं 'कूलन केलिन' आदि शब्दों का उच्चारण-संगीत इन दोनों छंदों में किस प्रकार भिन्न-भिन्न हो जाता है; कवित्त में परकीय, मात्रिक छंद में स्वकीय, हिन्दी का अपना, उच्चारण मिलता है।

इस नियंत्रित छंद में नायक नायिकाओं तथा अलंकारों का विज्ञापन मात्र देने में केवल स्याही का ही अधिक अपव्यय नहीं हुआ, तत्कालीन कविता का राग भी शब्द प्रधान हो गया। वाणी के स्वाभाविक स्वर और संगीत का विकास तो रुक गया, उनकी पूर्ति अनुप्रासों तथा अलंकारों की अधिकता से करनी पड़ी। कवित्त छंद में जब तक अलंकारों की भरमार न हो तब तक वह सजता भी नहीं; अपनी कुलवधू की तरह दो एक नए आभूषण उपहार पाकर ही वह प्रसन्नता से प्रदीप्त नहीं हो उठता, गणिका की तरह अनेकानेक वस्त्र भूषण ऐंठ लेने पर ही कहीं अपने साथ रसालाप करने देता है।

इसका कारण यह है कि काव्य संगीत के मूल तंतु स्वर हैं, न कि व्यंजन; जिस प्रकार सितार में राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल 'स्वर के तार' पर ही कर संचालन किया जाता और शेष तार केवल स्वर पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता देने भर के लिए झंकारित किए जाते, उसी प्रकार कविता में भी भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री, पर ही निर्भर रहता है; ध्वनि चित्रण को छोड़कर (जिसमें राग व्यंजन प्रधान रहता, यथा--"घन घमंड नभ गरजत घोरा") अन्यत्र व्यंजन संगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने में प्राय: गौण रूप से सहायता मात्र करता है। जिस

छंद में स्वर संगीत की रक्षा की जा सकती, उसके संकोच प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है, उसमें राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामंजस्य पूर्ण रूप से मिलता है; जहाँ राग केवल व्यंजनों की डोरियों में झूलता, वहाँ अलंकारों की झनक के साथ केवल 'हिंडोरे' की ही रमक सुनाई पड़ती है। कवित्त राग व्यंजन प्रधान है, उसमें स्वर अथवा मात्राओं के विकास के लिए अवकाश नहीं मिलता। नीचे कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करूँगा--

"इंद्रधनु सा आशा का छोर
अनिल में अटका कभी अछोर॥"

इस मात्रिक छंद में 'सा आशा का' इन चार वर्णों में 'अ' का प्रसार आशा के छोर को फैलाकर इंद्रधनुष की तरह अनिल में अछोर अटका देता है, द्वितीय चरण में 'अ' की पुनरावृत्ति भी कल्पना को इस काम में सहायता देती है; उसी प्रकार

"कभी अचानक भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार॥"

इन चरणों में स्वर के प्रसार द्वारा ही भूतों का महा आकार प्रकट होता है, 'क' 'ट' आदि व्यंजनों की आवृत्ति उसे भीषण बनाने में सहायता मात्र देती है, पुनः--

"हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत,
दल बल युत धुस वातुल चोर॥"

इसमें लघु अक्षरों कठ आवृत्ति ही वातुल चोर के दलबल युत घुसने के लिए मार्ग बनाती है। यदि आप उपर्युक्त चरणों में किसी एक को कवित्त छंद में बाँधकर पढ़ें, यथा--

"इंद्रधनु सा आशा का छोर
अनिल में अटका कभी अछोर"
इसे "इंद्रधनु सा आशा का छोर अटका अछोर
अनिल में, (अनिल में अचल आकाश में)"

इस प्रकार रखकर पढ़ें तो, प्रत्येक अक्षर की कड़ी अलग-अलग हो जाने तथा स्वरों का प्रस्तार रुक जाने के कारण, राग के आकाश में कल्पना का अछोर इंद्रधनुष नहीं बनने पाता। उसी प्रकार--"*अरी सलिल की लोल हिलोर*", इस पद में 'ई' तथा 'ओ' की आवृत्ति जिस प्रकार 'हिलोर' को गिराती और उठाती तथा "पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश" इस चरण में लघु मात्राओं का समुदाय अथवा स्वरों का संकोच, गिलहरी की तरह दौड़कर, जिस प्रकार प्रकृति के वेश को पल-पल परिवर्तित कर देता, कवित्त छंद की [illegible] में कस जाने पर उपर्युक्त शब्दों के पंख इस प्रकार स्वच्छंदतापूर्वक स्वराकाश में नहीं उड़ सकते; क्योंकि वह छंद हिन्दी के उच्चारण संगीत के अनुकूल नहीं है।

कविता विश्व का अंतरतम संगीत है, उसके आनंद का रोम हास है; उसमें हमारी

सूक्ष्मतम दृष्टि का मर्म प्रकाश है। जिस प्रकार कविता में भावों का अंतरस्थ हृत्स्पन्दन अधिक गंभीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है, उसी प्रकार छंद-बद्ध भाषा में भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति, अधिक जाग्रत, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है। राग-ध्वनि लोक की कल्पना है। जो कार्य भाव-जगत् में कल्पना करती, वह कार्य शब्द-जगत में राग; दोनों अभिन्न हैं। यदि किसी भाषा के छंदों में, भारती के प्राणों में शक्ति तथा स्फूर्ति संचार करने वाले उसके संगीत को, अपनी उन्मुक्त झंकारों के पंखों में उड़ने के लिए प्रशस्त क्षेत्र तथा विशदाकाश न मिलता है, वह पिंजर बद्ध कीर की तरह छंद के अस्वाभाविक बंधनों से कुंठित हो , उड़ने की चेष्टा में छटपटाकर गिर पड़ता हो,तो उस भाषा में छंद बद्ध काव्य का प्रयोजन ही क्या? प्रत्येक भाषा के छंद उसके उच्चारण संगीत के अनुकूल होने चाहिए। जिस प्रकार पतंग डोर के लघु गुरु संकेतों की सहायता से और भी ऊँची-ऊँची उड़ती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छंद के इंगितों से दृप्त तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति में अनंत की ओर अग्रसर होता जाता है। हमारे साधारण वार्त्तालाप में भाषा संगीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नहीं प्राप्त होता, उसी की पूर्ति के लिए काव्य में छंदों का प्रादुर्भाव हुआ है। कविता में भावों के प्रगाढ़ संगीत के साथ भाषा का संगीत भी पूर्ण परिस्फुट होना चाहिये, तभी दोनों में संतुलन रह सकता है। पद्य को हम गद्य की तरह नहीं पढ़ते, यदि ऐसा करें, तो हम उसके साथ अन्याय ही करेंगे। पद्य में वाणी का रोआँ-रोआँ संगीत में सनकर, रस में डूबे हुए किशमिश की तरह, फूल उठता है; सुरों में सधी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय स्पर्श से, अपने आप, अनवरत झंकारों में कांपते रहते हैं; पावस की अँधियारी में जुगनुओं की तरह अपनी ही गति में प्रभा प्रसारित करते रहते हैं।

अब कुछ तुक की बातें होनी चाहिए। तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पंदन विशेष रूप से सुनाई पड़ता है। राग की समस्त छोटी-बड़ी नाड़ियाँ मानों अंत्यानुप्रास के नाड़ी चक्र में केन्द्रित रहतीं, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्धरक्त ग्रहणकर वे छंद के शरीर में स्फूर्ति संचार करती रहती हैं। जो स्थान ताल में 'सम' का है, वही स्थान छंद में तुक का, वहाँ पर राग शब्दों के सरल तरल ऋजुकुंजित 'परनों' में घूम फिरकर विराम ग्रहण करता, उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता में हिल उठता है। जिस प्रकार अपने अवरोह में राग संवादी स्वर पर बार-बार ठहरकर अपना रूप विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लय युक्त हो जाता है। तुक उसी शब्द में अच्छा लगता है, जो पद विशेष में गुँथी हुई भावना का आधार स्वरूप हो। प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द विशेष पर निहित अथवा अवलंबित रहते हैं, शेष शब्द उसकी पूर्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए, सहायक मात्र होते हैं। उस शब्द को हटा देने से सारा वाक्य अर्थशून्य, हृदयहीन-सा हो जाता है। वाक्य की डाल में, अपने अन्य सहचरों की हरीतिमा से सुसज्जित, यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है, जिसके

भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि में प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है; इसी शब्द सम्राट के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है। इसका कारण यह है कि अंत्यानुप्रास वाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता है, अतः वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव को हृदयंगम कराने में भी सहायता देता है।

हमें अपनी दिनचर्या में भी, प्रायः एक प्रकार का तुक मिलता है,जो उसे संयमित तथा सीमाबद्ध रखता; जिसकी ओर दिन की छोटी-मोटी कार्यकारिणी की शक्तियाँ आकर्षित रहती हैं। जब हम उस सीमा को असावधानी के कारण उल्लंघन कर बैठते हैं, तब हमारे कार्य हमें तृप्ति नहीं देते, हमारे हृदय में एक प्रकार का असंतोष जमा हो जाता; हम अपनी दिनचर्या का केन्द्र खो बैठते और स्वयं अपनी ही आँखों में बेतुके से लगते हैं। एक और कारण से भी हम अपने जीवन का तुक खो बैठते हैं--जब हम अधिक कार्य व्यग्र अथवा भाराक्रांत रहते, उस समय कामकाज का ऐसा ताप, क्रिया का ऐसा स्पंदन कंपन रहता है कि हमें अपनी स्वाभाविक दिनचर्या में बरते जानेवाले व्यवहार के लिए, जीवन के स्वतंत्र क्षणों में प्रत्येक कार्य के साथ जो एक आनंद की सृष्टि मिल जाती, उसके लिए, अवकाश ही नहीं मिलता; हमारे कार्य प्रवाह में तीव्रगति रहती, हमारा जीवन एक अश्रांत दौड़-सा, कुछ समय के लिए, बन जाता है। यही ब्लैंक वर्स अथवा अतुकांत कविता है। इसमें कर्म (एक्शन) का प्राधान्य रहता है, दिन की उज्ज्वल ज्योति में काम का अधिक प्रकाश रहता है, उसमें हमें तुक नहीं मिलता, प्रभात और संध्या के अवकाशपूर्ण घाटों पर हमें इस तुक के दर्शन मिलते हैं, प्रत्येक पदार्थ में एक सोने की भावपूर्ण, शांत, संगीतमय छाप सी लग जाती, यही गीति-काव्य है।

हिन्दी में रोला छंद अंत्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पड़ता है, उसकी साँसों में प्रशस्त जीवन तथा स्पंदन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव शब्द भी फड़क उठते हैं। ऐसा जान पड़ता है, उसके राजपथ में मेला लगा है, प्रत्येक शब्द 'प्रवाल शोभा इव पादपानां' तरह-तरह के संकेत तथा चेष्टाएँ करता, हिलता डुलता आगे बढ़ता है।

भिन्न-भिन्न छंदों की भिन्न-भिन्न गति होती और तदनुसार वे रस विशेष की सृष्टि करने में भी सहायता देते हैं। *रघुवंश* में 'अज विलाप' का बैतालीय छंद करुण रस की अवतारणा के लिए कितना उपयुक्त है? उसके स्वर में कितनी कातरता, दीनता तथा व्याकुलता भरी है? जैसे अधिक उद्वेग के कारण उसका कंठ गद्‌गद हो गया हो, भर गया हो। यदि विहाग राग की तरह उस छंद का चित्र भी कहीं होता, तो उसकी आँखों में अवश्य आँसुओं का समुद्र उमड़ता हुआ मिलता। मालिनी छंद में भी करुण आह्वान अच्छा लगता है।

हिन्दी के प्रचलित छंदों में पीयूष वर्षण, रूपमाला, सखी और प्लवंगम छंद करुणा

रस के लिए मुझे विशेष उपयुक्त लगते हैं। पीयूष वर्षण की ध्वनि से कैसी उदासीनता टपकती है ? मरुभूमि में बहनेवाली निर्जन तटिनी की तरह, जिसके किनारे पत्र-पुष्पों के श्रृंगार से विहीन, जिसकी धारा लहरों के चंचल कलरव तथा हास-परिहास से वंचित रहती, यह छंद भी, वैधव्य वेश में, अकेलेपन में सिसकता हुआ, श्रांत जिह्म गति से, अपने ही अश्रुजल से सिक्त धीरे-धीरे बहता है। हरिगीतिका छंद भी करुणा रस के लिए अच्छा है।

रोला और रूपमाला दोनों छंद चौबीस मात्रा के हैं, पर इन दोनों की गति में कितना अंतर है ? रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटों को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है, वहाँ रूपमाला दिनभर के काम धंधे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता में डूबा हुआ, नीची दृष्टि किए, ढीले पाँवों से जैसे घर की ओर जाता है।

राधिका छंद में ऐसा जान पड़ता है, जैसे इसकी क्रीड़ा प्रियता अपने ही परदों में 'गत' बजा रही हो। जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़, चंचल नूपुर-नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अंग भंगियों में उठती झुकती, कोमल कंठ स्वरों से गा रही हो। इस छंद में जितनी ही अधिक लघु मात्राएँ रहेंगी, इसके चरणों में उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा।

सोलह मात्रा का अरिल्ल छंद भी निर्झरिणी की तरह कल्-कल् छल्-छल् करता हुआ बहता है। इसके तथा चौदह मात्रा के सखी छंद की गति में कितना अंतर है ? सखी छंद के प्रत्येक चरण में अंत्यानुप्रास अच्छा नहीं लगता, दूर-दूर तुक रखने से यह अधिक करुण हो जाता है, अंत में मगण के बदले भगण अथवा नगण रखने से इसकी लय में एक प्रकार का स्वर भंग आ जाता है, जो करुणा का संचार करने में सहायता देता है। पंद्रह मात्रा का चौपाई छंद अनमोल मोतियों का हार है, बाल साहित्य के लिए इससे उपयुक्त छंद मुझे कोई नहीं लगता। इसकी ध्वनि में बच्चों की साँसें, बच्चों का कंठ रव मिलता है; बच्चों की ही तरह यह चलने में इधर-उधर देखता हुआ, अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बाल-कल्पना के पंखों में खूब उड़ता है।

हिन्दी में मुक्त काव्य का प्रचार भी दिन-दिन बढ़ रहा है; कोई इसे रबर काव्य कहते हैं, कोई कंगारू। सन् 1921 में जब *उच्छ्वास* मेरी विरह कृश लेखनी से यक्ष के 'कनक वलय' की तरह निकल पड़ा था, तब "निगम" जी ने 'सम्मेलन पत्रिका' में उस 'बीसवीं' सदी के 'महाकाव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था, "इसकी भाषा रंगीली, छंद स्वच्छंद है।" पर उस वामन ने, जो कि लोकप्रियता के रात दिन घटने बढ़ने वाले चाँद को पकड़ने के लिए बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टाँगे फैला दीं कि आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश, हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छंद छंद' ही की छटा दिखलाई पड़ती है।

यह 'स्वच्छंद छंद' ध्वनि अथवा लय (रिद्म) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ

पहाड़ से निर्झर नाद में उतरता, चढ़ाव में मंद गति, उतार में क्षिप्र-वेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता छाँटता, अपने लिए ऋजु कुंचित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छंद भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप संकुचित प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।

इस मुक्त छंद की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामंजस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। हरिगीतिका, पद्धरि, रोला आदि छंदों में प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने के कारण भावना को छंद के अनुसार ले जाना, किसी प्रकार खींच-खाँचकर उसके ढाँचे में फिट कर देना पड़ता है; कभी पाद पूर्ति के लिए आवश्यक शब्द भी रख देने पड़ते हैं। उग्र साम्यवादियों की तरह ये छंद बाह्य समानता चाहते हैं। मुक्त काव्य आंतरिक ऐक्य, भाव जगत् के साम्य को ढूँढता है। उसमें छंद के चरण भावानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते है। क्वार्टरों में रहने वाले बाबुओं की तरह, भावना को, परतंत्रता के हाथों बने हुए घरों के अनुसार, अपनी खाने-पीने उठने बैठने, सोने रहने की सुविधा को, कुछ इने गिने कमरों ही में येन केन प्रकारेण ठूँस-ठूँसकर जीवन निर्वाह नहीं करना पड़ता; वह अपनी स्वतंत्र इच्छा, स्वाभाविक रुचि के अनुरूप, अपनी आत्मा के सुविधानुसार, अपना निकेतन बनाता है, जिसमें उसका जीवन अपने कुटुंब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ-पाँव फैलाकर सुखपूर्वक रह सके।

इस प्रकार की कविता में अंगों के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पड़ता है। इसमें चरण इसलिए घटाए बढ़ाये जाते हैं कि काव्य-संबद्ध,संयमित रहे; उसकी शरीर यष्टि न गणेश-जी की तरह स्थूल तथा मांसल हो, न ब्रज भाषा की विरहिणी के सदृश अस्पष्ट अस्थि-पंजर। जहाँ छंद के पद भावानुसार नहीं जाते और मोहवश अपनी सजावट ही के लिए घटते बढ़ते, चीन की सुंदरियों अथवा पाश्चात्य महिलाओं की तरह केवल अपने चरणों को छोटा रखने के लिए लोहे के तंग जूते,क़मर को पतली रखने के लिए चुस्तपेटी पहनने लगते, वहाँ उनके स्वाभाविक सौन्दर्य का विकास तो रुक ही जाता है, कविता अस्वस्थ तथा लक्ष्यभ्रष्ट भी हो जाती है।

अन्य छंदों की तरह मुक्त काव्य भी हिन्दी में ह्रस्व दीर्घ मात्रिक संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छन्द का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है, दोनों में स्वरैक्य रहना चाहिए। जिस प्रकार गवैया तानपूरा के स्वरों से कंठस्वर मिलाकर गाता, और स्वतंत्रतापूर्वक तान अथवा आलाप लेने पर भी उसके कंठ का तंबू के स्वरों के साथ सामंजस्य बना ही रहता तथा ऐक्य भंग होते ही वह बेसुरा हो जाता, उसी प्रकार छंद का राग भी भाषा के तारों पर झूलता है और जहाँ दोनों में मैत्री नहीं रहती, वहाँ छंद अपना 'स्वर' खो बैठता है।

पर्यालोचन

कविता करने की प्रेरणा मुझे सब से पहले प्रकृति-निरीक्षण से मिली है, जिसका श्रेय मेरी जन्मभूमि कूर्मांचल प्रदेश को है। कवि-जीवन से पहले भी, मुझे याद है, मैं घंटों एकांत में बैठा, प्राकृतिक दृश्यों को एकटक देखा करता था और कोई अज्ञात आकर्षण, मेरे भीतर एक अव्यक्त सौन्दर्य का जाल बुनकर मेरी चेतना को तन्मय कर देता था। जब कभी मैं आँखे मूँद कर लेटता था, तो वह दृश्यपट, चुपचाप, मेरी आँखों के सामने घूमा करता था, इसके सिवा, उस समय, मुझे कोई वस्तु प्रिय नहीं थी। स्वामी विवेकानंद और रामतीर्थ के अध्ययन से, प्रकृति-प्रेम के साथ ही मेरे प्राकृतिक दर्शन के ज्ञान और विकास में भी अभिवृद्धि हुई। *परिवर्तन* में इस विचारधारा का काफी प्रभाव है। अब मैं सोचता हूँ कि प्राकृतिक दर्शन, जो एक निष्क्रियता की हद तक सहिष्णुता प्रदान करता है और एक प्रकार से प्रकृति को सर्वशक्तिमयी मानकर उसके प्रति आत्म-समर्पण सिखलाता है, वह सामाजिक जीवन के लिए स्वास्थ्यकर नहीं है।

पल्लव और *गुंजन* काल के बीच में मेरा 'किशोर भावना का सौन्दर्य' स्वप्न टूट गया। *पल्लव* की 'परिवर्तन' कविता, दूसरी दृष्टि से, मेरे इस मानसिक परिवर्त्तन की भी द्योतक है। इसीलिए वह पल्लव में अपना विशेष व्यक्तित्व रखती है। दर्शनशास्त्र और उपनिषदों के अध्ययन ने मेरे रागतत्व में मंथन पैदा कर दिया और उसके प्रवाह की दिशा बदल दी। मेरी निजी इच्छाओं के संसार में कुछ समय तक नैराश्य और उदासीनता छा गई। मनुष्य के जीव-जीवन के अनुभवों का इतिहास बड़ा ही करुण प्रमाणित हुआ। जन्म के मधुर रूप में मृत्यु दिखाई देने लगी--वसंत के कुसुमित आवरण के भीतर पतझर का अस्थिपंजर!

मेरी जीव-दृष्टि का मोह एक प्रकार से छूटने लगा और सहज जीवन व्यतीत करने की भावना में एक तरह का धक्का लगा। इस क्षणभंगुरता के 'बुद्-बुदों के व्याकुल संसार' में परिवर्तन ही एकमात्र चिरंतन सत्ता जान पड़ने लगी। मेरे हृदय की समस्त आशाऽकांक्षाएँ और सुखस्वप्न अपने भीतर और बाहर किसी महान् चिरंतन वास्तविकता का अंग बन जाने के लिए, लहरों की तरह, अज्ञात प्रयास की आकुलता में, ऊबडूब करने लगे।

किन्तु, दर्शन का अध्ययन विश्लेषण की पैनी धार से जहाँ जीवन के नाम-रूप-गुण

के छिलके उतारकर मन को शून्य की परिधि में भटकाता है, वहाँ वह छिलके में फल के रस की तरह व्याप्त एक ऐसे सूक्ष्म संश्लेषणात्मक सत्य के आलोक से भी हृदय को स्पर्श करता है कि उसकी सर्वातिशयता चित्त को अलौकिक आनंद से मुग्ध और विस्मित कर देती है। भारतीय दर्शन ने मेरे मन को अस्थिर कर दिया।

इसी सविशेष की कल्पना के सहारे, जिसने 'ज्योत्स्ना' को और गुंजन की 'अप्सरा' को जन्म दिया है, मैं *पल्लव* से *गुंजन* में अपने को सुंदरम् से शिवम् की भूपि पर पदार्पण करते हुए पाता हूँ। गुंजन में मेरी बहिर्मुख प्रकृति सुख-दुःख में समत्व स्थापित कर अंतर्मुखी बनने का प्रयत्न करती है; साथ ही गुंजन और ज्योत्स्ना में मेरी कल्पना अधिक सूक्ष्म एवं भावात्मक हो गई है। गुंजन के भाषा-संगीत में एक सुघरता, मधुरता और श्लक्ष्णता आ गई है जो *पल्लव* में नहीं मिलती। *गुंजन* के संगीत में एकता है, पल्लव के स्वरों में बहुलता। *पल्लव* की भाषा दृश्य जगत् के रूप-रंग की कल्पना से मांसल और पल्लवित है, *गुंजन* की भाषा भाव और कल्पना के सूक्ष्म सौन्दर्य से गुंजित। *ज्योत्स्ना* का वातावरण भी सूक्ष्म की कल्पना से ओत-प्रोत है, उसका सांस्कृतिक समन्वय सर्वातिशयता (ट्रेन्सेंडेण्टलिज़्म) के आलोक (दर्शन) को विकीर्ण करता है।

यह कहा जाता है कि मेरी कविताओं से सुंदरम् और शिवम् से भी बड़े लक्ष्य सत्यम् का बोध नहीं होता है, साथ ही उनमें वह अनुभूति की तीव्रता नहीं मिलती, जो सत्य की अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह सच है कि व्यक्तिगत सुख-दुःख के सत्य को *अथवा* अपने मानसिक संघर्ष को मैंने अपनी रचनाओं में वाणी नहीं दी है, क्योंकि वह मेरे स्वभाव के विरुद्ध है। मैंने उससे ऊपर उठने की चेष्टा की है। गुंजन में 'तप रे मधुर मधुर मन', 'मैं सीख न पाया अब तक सुख से दुख को अपनाना' आदि अनेक रचनाएँ मेरी इस रुचि की द्योतक हैं। मुझे लगता है कि सत्य शिव में स्वयं निहित है।

ज्योत्स्ना तक मेरे सौन्दर्य-बोध की भावना मेरे ऐन्द्रिक हृदय को प्रभावित करती रही है, मैं तब तक भावना ही से जगत् का परिचय प्राप्त करता रहा, उसके बाद मैं बुद्धि से भी संसार को समझने की चेष्टा करने लगा हूँ। अपनी भावना की सहज दृष्टि को खो बैठने के कारण या उसके दब जाने के कारण मैंने *युगांत* में लिखा है.—

'वह एक असीम अखंड विश्व व्यापकता
खो गई तुम्हारी चिर जीवन सार्थकता!'

भावना की समग्रता को खो बैठने के कारण मैं, खंड-खंड रूप में, संसार को, जग-जीवन को समझने का प्रयत्न करने लगा। यह कहा जा सकता है कि यहाँ से मेरी काव्य-साधना का दूसरा युग आरंभ होता है। जीवन के प्रति एक अंतर्विश्वास मेरी बुद्धि को अज्ञात रूप से परिचालित करने लगा और दिशाभ्रम के क्षणों में प्रकाश स्तंभ का काम देने

पल्लव से *गुंजन* तक मेरी भाषा में एक प्रकार के अलंकार रहे हैं, और वे अलंकार भाषा संगीत को प्रेरणा देने वाले तथा भाव सौन्दर्य की पुष्टि करने वाले रहे हैं। बाद की रचनाओं में भाषा के अधिक गर्भित (एब्स्ट्रैक्ट) हो जाने के कारण मेरी अलंकारिता अभिव्यक्तिजनित हो गई है।

युगवाणी का रूप-पूजन समाज के भावी रूप का पूजन है। अभी जो वास्तव में अरूप है। उसके कल्पनात्मक रूप चित्र को स्वभावतः अलंकृत होना चाहिए। युगवाणी में कहा भी है—

'बन गए कलात्मक भाव जगत के रूप नाम'
'सुंदर शिव सत्य कला के कल्पित, माप-मान
बन गए स्थूल जगजीवन से हो एक प्राण!'

'जगत के रूप नाम' से मेरा अभिप्राय नवीन सामाजिक संबंधों से निर्मित भविष्य के मानव संसार से है। जब हम कला को जीवन की अनुवर्तिनी मानते हैं, तब कला का पक्ष गौण हो जाता है। विकास के युग में जीवन कला का अनुगामी होता है। युगवाणी में यह बात कई तरह से व्यक्त की गई है कि भावी जीवन और भावी मानवता की सौन्दर्य कल्पना स्वयं ही अपना आभूषण है। 'रूप रूप बन जाएँ भाव स्वर, चित्र गीत झंकार मनोहर' द्वारा भविष्य के अरूप सौन्दर्य का, रूप के पाश में बँधने के लिए आवाहन किया गया है।

छायावाद इसलिए अधिक नहीं रहा कि उसके पास, भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध और नवीन विचारों का रस नहीं था। वह काव्य न रहकर केवल अलंकृत संगीत बन गया था। द्विवेदी युग के काव्य की तुलना में छायावाद इसलिए आधुनिक था कि उसके सौन्दर्यबोध और कल्पना में पाश्चात्य साहित्य का पर्याप्त प्रभाव पड़ गया था और उसका भाव-शरीर द्विवेदी युग के काव्य की परंपरागत सामाजिकता से पृथक हो गया था, किन्तु वह नए युग की सामाजिकता और विचारधारा का समावेश नहीं कर सका था। उसमें व्यावसायिक क्रांति और विकासवाद के बाद का भावना-वैभव तो था, पर महायुद्ध के बाद की 'अन्नवस्त्र' की धारणा (वास्तविकता) नहीं आई थी। उसके 'हास-अश्रु आशाऽकांक्षा', 'खाद्यमधुपानी' नहीं बने थे। इसलिए एक ओर वह निगूढ़, रहस्यात्मक, भावप्रधान (सबजेक्टिव) और वैयक्तिक हो गया, दूसरी ओर केवल टेकनीक और आवरणमात्र रह गया। दूसरे शब्दों में नवीन सामाजिक जीवन की वास्तविकता को ग्रहण कर सकने से पहले, हिन्दी कविता, छायावाद के रूप में हासयुग के वैयक्तिक अनुभवों, ऊर्ध्वमुखी विकास की प्रवृत्तियों, ऐहिक जीवन की आकांक्षाओं संबंधी स्वप्नों, निराशाओं और संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने लगी और व्यक्तिगत जीवन-संघर्ष की कठिनाइयों से क्षुब्ध होकर, पलायन के रूप में, प्राकृतिक दर्शन के सिद्धांतों के आधार पर, भीतर-बाहर में, सुख-दुःख में, आशा-निराशा और

संयोग-वियोग के द्वंद्वों में सामंजस्य स्थापित करने लगी। सापेक्ष की पराजय उसमें निरपेक्ष की जय के रूप में गौरवान्वित होने लगी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म-दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अंदर श्रमजीवियों के संगठन, वर्ग-संघर्ष आदि से संबंध रखनेवाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रांतियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से, मानवता एवं सर्वभूतहित की जितनी विशद भावना मुझे वेदांत में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। भारतीय दार्शनिक जहाँ द्रष्टा की खोज में, सापेक्ष के उस पार 'आवाङ.मनस् गोचरम्' की ओर चले गए हैं, वहाँ पाश्चात्य दार्शनिकों ने सापेक्ष के अंतस्थल तक डुबकी लगाकर, उसके आलोक में, जनसमाज के सांस्कृतिक विकास से उपयुक्त राजनीतिक विधान देने का भी प्रयत्न किया है। पश्चिम में वैधानिक संघर्ष अधिक रहने के कारण नवीनतम समाजवादी विधान का विकास भी वहीं हो सका है।

मैं, आध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शनों के सिद्धांतों से प्रभावित हुआ हूँ, पर भारतीय दर्शन की, सामंत कालीन परिस्थितियों के कारण जो एकांत परिणति व्यक्ति की प्राकृतिक मुक्ति में हुई है (दृश्य जगत एवं ऐहिक जीवन की माया होने के कारण उसके प्रति विराग आदि की भावना जिसके उपसंहार मात्र हैं) और मार्क्स के दर्शन की, पूँजीवादी परिस्थितियों के कारण, जो वर्गयुद्ध और रक्तक्रांति में परिणत हुई है,—ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टि से उपयोगी नहीं जान पड़े।

आध्यात्म दर्शन से हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह सापेक्ष जगत् ही सत्य नहीं, इससे परे जो निरपेक्ष सत्य है, वह मन और बुद्धि से अतीत है, किन्तु इस सापेक्ष जगत् का—जिसका संबंध मानव जाति की संस्कृतियों—आचार-विचार, रीति-नीति और सामाजिक संबंधों से है—विकास किस प्रकार हुआ, इस पर ऐतिहासिक दर्शन ही प्रकाश डालता है। हमारे सांस्कृतिक हृदय के 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का बोध सापेक्ष है, सत्य इस सूक्ष्म से भी परे है—यह अध्यात्म दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। जीवन शक्ति गतिशील (डाइनेमिक) हैं, सामंत कालीन सूक्ष्म से अथवा विगत सांस्कृतिक मानों और आदर्शों से मानव समाज का संचालन भविष्य में नहीं हो सकता, उसे नवीन जीवन मानों की आवश्यकता है, जिसके ऐतिहासिक कारण हैं, आदि—यह आधुनिक भौतिक दर्शन की विचारधारा का परिणाम है। एक जीवन के सत्य को ऊर्ध्वतल पर देखता है, दूसरा समतल पर।

समन्वय के सत्य को मानते हुए भी मैं जो दृश्य दर्शन (ऑबजेक्टिव फ़िलॉसफ़ी) के सिद्धांत पर इतना जोर दे रहा हूँ, इसका यही कारण है कि परिवर्तन-युग में भाव दर्शन (सबजेक्टिव फ़िलॉसफ़ी) की—जो कि अभ्युदय और जागरण युग की चीज है—

उपयोगिता प्राय: नष्ट हो जाती है। सच तो यह है कि हमें अपने देश के युगव्यापी अंधकार में फैले, इस मध्यकालीन संस्कृति के ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ को, जड़ और शाखा सहित, उखाड़ कर फेंक देना होगा और उस सांस्कृतिक चेतना के विकास के लिए देशव्यापी प्रयत्न और विचार संग्राम करना पड़ेगा, जिसके मूल हमारे युग की प्रगतिशील वस्तु स्थितियों में हों। भारतीय दर्शन की दृष्टि से भी मुझे अपने देश की संस्कृति के मूल उस दर्शन में नहीं मिलते, जिसका चरम विकास अद्वैतवाद में हुआ है।

प्रस्तावना

इस युग के क्रांति विकास, सुधार जागरण के आंदोलनों की परिणति एक नवीन सांस्कृतिक चेतना के रूप में होना अवश्यंभावी है, जो मनुष्य के पदार्थ, जीवन, मन के संपूर्ण स्तरों का रूपांतर कर देगी तथा विश्व जीवन के प्रति उसकी धारणा को बदलकर सामाजिक संबंधों को नवीन अर्थ-गौरव प्रदान कर देगी। इसी सांस्कृतिक चेतना को मैं अंतर्चेतना या नवीन सगुण कहता हूँ। मैं जनवाद को राजनीतिक संस्था या तंत्र के बाह्य रूप में ही न देखकर भीतरी, प्रजात्मक मानव चेतना के रूप में भी देखता हूँ और जनतंत्रवाद की आंतरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही 'अंतर्चेतनावाद' अथवा 'नव मानववाद' कहता हूँ—जिस अर्थ में मैंने अपनी इधर की रचनाओं में इनका प्रयोग किया है। दूसरे शब्दों में, जिस विकासकामी चेतना को हम संघर्ष के समतल धरातल पर प्रजातंत्रवाद के नाम से पुकारते हैं उसी को ऊर्ध्व सांस्कृतिक धरातल पर मैं अंतर्चेतना एवं अंतर्जीवन कहता हूँ। इस युग के जड़ (परिस्थितियाँ, यंत्र तथा तत्संबंधी राजनीतिक आर्थिक आंदोलन) तथा चेतन (नवीन आदर्श, नैतिक दृष्टिकोण तथा तत्संबंधी मान्यताएँ आदि) का संघर्ष इसी अंतर्चेतना या भावी मनुष्यत्व के पदार्थ के रूप में सामंजस्य ग्रहण कर उन्नयन को प्राप्त हो सकेगा। अत: मैं वर्गहीन सामाजिक विधान के साथ ही मानव-अहंता के विधान की भी नवीन चेतना के रूप में परिणति संभव समझता हूँ और युग-संघर्ष में जन-संघर्ष अतिरिक्त अंतर्मानव का संघर्ष भी देखता हूँ।

इस प्रकार मैं युग-संघर्ष का एक सांस्कृतिक पक्ष भी मानता हूँ, जो जन-युग की धरती से ऊपर उठकर उसकी उच्च मानवता की चोटी को भी अपने फड़कते हुए पंख से स्पर्श करता है; क्योंकि जो युग-विप्लव मानव-जीवन के आर्थिक राजनीतिक धरातलों में महान् क्रांतिकारी परिवर्तन ला रहा है, वह उसकी मानसिक, आध्यात्मिक आस्थाओं में भी आंतरिक विकास तथा रूपांतर उपस्थित करने जा रहा है और जैसा कि मैं *युगवाणी* की भूमिका में लिख चुका हूँ, "भविष्य में जब मानव-जीवन विद्युत तथा अणु-शक्ति की प्रबल टाँगों पर प्रलय-वेग से आगे बढ़ने लगेगा, तब आज के मनुष्य की टिमटिमाती हुई चेतना उसका संचालन करने में समर्थ नहीं हो सकेगी.....बाह्य जीवन के साथ ही उसकी अंतर्चेतना में भी युगांतर होना अवश्यंभावी है!"

मेरा विनम्र विश्वास है कि लोक संगठन तथा मनः संगठन एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि वे एक ही युग (लोक) चेतना के बाहरी और भीतरी रूप हैं।

हमारा युग-मन परिस्थितियों के प्रति जाग्रत् तथा पर्याप्त लब्ध-बोध होने पर भी अनुभूति की दृष्टि से अभी अपरिपक्व है और इसके अनेक कारण हैं। हम अभी यंत्र का मानवीकरण नहीं कर सके हैं, उसे मानवीय अथवा मानव का वाहन नहीं बना सकें हैं; बल्कि वही अभी हम पर आधिपत्य किए हुए है। यंत्र-युग ने हमें जो शक्ति तथा वैभव प्रदान किया है, वह हमारे लोभ तथा स्पर्धा की वस्तु बनकर रह गया है; उसने जहाँ मानव-श्रम के मूल्य को अतिरिक्त लाभ में परिणत कर शोषक-शोषितों के बीच बढ़ती हुई खाई को रक्त-पंकिल विक्षोभ तथा असंतोष से भर दिया है, वहाँ हमारे भोग-विलास तथा अधिकार लालसा के स्तरों को उकसाकर हमें अविनीत भी बना दिया है किन्तु वह हमारे ऊपरी धरातलों तथा सांस्कृतिक चेतना को छूकर मानवीय गौरव से मंडित नहीं हो सका है,-- दूसरे शब्दों में, यंत्र-युग का मनुष्य की चेतना में अभी सांस्कृतिक परिपाक नहीं हुआ है।

मैं केवल आदर्शवाद का ही पक्ष नहीं ले रहा हूँ, वस्तुवादियों के दृष्टिकोण की भी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ। वास्तव में आदर्शवाद, वस्तुवाद, जड़-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग-चेतना के प्रतीक अथवा सभ्यता के विरोधाभास हैं, जिसका संचरण वृत्त अब समाप्त होने को है। आदर्शवाद द्रष्टा या ज्ञाता का दृष्टिबिन्दु है, जो आदर्श को प्रधान तथा सत्य मानता है और वास्तविकता यथार्थ को उसका बिम्ब रूप, जिसे आदर्श की ओर अग्रसर या विकसित होना है। यह स्पष्ट है कि यथार्थ की गतिविधि या विकास के पथ को निर्धारित करने के लिए आदर्श का बोध या ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। तथोक्त वस्तुवाद कर्ता या कर्मी का दृष्टिकोण है, जिसके लिए गोचर वस्तु ही यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परिणति। वस्तु से उसका विधायक या निर्माता का संबंध होने के कारण वह उसकी यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता एवं उसी को सत्य मानता है, किन्तु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है,--सूक्ष्म स्थूल रूप या बिम्ब प्रतिबिम्ब मान लें, तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है और आदर्श तथा वस्तुवादी, अपनी-अपनी उपयोगिता तथा सीमाओं को मानते हुए, विश्व कर्म में परस्पर सहायक की तरह हाथ बँटा सकते हैं।

हम आज विश्व-तंत्र, विश्व-जीवन, विश्व-मन के रूप में सोचते हैं, पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि विश्व-योजना में विभिन्न देशों का अपना मौलिक व्यक्तित्व नहीं रहेगा। एकता का सिद्धांत अंतर्मन का सिद्धांत है, विविधता का सिद्धांत बहिर्मन तथा जीवन के स्तर का; दूसरे शब्दों में एकता का दृष्टिकोण ऊर्ध्व दृष्टिकोण है और विभिन्नता

का समदिक्। विविध तथा अविभक्त होना जीवन-सत्य का सहज अंतर्जात गुण है, इस दृष्टि से भी ऐसे किसी विश्व-जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें ऐक्य और वैचित्र्य संयोजित न हों। इसलिए देश-प्रेम अंतर्राष्ट्रीयता या विश्व-प्रेम का विरोधी न होकर उसका पूरक ही है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए मैं सोचता हूँ कि भारत पर भावी विश्व-निर्माण का कितना बड़ा उत्तरदायित्व है और आज की विनाश की ओर अग्रसर विश्व-सभ्यता को अंतःस्पर्शी मनुष्यत्व का अमरत्व प्रदान करने के लिए हमारे मनीषियों, बुद्धिजीवियों तथा लोकनायकों को कितना अधिक प्रबुद्ध, उदार-चेता तथा आत्म-संयुक्त बनने की आवश्यकता है।

अपने बहिर्मुख (इंद्रियों के) मन से हम जीवन के जिस पदार्थ में आशा-आकांक्षाओं, सुख-दुख तथा भोग-अधिकार का सत्य देखते हैं एवं राजनीतिक आर्थिक प्रणालियों द्वारा उसमें सामूहिक संतुलन स्थापित करते हैं, उसी जीवन तत्त्व में हम अंतर्मुख (ऊर्ध्व) मन से आनंद, अमरत्व, प्रकाश आदि के रूप में अपने देवत्व के सत्य का अनुभव करते हैं, जिसका सामूहिक वितरण हम किसी प्रकार के सांस्कृतिक आंदोलन द्वारा ही कर सकते हैं,—विशेषतः जब धार्मिक व्यवस्थाओं तथा संस्थाओं से हमारे युग की आस्था उठ रही है। इस प्रकार के किसी प्रयत्न के बिना हमारा मान्यताओं का ज्ञान अधूरा ही रह जाएगा और हम प्रवृत्तियों के पशु-मन को मनुष्यत्व के सौन्दर्य-गौरव से मंडित नहीं कर सकेंगे। राजनीतिक लोकतंत्र जहाँ हमारे भोग के संचरण की व्यवस्था तथा रक्षा करता है, सांस्कृतिक विश्वद्वार हमारे मनुष्यत्व (आत्मा) का पोषण करेगा।

रश्मिबंध

परिदर्शन

कवि या लेखक अपने युग से प्रभावित होता है, साथ ही, वह अपने युग को प्रभावित भी करता है। छायावादी काव्य वास्तव में भारतीय जागरण की चेतना का काव्य रहा है। उसकी एक धारा राष्ट्रीय जागरण से संबद्ध रही है, जिसकी प्रेरणा गाँधी जी के नेतृत्व में स्वतंत्रता के युद्ध में निहित रही है और दूसरी धारा का संबंध उस मानसिक दार्शनिक जागरण की भावनात्मक तथा सौन्दर्य-बोध संबंधी प्रक्रियाओं से रहा है, जिसका समारंभ औपनिषदिक विचारों तथा पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के प्रभावों के कारण हुआ है।

श्री रामकृष्ण देव के महत जन्म में, जैसे प्रतीक रूप में, नए भारत ने जन्म लिया था। अनेक शतियों से जो भारतीय जीवन तथा मानस में एक प्रकार का निष्क्रिय औदात्य, वैराग्य तथा कार्पण्य छाया हुआ था, वह जैसे रामकृष्ण देव के शुभ आगमन से तिरोहित हो गया। जिस प्रकार सरोवर के ऊपर का शैवाल हटा देने से नीचे का निर्मल जल दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार मध्ययुगीन जाड्य की सीमाओं तथा कुहासों से मुक्त होकर भारतीय चेतना का उज्वलर मुख मनश्चक्षुओं के सामने निखरकर प्रत्यक्ष होने लगा। अनेक पौराणिक व्यक्तित्वों एवं धार्मिक नैतिक मान्यताओं की भूलभुलैयाँ में खोया हुआ परंपरागत मानस जैसे नवीन तथा स्वतंत्र रूप से सत्य की खोज करने लगा और उपनिषदों की उन्मेषपूर्ण स्वयंप्रभा मंत्र दृष्टि से प्रेरणा प्राप्त कर नए आलोक क्षितिजों में विचरण करने लगा। इस भाव मुक्ति के नवोल्लास की प्रथम अभिव्यक्ति, नए युग के भारतीय साहित्य में हमें रवीन्द्रनाथ की कविता में मिलती है। मानव-जीवन संबंधी सत्य के पिटे पिटाए शास्त्रीय दृष्टिकोण से छुटकारा पाकर युग की चेतना जैसे नवीन सौन्दर्यबोध तथा आनन्द की खोज में नवीन कल्पना के सोपानों पर आरोहण करने लगी। ज्ञान-भक्ति, कर्म, ब्रह्म, विश्व, व्यक्ति आदि संबंधी पथराई हुई एकरस भावनाओं में नवीन प्राणों तथा चेतना का संचार होने लगा और नए युग की कला, विशेषत: कविता, नवीन भाव ऐश्वर्य का नि:सीम आनंद स्वर्ग लेकर प्रकट हुई। इस नई चेतना ने अपने मुक्त प्रवाह में हिन्दी कविता की भाषा को भी नवीन रूप माधुर्य प्रदान किया और यह नवीन जागरण की प्रेरणा अपने भाव वैभव के साथ ही नवीन जीवन-संघर्ष भी लाई, जिसने एक ओर भारतीय मानस में विचार क्रांति पैदा की और दूसरी ओर राजनीतिक क्रांति जिसने सदियों से

पराधीन इस भारतभूमि में स्वतंत्रता के अस्त्रहीन संग्राम को जन्म दिया और मात्र अपने संगठित मनः संकल्प से अंत में देश को स्वाधीन भी कर दिया। इस प्रकार भाव ऐश्वर्य के अतिरिक्त हिन्दी काव्य चेतना की एक धारा ने सामूहिक कर्म एवं सामाजिक आदर्शों को प्रेरणा देकर प्रगतिशील दृष्टिकोण से नवीन जीवन-मूल्यों का आकलन तथा सृजन किया। खड़ी बोली ने धीरे-धीरे सौन्दर्य बोध, पद मार्दव तथा भाव-गौरव प्राप्त कर प्रथम बार काव्योचित भाषा का सिंहासन ग्रहण किया। गद्य में निखार लाने के लिए उसे अभी और भी साधना तथा तपस्या करनी है। हमारी पीढ़ी एक प्रकार से व्यापक अर्थ में जागरण ही की पीढ़ी रही है। हिन्दी हम लोगों के लिए मात्र भाषा ही नहीं, एक नई चेतना, नई प्रेरणा का प्रतीक बनकर आई थी। देश में सर्वत्र, सभी क्षेत्रों में नवीन जागरण की लहर दौड़ रही थी, नवीन अभ्युदय के चिह्न उदय हो रहे थे, -- हमने उस जागरण, उस अभ्युदय को हिन्दी ही के रूप में पहचाना था। उसी सर्वतोमुखी सशक्त जातीय अभ्युत्थान की चेतना को वाणी देने के प्रयत्न में हिन्दी का भी कंठ फूटा था; उसने अपनी मध्ययुगीन ब्रजभाषा की तुतलाहट ही को नहीं छोड़ दिया था, उसके भीतर एक सबल भावना का सिन्धु भी हिलोरें लेने लगा था। इस प्रकार हिन्दी हमारे भीतर भाषा के अतिरिक्त एक राष्ट्रीय जागरण, एक सामाजिक प्रेरणा शक्ति के रूप में -- एक मानवीय सौन्दर्य बोध तथा एक नवीन आत्माभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुई थी। छायावादी कविता ने सोई हुई भारतीय चेतना की गहराइयों में नवीन रागात्मकता की माधुर्य ज्वाला, नवीन दृष्टि का सौन्दर्य बोध तथा नवीन विश्व मानवता के स्वप्नों का आलोक उड़ेला। छायावाद से पहिले खड़ी बोली का काव्य, भाव तथा भाषा की दृष्टि से, निर्धन ही रहा। छायावाद ने उसमें अँगड़ाई लेकर जागते हुए भारतीय चैतन्य का भाव-वैभव भरा। विश्व-बोध के व्यापक आयाम, लोक-मानव की नवीन आकांक्षाएँ, जीवन-प्रेम से प्रेरित, परिष्कृत अहंता के मांसल सौन्दर्य का परिधान उसने पहिले पहल हिन्दी कविता को प्रदान किया।

यह सब छायावाद के लिए इसलिए संभव हो सका कि भारतीय पुनर्जागरण विश्व सभ्यता के इतिहास के एक और भी महान् लोक जागरण का अंग बनकर आया था; विश्व सभ्यता के इतिहास का ही नहीं, वह मानव चेतना के भी एक महान् सांस्कृतिक क्रांति के युग का समारंभ बनकर उदय हुआ था। इसलिए छायावाद में हमें राष्ट्रीय जागरण के मुखर गीतों के अतिरिक्त मानवीय जागरण के गंभीर स्वप्न-मौन संवेदन भरे स्वर तथा धरती के जनजागरण के संघर्ष मुखर विद्रोह भरे स्वर भी एक साथ सुनने को मिलते हैं। प्रगतिशील कविता वास्तव में छायावाद की ही एक धारा है। दोनों के स्वरों में जागरण का उदात्त भाव मिलता है-- एक में मानवीय जागरण का, दूसरे में लोक जागरण का। दोनों की जीवन दृष्टि में व्यापकता रही है, --एक में सत्य के अन्वेषण या जिज्ञासा की, दूसरे में यथार्थ की खोज या बोध की। दोनों ही वैयक्तिक क्षुद्र अहंता को अतिक्रम कर प्रवाहित हुई हैं, एक

ऊपर की ओर, दूसरी विस्तृत धरातल की ओर। दोनों ही क्षमतापूर्ण रही हैं--एक अंतर-गांभीर्य की, दूसरी सामाजिक गति की शक्ति से।

छायावाद के रूप-विन्यास में कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंग्रेज़ी कवियों का प्रभाव पड़ा। भावना में महात्मा जी के सांस्कृतिक व्यक्तित्व तथा युग-संघर्ष की आशा-निराशा का और विचार दर्शन में विश्ववाद, सर्वात्मवाद तथा विकासवाद का, जो आगे चलकर, धीरे-धीरे, अधिक वास्तविक भूमि पर उतरकर जन-भूवाद तथा नव-मानववाद में परिणत हो गए। विश्ववाद आदि का प्रभाव छायावादी कवियों ने आरंभ में मुख्यत: कवीन्द्र रवीन्द्र तथा अंशत: शेली आदि अग्रेज़ी कवियों से ग्रहण किया। रवीन्द्रनाथ का युग विशिष्ट व्यक्तिवाद तथा व्यक्तित्ववाद का युग था। कवीन्द्र विश्व-भावना तथा लोकमंगल को विशिष्ट मानव व्यक्तित्व का अंग बनाकर ही अपने साहित्य में दे सके। जन सामाजिकता तथा सामूहिक व्यक्तित्व की कल्पना उनके युग की विचार-सरणि का अंग नहीं बन सकी थी। यंत्र युग के मध्यवर्गीय सौन्दर्यबोध से उनका काव्य ओतप्रोत है, किन्तु यंत्र-युग की जनवादी सौन्दर्य भावना का उदय, तब अपने देश के साहित्य में नहीं हो सका था। जनवादी भावना के विपरीत रवीन्द्र के विचार दर्शन में यत्रों के प्रति विरोध की भावना मिलती हैं, जो मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति की प्रतिक्रिया मात्र है। श्रीकृष्ण चैतन्य एवं वैश्ववाद उनकी रचनाओं में आधुनिक रूप धारणकर सर्वात्मवाद बनकर निखरे हैं। सांस्कृतिक धरातल पर उन्होंने वसुधैव कुटुम्बकम् की भारतीय भावना का समन्वय मनोविज्ञान, विकासवाद तथा नृतत्वशास्त्र की दिशा में किया है।

कवीन्द्र महान् प्रतिभा से संपन्न होकर आए थे। उन्होंने अपने युग की समस्त जागरण की शक्तियों का मननकर उनके प्राणपद तथा स्वास्थ्यकर सार तत्वों का संग्रह अपने अंतर में कर लिया था और अनेक छंदों, तालों तथा लयों में अपनी मर्मस्पर्शी वाणी को नित्य नवीन रूप देकर रूढ़िग्रस्त भारतीय चेतना को अपने स्वर के तीव्र मधुर आघातों से जाग्रत्, विमुक्त तथा विमुग्ध कर, उसे एक नवीन आकांक्षा के सौन्दर्य तथा नवीन आशा के स्वप्नों से मंडित कर दिया था। भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को उन्होंने पश्चिम के यंत्रयुग के सौन्दर्य से मंडित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों के लिए समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन युग की आत्मा के अनुकूल स्वर-झंकृति प्रस्तुत कर कवीन्द्र रवीन्द्र ने एक नवीन सौन्दर्यबोध का झरोखा भी कल्पनाशील युवक साहित्यकारों के हृदय में खोल दिया था।

इन्हीं आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सौन्दर्य बोध संबंधी भावनाओं से हिन्दी में छायावादी युग के कवि भी प्रभावित हुए, किन्तु उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गई, उनके काव्य-पदार्थ का भी उसी अनुपात में रूपांतर होता गया। वे सूक्ष्म से स्थूल की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, भाव से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद

आदि से भूवाद, जनवाद, मानवतावाद की ओर अग्रसर होते गए। कुछ ने लेखन स्थगित कर दिया, किन्तु अधिकांश लेखकों को विचारों की दृष्टि से, युग की पृष्ठभूमि ने किसी न किसी रूप तथा परिमाण में अवश्य प्रभावित किया है। सत्य की खोज में उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युग परिवेश, सामाजिक वातावरण तथा वैयक्तिक सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी। छायावादी कविता केवल रवीन्द्र काव्य की प्रतिध्वनि ही नहीं रही, उसने अपने युग-जीवन की शक्तियों से स्वतंत्र रूप से प्रेरणा ग्रहण की।

छायावाद का विकास प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्यवर्ती काल में हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रायः सर्वत्र ही युग की वास्तविकता के प्रति मनुष्य की धारणा बदल गई। छायावाद ने जो नवीन सौन्दर्यबोध, जो आशा-आकांक्षाओं का वैभव, जो विचार सामंजस्य तथा समन्वय प्रदान किया था, वह पूँजीवादी युग की विकसित परिस्थितियों की वास्तविकता पर आधारित था। मानव-चेतना तब युग की बदलती हुई कठोर मनोभूमि पर ही प्रतिष्ठित थी, किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद वह सर्व धर्म समन्वय, सांस्कृतिक समन्वय, ससीम-असीम तथा इहलोक ने परलोक संबंधी समन्वय की अमूर्त भावना अपर्याप्त लगने लगी, जिससे छायावाद ने प्रारंभिक प्रेरणा ग्रहण की थी। अनेक कवि तथा कलाकारों की सृजन कल्पना इस प्रकार के कोरे मानसिक समाधानों से विरक्त होकर अधिक वास्तविकता तथा भौतिक धरातल पर उतर आई और मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित होकर प्रगतिवाद के नाम से एक नवीन काव्य चेतना को जन्म देने में संलग्न हो गई। जिस प्रकार मार्क्स के भौतिकवाद ने अर्थनीति तथा राजनीति संबंधी दृष्टिकोणों को प्रभावित किया, उसी प्रकार फ्रायड, युंग आदि पश्चिम के मनोविश्लेषकों ने रागवृत्ति संबंधी नैतिक दृष्टिकोण में एक महान् क्रांति उपस्थित कर दी। फलतः छायावादी युग के सूक्ष्म आध्यात्मिक तथा नैतिक विश्वासों के प्रति संदिग्ध होकर तथा पश्चिम की भौतिक तथा जैवी विचारधाराओं से अधिक या कम मात्राओं में प्रभावित होकर अनेक प्रगतिवादी, प्रयोगवादी, प्रतीकवादी कलाकार अपने हृदय के विक्षोभ तथा कुंठित आशाकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए संक्रांतिकाल की बदलती हुई वास्तविकता से प्रेरणा ग्रहण करने लगे।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य-भावना ने एक और आत्माभिव्यक्ति की पगडंडी पकड़ी, जो पीछे स्वतंत्ररूप धारण करने पर प्रयोगवादी कविता कहलाई। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य-धारा मार्क्सवाद एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तर्क-वितर्कों में फँसकर एक किमाकर यांत्रिक सामूहिकता की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर, स्वर संगतिहीन भावना लहरियों में मुखरित,

अवचेतन की रुद्ध ग्रंथियों को मुक्त करती हुई एवं दमित कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई, लोक-चेतना के स्त्रोत में द्वीप की तरह प्रकट होकर, अपने पृथक् अस्तित्व पर अडिग जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमें टेकनीक की सूक्ष्मता बन गई, छायावादी शब्द-वैचित्र्य इसमें उक्ति-वैचित्र्य और उसके शाश्वत दृष्टिकोण का स्थायित्व क्षणिक का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा संदेहवादिता के कारण इसकी सौन्दर्य भावना अपने निम्न स्तर पर केंचुओं-घोंघों के सरीसृप जगत् से अनुप्रमाणित रही, जो वास्तव में पश्चिम की आधुनिकतम ह्रासोन्मुखी संस्कृति तथा साहित्य का प्रभाव है। इस प्रकार छायावाद के अंतर्गत उसकी जीवन सौन्दर्यवादी काव्य-धारा आज अपनी अतिवैयक्तिक उपचेतन ग्रस्त भावना, आत्मदया, पीड़ित अहंता तथा रुपकारिता एवं साज-सँवार संबंधी अति आग्रह के कारण प्रयोगवाद के रूप में विकीर्ण हो रही है। उसमें अब वह मानववादी व्यापकता, उदात्तता, वह अंतःस्पर्शी अंतर्भेदी दृष्टि की गहराई, वह लोकाभ्युदय की अभीप्सा तथा जागरण के संदेश का प्रकाश नहीं देखने को मिलता। उसमें उर्दू शायरी की सी बारीकियों, रीतिकालीन स्वैरैक्यपूर्ण चित्रणों, अत्युक्तियों, भेदोपभेदों की विचित्रताओं तथा सस्ती अहंजन्य अपसाधारणताओं के कारण सभी ओर से ह्रास के चिह्न प्रकट होने लगे हैं।

नई कविता इन दोषों से कुछ हद तक अपने को मुक्त कर सकी है, पर वह अधिकतर 'कला के लिए कला' वाले सौन्दर्यवादी सिद्धांत की प्रतिध्वनि मात्र रह गई है। भाव पक्ष को वह वैयक्तिक निधि या संपत्ति मानती हैं। भावना की उदात्तता, सार्वजनिक उपयोगिता एवं अर्थगांभीर्य की ओर वह अधिक आकृष्ट नहीं। भावों एवं मान्यताओं की दृष्टि से वह अभी अपरिपक्व, अनुभवहीन तथा अमूर्त ही है। वह अपने चारों ओर की परिस्थितियों के अँधेरे तथा मानसिकता के कुहासे में कुछ टटोल भर रही है। सत्य से अधिक उसकी आस्था क्षण के बदलते हुए यथार्थ ही में है और टटोलने के ही भावुक सुख-दुःख भरे प्रयत्न को वह अधिक महत्व देती है। लक्ष्य से अधिक मूल्य वह लक्ष्य के अनुसंधान की व्यथा को देती है। इसी से उसके मानस में रस का संचार होता है, जो उसकी किशोर प्रवृत्ति है। ऐसा भाव या वस्तु सत्य, जिसका मानव-जीवन के कल्याण के लिए उपयोग हो सके उसे नहीं रुचता। वह उसकी काव्यगत मान्यताओं के भीतर समा भी नहीं सकता। --वह तो साधारणीकरण की ओर बढ़ता हुआ, उसे विशेषीकरण से मोह है। वह प्रतीकों, बिम्बों, शैलियों और विधाओं को जन्म दे रही है, वह अति वैयक्तिक रुचियों की तथ्य शून्य तथा आत्ममुग्ध कविता है। आज जो एक सर्वदेशीय संस्कृति, विश्व मानवता आदि का प्रश्न साहित्य के सम्मुख है, उसकी ओर उसका रुझान नहीं। उसकी मानवता वैयक्तिक और कुछ अर्थों में अति वैयक्तिक मानवता है। सामाजिक दृष्टि से वह समाजीकरण के विरोध में आत्मरक्षा तथा व्यक्तिगत अधिकारों के प्रति सचेष्ट तथा सन्नद्ध मानवता है।

छंदों की दृष्टि से नई कविता ने किसी प्रकार के महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रयोग नहीं किए हैं। अधिकतर छंदों का अंचल छोड़कर तथा शब्दलय को न सँभाल सकने के कारण वह अर्थलय अथवा भावलय की खोज में लयहीन, स्वरसंगतिहीन गद्यबद्ध पंक्तियों को काव्य के लिबास में उपस्थित कर रही है, जो बहुधा भावाभिव्यक्ति को सहायता पहुँचाने में असमर्थ प्रतीत होती है। रूप और भावपक्ष की अपरिपक्वता के कारण अथवा तत्संबंधी दुर्बलता को छिपाने के लिए वह शैलीगत शिल्प को ही अधिक महत्त्व देती है और व्यक्तिगत होने के कारण शैली एक ऐसी वस्तु है कि उसकी दुहाई देकर कृतिकार कुछ अशों तक सदैव अपनी रक्षा कर सकता है।

छायावाद ने हिन्दी छंदों की प्रचलित प्रणाली को आमूल बदल दिया था। आमूल शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ कि छायावादी कवियों ने छंदों में मात्राओं से अधिक महत्त्व उनके प्रसार तथा स्वर-संगति को दिया। उन्होंने कई प्रचलित छंदों को अपनाते हुए भी, उनके पिटे-पिटाए यति-गति से बँधे रूप को को स्वीकार न कर, उनमें प्रसार की दृष्टि से नए प्रयोग कर दिखाए। स्वर-संगीत का भी उनकी कविताओं में अद्‌भुत चमत्कार मिलता है। इन कारणों से छंद उनके हाथों से बिलकुल नए होकर निखरे। वैसे एक ही रचना में कम अधिक मात्राओं की पंक्तियों का उपयोग कर उन्होंने गति तथा लय वैचित्र्य की सृष्टि तो की ही--जिसे आज नए कवि भी महत्व देते हैं- पर उससे भी अधिक छंद सृष्टि को उनकी देन रही है— स्वर-संगीत संबंधी वैचित्र्य की। मात्रिक तथा लय छंदों के अतिरिक्त छायावाद युग में आलोपोचित, अक्षर मात्रिक मुक्त छंदों का भी बहुतायत से प्रयोग हुआ है। आधुनिकतम कविता में, मुक्त छंदों में, प्रायः अधिक बिखराव आ जाने के कारण वे गद्यवत् तथा विशृंखल लगते हैं। छंदों के अतिरिक्त छायावाद युग में अलंकरण संबंधी. रूढ़िगत दृष्टिकोण में भी भारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। उपमा रूपक आदि के रहते हुए भी उनकी रीति-कालीन एक-स्वरता तथा द्विवेदी युगीन समस्वरता में नवीन सौन्दर्य के लक्षण प्रकट हुए और शब्दालंकार केवल प्रसाधन तथा सामंजस्य द्योतक उपकरण न रहकर, भावों की अभिव्यक्ति में घुलमिलकर, उसका अनिवार्य अंग हो गए तथा अधिक मार्मिक एवं परिपूर्ण होकर नवीन सौन्दर्य के प्रतीक बन गए? सौन्दर्यबोध--जो रूपविधान और भावबोध दोनों का प्रतिनिधित्व करता है--वह, जैसे छायावादी युग की सर्वोपरि देन है, जिसने हमारे रूढ़ि-रीतियों के ढाँचे में बँधे हुए इतिवृत्तात्मक जीवन के विवर्ण मुख के विषाद की निष्प्रभ छाया उठाकर उस पर नवीन मोहिनी डाल दी।

छायावादी काव्य चेतना का संघर्ष मुख्यतः मध्ययुगीन निर्मम, निर्जीव जीवन परिपाटियों से था, जो कुरूप छाया तथा घिनौनी काई की तरह युग मानस के दर्पण पर छाई हुई थीं और क्षुद्र जटिल नैतिक सांप्रदायिकता के रूप में आकाश लता की तरह लिपटकर मन में

आतंक जमाए हुए थीं। दूसरा संघर्ष छायावादी चेतना का था, उपनिषदों के दर्शन के पुनर्जागरण के युग में उनका ठीक-ठीक अभिप्राय ग्रहण करने का। ब्रह्म, आत्मा, प्राण, विद्या, शाश्वत, अनंत, क्षर, अक्षर, सत्य आदि मूल्यों एवं प्रतीकों के अर्थ समझ कर, उन्हें युग-मानस का उपयोगी अंग बनाना और बिठाना,-- ये सब अत्यंत गंभीर और आवश्यक समस्याएँ थीं, जिनकी भूलभुलैयाँ से बाहर निकल, कृतिकार को, मुक्त रूप से सृजन कर तथा सदियों से निष्क्रिय, विषण्ण एवं जीवन विमुख लोक-मानस को आशा, सौन्दर्य, जीवन, प्रेम, श्रद्धा, आस्था आदि का भाव काव्य देकर, उसमें नया प्रकाश उड़ेलना था। छायावाद मुख्यत: प्रेरणा का काव्य रहा और इसीलिए वह कल्पना प्रधान भी रहा। कल्पना का, पलायन से भिन्न, उच्च अर्थ में प्रयोग छायावादी काव्य में ही हो सका है। वह भीतर की वास्तविकता से उलझा रहा। उसने व्यक्तिगत रुचि-विमूढ़ मानव भावनाओं को वाणी न देकर युग के व्यक्तित्व तथा व्यापक मनुष्यत्व का निर्माण करने का प्रयत्न किया।

छायावादी छंदों में आत्मन्वेषण की शांत, स्निग्ध अंत: स्वरसंगति है, जो अपने दुर्बल क्षणों में प्रेरणाशून्य, कोरा कोमल पद लालित्य बनकर रह जाती है। प्रगतिवादी छंदों में सामूहिक आंदोलन का जागरण कोलाहल तथा स्पंदन कंपन है, जो अधिकतर खोखली हुंकार तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाता है। प्रयोगवादी छंदों में एक नींद भरी करुण स्वप्न मर्मर है, जो प्राय: आत्मदया एवं आत्मव्यथा में द्रवित होकर उच्छ्वासों की निरर्थक सिसकियों में डूब जाता है। छायावादी प्रेम-काव्य सौन्दर्य-भावना प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय-काव्य राग-मूलक। अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा है, प्रगतिवाद एक नवीन वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी अहंता तथा रुग्ण कुंठा को। काव्य की ये तीनों धाराएँ, आज की युगचेतना के ऊर्ध्व, व्यापक, गहन संचरणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं और तीनों अभिन्न रूप से संपृक्त हैं।

मैंने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद की उप-शाखाओं के रूप में इसलिए माना है कि मूलत: ये तीनों धाराएँ एक ही युग-चेतना अथवा युग-सत्य से अनुप्राणित हुई हैं। उनके रूपविधान तथा भावना-सौष्ठव में कोई विशेष अंतर नहीं और अपने विचार दर्शन में भी वे भविष्य में एक दूसरे के निकट आ जाएँगी। ये तीनों धाराएँ एक दूसरे की पूरक है। आज के संघर्ष निरत विकासकामी युग में हम मानव-जीवन में एक नवीन संतुलन चाहते हैं। अपनी वैयक्तिक और सामाजिक धारणाओं में नवीन समन्वय चाहते हैं। अपने भीतर के सत्य और बाहर के यथार्थ को परस्पर सन्निकट लाना चाहते हैं। अपनी रागात्मक वृत्ति (प्रेय) तथा लोक जीवन के प्रति अपने उत्तरदायित्व (श्रेय) में नया सामंजस्य चाहते हैं। हमारी यही मूलगत आकांक्षाएँ आज हमारे साहित्य में विभिन्न अनुरंजनाओं तथा अतिरंजनाओं के साथ अभिव्यक्ति पा रही हैं। इस प्रकार जिस काव्य

संचरण का समारंभ अपने विशिष्ट भावनात्मक दृष्टिकोण तथा अमूर्त रूप शिल्प के कारण छायावाद के नाम से प्रसिद्ध हुआ उसकी मैं भविष्य में अनेक रूपों में नवीन संभावनाएँ देखता हूँ। वह हमारे विकासशील युग की भाव, विचार तथा सौन्दर्य संपदा को और विकसित मानव मूल्यों के बहिरंतर के वैभव को पूर्णतम अभिव्यक्ति देने में सफल तथा समर्थ हो सकेगा।

चरण-चिह्न

धरती के जीवन से भगवत् सत्ता को पृथक् कर, लोक मानवता के बदले किसी कल्पना या सिद्धि के मनःस्वर्ग में, ध्यान धारणा के शिखर, ईश्वर साक्षात्कार की भावना को सीमित करना, भविष्य की दृष्टि से, मुझे कृत्रिम और अस्वाभाविक लगता है। इससे मानव जीवन का हित होने के बदले उसकी उपेक्षा एवं अहित ही हुआ है। एक ही अखंड सत्य की सत्ता पारलौकिक ऐहिक रूपों में विभक्त हो गई है। मध्ययुग की समस्त नैतिकता और सदाचार के मानदंड तथा भगवत् संबंधी ज्ञान, आध्यात्मिक मान्यताएँ और विचारधाराएँ इसका उदाहरण हैं। भौतिक आध्यात्मिक संचरणों का परस्पर विरोधी समझे जाने का भी यही कारण है, क्योंकि समतल जीवन की उपेक्षा के कारण ऊर्ध्व के साथ उसका संयोजन नहीं किया जा सका। यह सच होने पर भी, हमें मध्ययुगीन विचारकों, दार्शनिकों, संतों तथा कवियों के प्रति कृतज्ञ रहना चाहिए, जिन्होंने उस घोर सांस्कृतिक विघटन, ह्रास के कुहा से, जीवन नैराश्य तथा धरती के अंधकार से निरंतर संघर्ष कर हमारे भीतर किसी न किसी रूप में, सत्य की ज्योति को प्रज्वलित रखा है, किन्तु नवीन युग को इस जड़ धरती के जीवन को ही उच्च विकास की उपयुक्त पीठिका बनाना है। विज्ञान और धर्म को भविष्य में नव मानवता के रूप में संयोजित होना है

ईश्वर के संग विचरे मानव भू पर,
अन्य न जीवन परिणति।

हमारी अनेक ऊर्ध्व (आध्यात्मिक) मान्यताएँ इसलिए भी रहस्य में खोई हुई आकाश कुसुम-सी लगती हैं कि वे समदिक् लौकिक जीवन से विच्छिन्न तथा असंयोजित रहने के कारण उच्च सिद्धांतों के सूक्ष्म धरातल पर भी ठीक से ग्रहण नहीं की जा सकी हैं। इसलिए, एक दृष्टि से, पुरानी दुनिया का अध्यात्म तथा ईश्वर बोध, अधिकतर कल्पना ही में लिपटा हुआ रह गया है। मेरी दृष्टि में भू-जीवन को भगवत् जीवन बनाने के लिए हमें कहीं ऊपर नहीं खो जाना है, प्रत्युत् जीवन आकांक्षाओं का पुनर्मूल्यांकन कर विगत मूल्यों को अधिक व्यापक बनाना है। निश्चय ही जो आध्यात्मिकता मानव जीवन के रक्तमांस के उपादानों का बहिष्कार या अवहेलना कर किसी उच्च जीवन की कल्पना करती है, वह जीवन-मंगल की द्योतक नहीं हो सकती। मुझे यह अनुभूति *युगवाणी-ग्राम्या* काल ही में

हो चुकी थी। *युगवाणी* की *मानव पशु, जीवन तम, राग, रागसाधना* तथा *जीवन मांस* आदि रचनाएँ मेरी इसी अनुभव की द्योतक हैं। "ईश्वर है यह मांसपूर्ण यह!" या "रूपमांस है अमर प्रकाश!" कहकर मैंने 'युगवाणी' में रूप-मांस अर्थात् संस्कृति शुद्ध जीवन ही को भगवत् प्रकाश का मूर्त उपादान बतलाया है।

जैसा कि ऊपर कह चुका हूँ, मैं आध्यात्मिकता के विकास को सामाजिक जीवन से पृथक्, वैराग्य के स्फटिक शीत मंदिर में रहकर, संभव नहीं मानता। वह तो पुरानी आध्यात्मिकता है, जिसने भगवत् चेतना को जीवन में प्रतिष्ठित करने के बदले "भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा:" कहकर, अंतरतम में उसके अमृत प्रकाश का स्पर्श पाकर, संतोष कर लिया। जगत या सृष्टि के मूल में जो ईश्वर या भागवत चेतना है, उसे विकास क्रम में मनुष्य के सामाजिक जीवन एवं विश्व जीवन में मूर्त होना ही चाहिए; यही मेरी दृष्टि में मात्र भागवत साक्षात्कार है—ईश्वत्व को जीवन की वास्तविकता प्रदान करना और सब चाहे भले ही ईश्वर बोध हो। भगवत् साक्षात्कार मेरे चेतना-काव्य में एक लंबी विकासशील सामाजिक प्रणाली है। दूसरा यह कि इंद्रिय जीवन और भागवत जीवन में विरोध मानना, मेरी दृष्टि में, भ्रम है। संस्कृत संतुलित इंद्रिय जीवन ही में—जो अंतत: सामूहिक या सामाजिक स्तर पर ही पूर्णत: संभव हो सकता है—केवल भागवत् जीवन का साक्षात्कार किया जा सकता है। उपनिषदों का "स प्रत्यागाच्छुक्रमकायमव्रणं" ब्रह्म सत्य है; वह जीवन-चेतना का अंतरतम या ऊर्ध्वतम, सूक्ष्मात्पर, शाश्वत, अतिचेतन स्तर है, किन्तु पदार्थ, प्राण और मन की भूमिका का परित्याग कर उसे प्राप्त करने या आत्मयुक्ति के अनुसंधान में उसकी ओर जाने का प्रश्न मध्ययुगीन ध्येय या आदर्श का प्रश्न रहा है। हमारा युग-सत्य है जगत जीवन और भू-क्षेत्र को ही ब्रह्म की मूर्तिमान वास्तविकता में परिणत करना। ऐसे अंत: संगठित जीवन में नि:संदेह राग द्वेष, लोभ-मोह, क्रोध-अहंकार आदि की उपयोगिता नहीं रहेगी, जो कि विकास पथ के स्थूल और क्रूर साधन रहे हैं और रागवृत्ति भी परिष्कृत होकर आनंद, सौन्दर्य, प्रेम, शांति और सहज व्यापक पवित्रता में परिणत हो जाएगी। जिस सीमित नैतिक या धार्मिक अर्थ में पवित्रता का प्रयोग होकर मन में पवित्रता का उद्रेक करेगा—पवित्रता के अर्थ में अधिक घनत्व तथा वास्तविकता आ जाएगी। जैसा मैंने *ज्योत्स्ना* में भी प्रतिपादित किया है, आनंद, सौन्दर्य, प्रेम, शांति आदि उस सृजन चेतना के मौलिक मूलभूत गुण हैं, जो सृष्टितत्व में अभिव्यक्त हुई है और मानव-जगत को उसी सत्य का दर्पण बनाना है। यही एकमात्र सभ्यता, संस्कृति तथा धर्मों का अनादिकाल से प्रश्न और लक्ष्य रहा है। इतिहास के उत्थान-पतन तो मानव-समाज के अपने अंत:सत्य के कारण, विकास-क्रम की श्रांति, क्लांति उद्वेग-जनित अश्रुस्वेद-रक्तमय, बाहरी वास्तविकता के छिलके भर हैं।

मेरी प्रेरणा के स्रोत, निस्संदेह मेरे ही भीतर रहे हैं, जिन्हें युग की वास्तविकता ने सींच कर समृद्ध बनाया है। मैंने अपने अंतर के प्रकाश में ही बाह्य प्रभावों को ग्रहण तथा आत्मसात् किया है। मैं अत्यंत विनम्रतापूर्वक अपने समस्त प्रेरकों, शिक्षकों तथा अभिभावकों के प्रति अनन्य हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके संपर्क में आकर मैं कुछ सीख सका हूँ। मैं न दार्शनिक हूँ, न दर्शनज्ञ ही; न मेरा अपना ही कोई दर्शन है और न मुझे यही लगता है कि दर्शन से इस मनुष्य को सत्य की उपलब्धि हो सकती है। ये केवल मेरे कवि-मन के प्रकाश-स्फुरण अथवा भाव-प्ररोह हैं, जिन्हें मैंने अपनी रचनाओं से शब्द-मूर्त करने का प्रयत्न किया है। अपनी भावना तथा कल्पना के पंखों से मैं जिन सौन्दर्य क्षितिजों को छू सका हूँ, वे मुझे दार्शनिक सत्यों से अधिक प्रकाशवान एवं सजीव लगते हैं। दर्शन ग्रंथों तथा महापुरुषों के वचनों में अपनी भावात्मक उपलब्धियों का समर्थन पाकर मैं आश्वस्त हुआ हूँ और मुझे उससे मनोबल भी प्राप्त हुआ है। मेरे काव्य-दर्शन की कुंजी निश्चय ही *ज्योत्स्ना* में है। उसी के भौतिक संचरण का विकास मेरे मन में मार्क्सवाद के ज्ञान से हुआ, जिससे मैं अपनी भौतिक जीवन संबंधी धारणा को व्यापकता, शब्दार्थ संगति तथा वैज्ञानिक रूप दे सका। *ज्योत्स्ना* का चेतनात्मक संचरण मेरी उत्तर रचनाओं में पूर्व-पश्चिम के दर्शनों तथा विचारधाराओं के अध्ययन-मनन तथा गाँधी जी और श्री अरविन्द के महत् संपर्क में आने से प्रस्फुटित तथा विकसित हुआ है। सामूहिक जीवन-निर्माण के लिए गाँधी जी का सक्रिय अहिंसा का सांस्कृतिक राजस दान नव मानवता के अमूल्य उपादानों में रहेगा। *युगांतर* में मैने गाँधी जी को इन शब्दों में स्मरण किया है :

आत्म दान से लोक सत्य को दे नव जीवन
नव संस्कृति की शिला रख गए भू पर चेतन!
आओ, उसकी अक्षय स्मृति की नींव बनाएँ
उस पर संस्कृति का लोकोत्तर भवन उठाएँ।
स्वर्ण शुभ्र धर सत्य कलश स्वर्गोच्च शिखर पर
विश्व प्रेम में खोल अहिंसा के गवाक्ष वर।

वाणी में श्री अरविन्द को नव युग सारथि के रूप में मैंने इस प्रकार श्रद्धांजलि दी

सारथि श्री अरविन्द रहे तब ऐसे भगवत् द्रष्टा भू पर
विश्व ग्लानि कर गए विलय जो अति मानस से धर्म हानि भर!
प्रातः रवि सा स्फुरत् रश्मि स्मित था भगवत् चैतन्य तपोज्ज्वल
भू मानस में पूर्ण प्रस्फुटित अंतः स्वर्णिम हो सहस्रदल!

मैंने अपनी काव्य चेतना में अन्न प्राण मन के विकसित, संस्कृत जीवन से विच्छिन्न

किसी उच्च जीवन की कल्पना को स्वीकार नहीं किया है। एक तो वह लोक-जीवन एवं सामाजिकता की दृष्टि से संभव नहीं, दूसरा वह इंद्रिय संस्कारों की परिणति को, उनकी मौलिक चेतनाओं की क्रियाओं को अग्राह्य कर, संभव बतलाती है। मुझे उन्नत इंद्रिय जीवन अदिव्य तथा अपावन नहीं लगता है, भागवत् चेतना ही इंद्रियों में प्ररोहित प्रतीत होती है! इस भावना को मैंने अनेक रूप से व्यक्त किया है :

मैं उपकृत इंद्रियों, रूप रस गंध स्पर्श स्वर,
लीला द्वार खुले अनंत के बाहर भीतर;
अप्सरियों से दीपित सुरधनुओं के अंबर;
निज असीम शोभाओं से तुम पर न्योछावर!

आत्म मुक्ति के लिए क्या अमित यह ग्रह ग्रथित रंग भव सर्जित
प्रकृति इंद्रियों का दे वैभव, मानव तप कर मुक्त बने नित!
नहीं संत कुल हुआ संत रे, जीव प्रकृति के सब जन निश्चित,
लोक मुक्ति ही ध्येय प्रकृति का, मनुज करे जग जीवन निर्मित!

मैं पूर्ण विकसित लोक जीवन के ही रूप में, मुख्यत: भगवत् सत्ता या चेतना का मूर्त विकास संभव मानता हूँ। महापुरुषों, सिद्धों, योगियों तथा विशिष्ट व्यक्तियों में भी भगवत्-चेतना के विशेष रूपों तथा गुणों की पूर्ण या आंशिक अभिव्यक्ति हो सकती है और वह सामूहिक उपलब्धि के स्तर से, एक प्रकार से, अधिक सूक्ष्म, उच्च और पूर्ण भी हो सकती है, पर मैंने इस युग में अधिक महत्व भू-जीवन की उन्नत मंगल रचना को ही देना उचित समझा है, जिसमें व्यापक से व्यापक अर्थ में भागवत गुणों का अवतरण एवं भागवत वास्तविकता का साक्षात्कार संभव हो सकता है। *ज्योत्स्ना* के अंतिम दृश्य में, नव युग प्रभात के रूप में, मैंने, भू-जीवन के स्तर पर, नवीन चेतना के इसी सत्य की परिणति दिखलाई है। मैं अब भी यही सोचता हूँ कि समस्त ज्ञान-विज्ञान, अर्थ तंत्र आदि का संचय एवं उपयोग नव मानवता के लिए धरा-स्वर्ग की शुभ रचना करने ही में सार्थकता प्राप्त कर सकता है। मात्र सैद्धांतिक शुभ से रचना-शुभ अधिक वास्तविक तथा संपूर्ण है; उसी में एक मात्र अनंत पीढ़ियों में व्याप्त मानव जीवन के अमरत्व की चरितार्थता है। यह जैसे आँख खोलकर ईश्वर का ध्यान अथवा भगवत् सत्ता का साक्षात्कार करना है। निश्चय ही, इंद्रियगोचर होने से परात्पर या इंद्रियातीत सीमित नहीं हो जाता, न उसमें अंतर या भेद ही आता है। सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही आंशिक सत्य हैं, उनसे पूर्ण सत्य है सूक्ष्म-स्थूल का सामंजस्य। आज तो अंतर्दृष्टि या ऊर्ध्व स्तर का सत्य है, कल वह बहिर्दृष्टि के समतल पर भी सुलभ हो सकेगा।

ऐसा अवश्य है कि वर्तमान विकास की स्थिति में, विशेष ज्ञान संस्थानों तथा आश्रमों में, हमें विशिष्ट उच्चतम मान्यताओं के आधार पर, अंतर्मन तथा अंतर्जीवन के संगठन-संयोजन के लिए, ऊर्ध्वतम आध्यात्मिक साधना की आवश्यकता पड़ेगी, जहाँ हम भागवत करुणा के संपर्क में आकर अंतश्चेतन के आलोक तथा अंतर्वैज्ञानिक सिद्धियों के द्वारा लोक-जीवन के विकास पक्ष की बाधाओं तथा व्यवधानों को हटाने, मानस ग्रंथियों को सुलझाने एवं विश्व जीवन का उन्नयन करने में सफल हो सकेंगे। ऐसे तपोवन तथा साधना-द्वार हमारे देश की विशेषता रहे हैं। वे सदैव हमारी श्रद्धा भक्ति के पवित्र पथ-प्रदर्शक केन्द्र और हमारी चेतना विषयक उच्च प्रयोगशालाएँ रहेंगे, जहाँ से हमें शांति, पवित्रता, आनंद, भगवत् प्रेम, आलोक, कल्याण, सद्भावनाओं तथा सद्विचारों का अक्षय दान प्राप्त होता रहेगा। जैसा मैंने *उत्तरा* की भूमिका में लिखा है, हमारा देश अंतर्जगत् का सिद्ध वैज्ञानिक है। मुझे गंगा तट पर, जो भस्म रमाए हुए, जटाधारी साधु, एक हाथ ऊपर उठाए, या लोहे की प्रखर शलाकाओं पर लेटे मिलते हैं, उन्हें भी मेरा मन अपने देश के देह-मन के सत्य संबंधी प्रयोक्ताओं के ही रूप में देखता है, जिसकी उपलब्धि हम अब अधिक श्रेष्ठ साधनों से कर सकते हैं। ऐसे अनेक प्रकार के साधुओं के संप्रदाय आज प्राचीन प्रांरभिक पद्धतियों के अवशिष्ट स्मृति चिह्न तथा ''उदर निमित्तं बहुकृत वेशः'', आदिम पाखंड मात्र रह गए हैं।

आज के संघर्ष और संहार के युग में मेरे उपर्युक्त विचार तथा मान्यताएँ आधुनिक यथार्थवादियों को स्वप्न-कल्पित अतिरंजनाएँ मात्र प्रतीत हो सकती हैं, किन्तु आज के पक्षधर आलोचकों की यथार्थवाद की धारणाओं पर तथा पूर्वग्रहों में खंडित और विभक्त पाठकों की रुचियों के निर्णयों पर निर्भर रहकर मेरे जैसा 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरं' अल्पमति कवि सृजन कर्म नहीं कर सकता। उसे नवीन मानवता के प्रति श्रद्धा तथा भगवत् करुणा पर विश्वास रखकर अपनी अंतरतम अनुभूतियों, प्रेरणाओं एवं प्रकाश पर ही अवलंबित रहना पड़ेगा। वर्तमान के संघर्ष और संहार की विभीषिका से भी अधिक महत् तथा शक्तिमय जो अमृतत्व का सागर आज संवेदनशील हृदयों के भीतर नवीन चेतना ज्वारों में उठकर मानव अंतर के नव जीवन बोध के स्तरों को स्पर्श कर रहा है, उसका मंगल संदेश कैसे भुलाया जा सकता है? आज के भू-व्यापी संघर्ष, विरोध, अनास्था, निराशा, विषाद तथा संहार की यही वास्तविकता है कि वह मानव समाज को नवीन मान्यताओं के क्षितिजों, नवीन जीवन-बोध के धरातलों तथा महत्तर सामंजस्य की भूमिकाओं की ओर अग्रसर कर रहा है। निस्संदेह, अकल्पनीय सिद्धियों तथा महान् विनिमयों का है हमारा युग। आज के विज्ञान, दर्शन और सृजन-प्रेरणा का श्रेय उसी को है।

इस युग के विक्षोभ का मुख्य कारण है मानव.जीवन के ऊर्ध्व तथा समतल संचरणों

में सामंजस्य अथवा संतुलन का अभाव। आज हमें भूत-अध्यात्म, यथार्थ-आदर्श संबंधी अपनी पिछली धारणाओं को अधिक व्यापक बनाकर उन्हें एक दूसरे के निकट लाना है। यथार्थ अथवा आदर्श के व्यापक सत्य के बारे में या तो हम मध्ययुगीन अभावों एवं निषेधों के कुहासों के पार न देख पाने के कारण उदासीन हैं या पश्चिम के अंध अनुकरण के कारण बाह्य युग-जीवन के अंधकार में भटक गए हैं। आज के बड़े राष्ट्रों को, जो भू-जीवन के विकास तथा उन्नयन को अवरुद्ध किए हुए हैं, वैज्ञानिक चेतना या मानवीय जीवन यथार्थ का प्रतिभू मानना हमारा भ्रम है। वे अभी धरती की प्राचीन ऐतिहासिक बर्बरता ही का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं और विज्ञान को जीवन-निर्माण तथा मनोविकास का माध्यम बनाने के बदले उसके पंखों के ताप में आणविक डिम्बों एवं विनाश के विस्फोटकों को लेकर, अपनी ऋण-सामर्थ्य का नग्न प्रदर्शन कर रहे हैं। जिस प्रकार कभी भारतवर्ष अपनी आध्यात्मिक शक्ति के सम्मोहन से दिग्भ्रांत हो गया था, उसी प्रकार आज के शिखर-राष्ट्र भौतिक क्षमता से मदोन्मत्त हो विश्व-जीवन एवं मानवता को विनाश की ओर ले जाने की स्पर्धा कर रहे हैं। मुझे मानव-चेतना पर विश्वास है; वह इस अणु संहार के नृशंस हिंस्र नाटक को अवश्य ही नवीन-निर्माण तथा रचना-मंगल की दिशा एवं भूमिका देकर मानवता की प्रगति का द्वार उन्मुक्त कर सकेगी।

जो नवीन प्रकाश मनुष्य के मन: क्षितिज में उदय हो रहा है, उसी के आलोक में नवीन मानवता का निर्माण भविष्य में संभव है। आज की बौनी, खंडित, अपर्याप्त मान्यताओं से सचमुच ही आने वाले मनुष्य का काम नहीं चल सकेगा, चाहे वह चंद्रलोक में रहे या मंगल लोक में। *वाणी* में मैंने प्रश्न किया है :—

चंद्रकलश प्रासाद रचोगे तुम दिग्विस्तृत?
कैसा होगा वहाँ भाव ऐश्वर्य अखंडित?
कैसा नव चैतन्य? मानसी भूति अपरिमित?
कैसा संस्कृत जन जीवन सौन्दर्य अकल्पित?
अणु बम वहाँ बनाएँगे क्या सभ्य शिष्ट नर?
शीत युद्ध से कंपित कर शंकित भू पंजर?

आज के युग का संदेह, अविश्वास, जीवन-संघर्ष, विनाश के साधन, बाहरी-भीतरी क्रांतियाँ-अर्थ शक्ति संचय, ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धियाँ तथा अप्रतिहत साहस इसी महत् निर्माण, विकास तथा मानवता के आमूल रूपांतर के अग्रदूत हैं-इनका कोई दूसरा अर्थ नहीं हो सकता। मनुष्य के अंत:करण में जो अपापबिद्ध, स्वयंशुद्ध, शाश्वत अमृतत्व है, उसकी अन्य क्या सार्थकता या परिणति हो सकती है? मानव जीवन की, युगों के अंधकार एवं नैतिक संकीर्णता की कलंक कालिमा में सनी चेतना की चादर को--जिसे कबीर जतन से ओढ़कर ज्यों की त्यों रख गए थे-नवीन प्रकाश के जल में डुबोकर, उसे

संस्कृति के व्यापक मूल्यों की स्वच्छ शोभा प्रदान कर, हमें सब के ओढ़ने योग्य बनाना होगा। नहीं तो अंतरिक्ष के दीप्त ग्रहों में मन के इस अंधकार को ले जाने से क्या लाभ हो सकता है ? आज के युग का प्रश्न केवल भारतीय या एकदेशीय आध्यात्मिकता या संस्कृति का नया संस्करण प्रस्तुत करना नहीं है, जैसा मध्ययुगों में रहा है, आज समस्त मानवता तथा विश्व-जीवन को एक सक्रिय, जीवनोपयोगी, आध्यात्मिक चेतना तथा सांस्कृतिक पीठिका प्रदान करना है। आने वाला मानव निश्चय ही न पूर्व का होगा, न पश्चिम का। वह देशों (दिशा) की सीमाओं एवं विभेदों को अतिक्रम कर काल के शिखर की ओर आरोहण करने को उत्सुक होगा। आज की बाह्य वास्तविकता की बौनी विकृतियों से मुक्त, उसके भीतर, एक अंतर-वास्तविकता एवं अंतश्चेतना का उदय तथा विकास होगा। वह विज्ञान को अपना उपयुक्त वाहन बना सकेगा। वही, काल के हृदय कमल में स्थित, कालविद्, अत्याधुनिक मानव होगा—जिसे धारणकर धरती सूर्य की परिक्रमा करने में गौरव का अनुभव करेगी। इस मानव को संबोधित कर, "बुद्ध के प्रति" रचना की अंतिम प्रार्थना उद्धृत करता हूँ :

आओ, शांत, कांत, वर, सुंदर, धरो धरा पर स्वर्ण युग चरण।
विचरो नव युग पांथ, बुद्ध बन, जन भू मन करता अभिवादन!
अणु रचना के भूति-मंच पर हो सुखांत मानव युग का रण,
तुमसे नव मनुष्य स्पर्श पा विष हो अमृत, मृत्यु नव जीवन!

अंत में इस भूमिका के रूप में प्रस्तुत अपने विचारों, विश्वासों तथा जीवन मान्यताओं की त्रुटियों एवं कमियों के संबंध में पाठकों से क्षमा प्रार्थना करते हुए, अपनी द्वितीय उत्थान की सृजन चेतना के चरण-चिह्नों को यहीं समय के बालू पर छोड़कर, नवीन रचना भूमिका में प्रवेश करने के उत्साह में, मैं अपने अतीत के इन स्वप्न भार नत संस्मरणों से विदा लेता हूँ :

स्वस्ति, चेतना काव्य के काल,
रजत मानस के स्वर्ण मराल,
रश्मि दीपित कवि भाल!

छायावाद : उद्भव और परिवेश

छायावाद को रोमेण्टिक काव्य तक ही सीमित कर देना उसके मौलिक मूल्य के प्रति आँख मूँद लेना है। वह इस अर्थ में रोमेण्टिक कहा जा सकता है कि उसमें किशोर-विस्मय की भावना या स्वप्न है, उसमें रागात्मक संवेदन, प्रणय-तत्व तथा कल्पना का बाहुल्य और प्रवेग है या वह कला-बोध की दृष्टि से परंपरागत नियमों के कूलों को डुबाकर स्वच्छंद सौन्दर्य अभिव्यंजना की भूमि को ओर अग्रसर होता है, अथवा अभिव्यक्ति की प्रखरता के कारण उसमें कहीं-कहीं विषय वस्तु से अधिक सशक्त तथा प्रमुख शैली अथवा रूपविधान हो गया है, किन्तु छायावाद की कविता में इनसे कहीं अधिक गंभीर निगूढ़ तथा व्यापक तत्वों की प्रधानता है; बल्कि मैं कहूँगा कि छायावाद की मुख्य तथा मध्यवर्तिनी धारा, चित्रमयी अभिव्यंजना आदि रोमेण्टिक प्रवृत्ति न होकर, राष्ट्रीय अंतर्जागरण की चेतना तथा वैश्व विकास के नए मूल्य के रूप-स्पर्श को वाणी देने की ओर गतिशील रही है, जिसने निश्चय ही 'मानवीय-संबोधि' को अपनी अभिव्यक्ति के पावक दोने में भर कर उन्मुक्त-भाव से वितरित किया है और जैसा कि कुछ लोग छायावाद को केवल पूँजीवादी राष्ट्रवादी मध्य-वर्गीय सांस्कृतिक साहित्यिक आंदोलन कहते हैं, वे केवल अपने समाजवादी दर्शन की अपच तथा छायावाद के विकास कामी मानव-मूल्य के प्रति अपना अज्ञान ही प्रदर्शित करते हैं। वास्तव में जैसा कि हम देख रहे हैं, उस युग के आलोचकों के मध्ययुगीन तथा अर्वाचीन पूर्व- ग्रहों के कारण छायावाद की प्राय: सभी व्याख्याएँ तथा परिभाषाएँ अपर्याप्त, एकांगी तथा असंगतिपूर्ण हुई हैं, जिनमें भावात्मक-तत्वों तथा मार्मिक सहानुभूति का एकांत अभाव मिलता है। इसके अतिरिक्त छायावाद में 'तुलसी दास' तथा 'राम की शक्ति पूजा' आदि जैसी उच्च गांभीर्यपूर्ण क्लैसिकल रचनाएँ भी मिलती हैं और उसकी कई जरा-मरण-भयहीन कृतियों को तो धीरे-धीरे क्लैसिक्स की श्रेणी में रखना ही पड़ेगा। छायावादी प्रेम-काव्य को अतृप्त वासना या दमित काम-भावना की अभिव्यक्ति मानना तथा उसे प्रच्छन्न, शृंगार-मूलक रीतिकालीन काव्य का ही, आधुनिक रूप समझना भी आलोचकों की व्यापक दृष्टि के अभाव का ही द्योतक है। तप्त भोग-लालसा से मर्दित, पुष्पों की शय्या पर लेटी, विलुलित केश, स्वेद-सिक्त,नखक्षत अंकित, रीति काव्य की मध्ययुगीन ह्रासोन्मुखी राग-प्रवृत्ति की देह-मूर्त्ति निशाभिसारिका-

नारी कों छायावाद ने गुह्य संकेत-स्थलों से प्रकृति के मुक्त लीला प्रांगण में बाहर निकाल कर, दूतियों की चाटुकारी तथा परकीयत्व के कलंक से मुक्त कर, तथा मध्यवर्गीय कुंजों की सड़ाँध भरे केलि-कर्दम से ऊपर उठाकर, उसके अर्ध-नग्न रूप को अपनी पवित्र भावनाओं के अकलुष सौन्दर्य से मंडितकर, उसे पुरुष के समकक्ष बिठाकर, स्वतंत्र सामाजिक व्यक्तित्व की शील गरिमा प्रदान की है। छायावादी नारी में भारतीय जागरण का नैतिक बल ही नहीं, उसमें विश्व-मानवी का व्यापक सहानुभूति स्वस्थ स्नेह संवेदन भी है। वह घर की देहरी लाँघकर यमुना की कामना की गहराइयों में नीचे और नीचे उतरती हुई सीढ़ियों पर नहीं फिसल पड़ती। वह देह-बोध के परदे से बाहर निकलकर, मध्ययुगीन काम-लाज का गुंठन मुख से हटाकर, सामाजिक दायित्व के प्रति जाग्रत, स्त्री-स्वातन्त्र्य के राजपथ पर नए शील के चरण धरकर आगे बढ़ती है। छायावाद का प्रणय-निवेदन स्वस्थ स्वाभाविक राग-भावना का द्योतक प्रेम-प्रगीत है, वह राधा-माधव के वेष्टनों में निम्न प्रवृत्तियों का उच्छृंखल शृंगार-रस सम्मत, संचारी व्यभिचारी भावों द्वारा व्यक्त, रति-निमंत्रण नहीं है। उसमें स्त्री-पुरुषों की सामाजिक उपयोगिता पर आधारित एक नवीन सांस्कृतिक चेतना का आह्वान मिलता है। जिस प्रकार मिर्च मसालेदार व्यंजनों के प्रेमियों को सात्विक पौष्टिक द्रव्यों से पूर्ण भोजन स्वादहीन लगता है, उसी प्रकार यदि रीतिकालीन पर्वताकार नितंबों तथा स्तनों से टकराने वाले, नेत्रवाणों से आहत, शृंगार रस के प्रेमियों को छायावाद की रस-संस्कृत शोभा-मंडित नारी वायवीय या अशरीर लगती है तो इसमें आश्चर्य नहीं।

छायावाद के प्रवर्तक या जनक के बारे में भी जो युग ने निर्णय दिया है, वह मुझे समीचीन नहीं प्रतीत होता। मेरे विचार में छायावाद की प्रेरणा छायावाद के प्रमुख कवियों को उस युग की चेतना से स्वतंत्र रूप से मिली है। ऐसा नहीं हुआ कि किसी एक कवि ने पहिले उस धारा का प्रवर्तन किया हो और दूसरों ने उसका अनुगमन कर उसके विकास में सहायता दी हो। सामान्यतया छायावाद के प्रवर्त्तक होने का कीर्ति किरीट हमारे अग्रज प्रसाद जी के मस्तक पर रखा जाता है और हम भावना की दृष्टि से उसका आदर करते हैं, पर तथ्य विश्लेषण की दृष्टि से यह उचित नहीं लगता है। शुक्ल जी के अनुसार भी "श्री जयशंकर प्रसाद पहिले ब्रजभाषा में लिखा करते थे, 1923 सन् से वह खड़ी बोली की ओर आए, उनके *कानन कुसुम, प्रेम पथिक* आदि काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए। *कानन कुसुम* में प्राय: उसी ढंग की रचनाएँ हैं, जिस ढंग की द्विवेदी युग में निकलती थीं। सन् 19 में '*झरना* के प्रथम संस्करण की 24 कविताओं में कोई ऐसी विशिष्टता नहीं थी, जिस पर ध्यान जाता।" शुक्ल जी ही के शब्दों में "पीछे 1927 में पुस्तक का स्वरूप ही बदल गया। उसमें आधी से ऊपर 31 नई रचनाएँ जोड़ी गई, जिसमें पूरा रहस्यवाद, अभिव्यंजना का अनूठापन, व्यंजक चित्र विधान, सब कुछ मिल जाता है। *झरना* के द्वितीय संस्करण में

छायावाद कही जाने वाली विशेषताएँ स्फुट रूप में दिखाई पड़ीं। इससे पहिले *पल्लव* बड़ी धूमधाम से निकल चुका था, जिसमें रहस्य भावना तो कहीं-कहीं, पर अप्रस्तुत विधान, चित्रमयी भाषा, और लाक्षणिक वैचित्र्य आदि विशेषताएँ अत्यन्त प्रचुर परिमाण में सर्वत्र दिखाई पड़ी थीं।" मैं अपनी ओर से इसके अतिरिक्त इस ओर भी ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा कि *पल्लव* से पूर्व--जिसका प्रकाशन सन् 26 मई को मेरे जन्म-दिवस पर हुआ था-मेरी प्रायः सभी *पल्लव* में प्रकाशित प्रमुख रचनाएँ दो वर्ष पूर्व से अर्थात् सन' 23 के मध्य से *सरस्वती* में प्रकाशित होने लगी थीं, वैसे मेरी प्रथम लम्बी रचना *स्वप्न* जो पीछे *पल्लव* में निकली, सन् 20 की *सरस्वती* में प्रकाशित हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त *वीणा* नामक प्रगीत संकलन सन् 18-19 में और *ग्रंथि* सन्' 22 के नवंबर मास में प्रकाशित हो चुकी थी। हिन्दी साहित्य कोश के अनुसार सन् 23-24 में 'निराला' जी की रचनाएँ साप्ताहिक मतवाला में धड़ल्ले से निकलने लगी थीं। सन्' 22 में उनका *अनामिका* नामक काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुका था। उनके *परिमल* में भी जिसका प्रकाशन सन्' 29 में हुआ, सन् 23-24 की रचनाएँ संकलित हैं, और 'जूही की कली' तो उनके अनुसार सन्' 16 की रचना है। महादेवी जी का *नीहार* सन् 30 में निकला, किन्तु उन्होंने बहुत पहिले से ही छायावादी कहलाने वाली रचनाएँ लिखना शुरू कर दिया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही समय के आसपास उस युग में व्याप्त वातावरण से, जिसके उच्चतम स्तरों में विश्वचेतना में उदित हो रही नवीन जीवन-मूल्य की प्रभात-किरणें नए उन्मेष का प्रकाश विकीर्ण कर रही थीं और मध्य स्तरों में अंग्रेज़ी कवियों के मशीन-युग के सौन्दर्य-बोध तथा स्वच्छंदता का स्वर्णिम गंध-पराग लिपटा था तथा निचले निकटवर्ती स्तरों में स्वयं राष्ट्रीय जागरण का ओजस्वी शंखनाद छाया हुआ था, प्रायः सभी छायावादी कवियों ने स्वतंत्र रूप से प्रेरणा ग्रहणकर अपने रुचि स्वभाव क्षमता के अनुरूप इस नए काव्य-संचरण को जन्म देकर सँवारा और अनेक प्रकार के काव्योपकरणों का सचंय कर वे उसके विकास की ओर प्रवृत्त हुए। और बहुत सम्भव ही नहीं यह स्वाभाविक भी है कि उन्होंने परस्पर एक दूसरे की रचनाओं की तुलना में अपने-अपने काव्य-बोध को निरख-परख कर उसे अधिक परिपूर्ण बनाने में सहायता ली और इसी से सम्भव है कि प्रसाद जी *झरना* के द्वितीय संस्करण में छायावादी उपादानों की अभिवृद्धि कर सके। सन् 31-32 में *गुंजन* को समाप्त करने के बाद मैं बनारस में प्रसाद जी के ही यहाँ ठहरा था और वहाँ *गुंजन* की कविताओं का पाठ भी अनेक बार हुआ था। उसके बाद *आँसू* के दूसरे संस्करण में मैं देखता हूँ कि मेरी 'चाँदनी' की कुछ कल्पनाओं तथा बिम्बों को समावेश हो गया है। इसी प्रकार निराला जी की 'यमुना' में मेरे 'स्वप्न','छाया' आदि रचनाओं की स्पष्ट अनुगूँज मिलती है, उस कविता का निराला-काव्य के अंतर्गत अपना पृथक् व्यक्तित्व है। इससे हम यह नहीं प्रमाणित कर सकते कि हमने एक दूसरे का अनुगमन या अनुकरण

किया है। स्वयं मेरे 'स्वप्न', 'छाया' आदि के छंदों में 'विरहिणी व्रजांगना' के छंद का तथा मेरे 'तुम आती हो' प्रगीत में महादेवी के 'जो तुम आ जाते एकबार' का अप्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रायः सभी छायावादी कवि विकास-क्षमताशील रहे हैं और उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में उस नए काव्य मूल्य तथा अभिव्यंजना शैली का विकास किया। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि चारों दिशाओं से स्वतंत्र रूप से नई काव्य चेतना की धाराएँ बहकर छायावाद के युग-चरित-मानस में संचित हुई। मुझे हिमालय के अंचल में प्राकृतिक सौन्दर्य-विस्मय के आकाशचुंबी शिखरों ने गाने को बाध्य किया, तो निराला जी को बंगाल की कला-संस्कृति की उर्वर भूमि ने अपनी प्रतिभा के मृदंग में घन गंभीर थाप देने को आमंत्रित किया और प्रसाद जी वरुणा-असी के तीर्थ स्थल, भारतेन्दु की भूमि में, भारत के महान् गौरवपूर्ण अतीत के सांस्कृतिक वैभव में अवगाहन कर अपनी धीरोदात्त स्वरों की साधना करने को प्रेरित हुए, तो छायावादी काव्य के भावना-मदिर परागों की गीति-मूर्ति महादेवी जी गंगा-यमुना की संगम-भूमि प्रयाग में नई मानव संवेदना की सरस्वती की तरह प्रकट हुईं। इस नए काव्य का उठान इस प्रकार सन्' 16 से' 18 के बीच और उसके शिखर का स्पष्ट रूप सन् 24-25 के आसपास प्रकट होता है। उससे पहिले की किसी की भी कोई रचना इस युग के प्रवर्तक की रचना के रूप में उपर्युक्त कारणों से नहीं मानी जा सकती। फिर भी एक प्रारंभिक बिन्दु मानना यदि आवश्यक ही हो और चूँकि छायावादी पीढ़ी में प्रसाद जी ने सर्वप्रथम ब्रजभाषा की निब उतारकर उत्तर द्विवेदी कालीन काव्य लिखना प्रारंभ किया, इसलिए उन्हीं को छायावाद का प्रवर्तक मानना सुविधाजनक हो, तो यह दूसरी बात है।

छयावाद को समझने के लिए छायावादी कवि के आत्म-संघर्ष पर यत्किंचित् प्रकाश डालना अनुचित न होगा। छायावादी कवि का संघर्ष बहुमुखी था। एक उसका व्यक्तिगत पहलू था, जिसके दो रूप थे, एक बाहरी, दूसरा भीतरी। बाहर उसे अपनी आर्थिक परिस्थितियों तथा परिवार आदि के परिवेश से जूझना पड़ता था। प्रायः सभी छायावादी कवि सम्पन्न घरों में पैदा हुए थे, किन्तु महादेवी जी को छोड़कर, शेष तीनों कवियों को विभिन्न कारणों से, गृह-व्यवस्था का संतुलन खो जाने के कारण, प्रायः अपनी मध्य वयस तक आर्थिक संकटों से जूझना पड़ा। भीतरी संघर्ष की दृष्टि से मनोनुकूल परिस्थितियों के अभाव में उनको अपनी शिक्षा-दीक्षा तथा आत्म-संस्कार के पथ में भी दुर्लंघ्य बाधाओं का सामना करना पड़ा और बाहरी बौनी परिस्थितियों से समझौता करने की विवशता के कारण उनके व्यक्तित्व के यथोचित विकास में भी पर्याप्त विलंब हुआ। राष्ट्रीय जागरण के आत्मोन्नयन के युग में उन्हें अपने स्वभाव प्रवृत्ति तथा मनोवेगों से भी कसकर लोहा लेना पड़ा। उनमें से कुछ का अन्तःकरण समय-समय पर निर्मम राग-द्वेष, स्पर्धा तथा महत्त्वाकांक्षा के आवेशों से भी मंथित रहा और आत्म-बोध के क्षण में उनकी आत्मा को

ग्लानि ने भी दंशित किया है। ब्रिटिश शासन के सम्मोहन से मूर्छित उस युग के आत्म-दर्प भरे नव मध्यवर्गीय समाज में तब हिन्दी के प्रति आदर का भाव नहीं पैदा हो सका था और अब भी नहीं है, अपने वर्ग के अर्थ-संकुचित सदस्यों के प्रति,उनके मन में वर्तमान, उपेक्षा का भाव भी जब तब अभिव्यक्ति पाता रहता था। सरस्वती और लक्ष्मी के बैर की मध्ययुगीन किम्वदंती की पृष्ठभूमि में किसी भी मध्यवर्गीय परिवार का पिता या संरक्षक इस बात पर प्रसन्नता प्रकट नहीं करता था कि उसका पुत्र धनोपार्जन की विद्या प्राप्त करना छोड़कर, अनुर्वर साहित्य-सेवा की ओर प्रवृत्त होकर, अपने जीवन का दुरुपयोग करे और तथा—कथित जीवन की वास्तविकता से शून्य,सरस्वती पुत्रों के प्रति, लक्ष्मी-पुत्रों का सौतेला-भाव छिपाए नहीं छिपता था। इस प्रकार सामाजिक परिवेश का समर्थन न मिल सकने के कारण उन्हें हीन-भावना का दंश भी झेलना पड़ा तथा यथार्थ की दृष्टि से एक प्रभावहीन सामाजिक प्राणी का जीवन व्यतीत करने के कारण, पग-पग पर पैदा होने वाली कुंठाओं से भी, प्रारम्भ में, अपनी रक्षा करनी पड़ी एवं बैद्धिक मानसिक बल के अभाव में कभी-कभी अतिरंजित भावुकता की छाया में अपने ध्येय को पोषित करना पड़ा। इस भावुकता ने पीछे आनेवाले नए युवक छायावादियों को और भी घेरा और उसने उनके विचित्र उपमानों में भी अभिव्यक्ति पाई। सबसे कठिन और दुरूह अन्त:संघर्ष उस नए मूल्य से संपर्क स्थापित करने के लिए करना पड़ा, जो तब युग के उच्च वातावरण में व्याप्त तो था, पर जिसने निम्न वातावरण में छाए अनेक मध्ययुगीन धारणाओं तथा विश्वासों के धूमों से घिरे रहने के कारण तब स्पष्ट ज्योतिर्मयी रूप रेखाएँ ग्रहण नहीं की थीं। यह भी एक कारण है कि उस युग के काव्य-संचरण में नए मूल्य की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त जो उसका मुख्य बोध-बिन्दु तथा ध्येय रहा और भी अनेक प्रकार के गूढ़ अगूढ़ विचारों, भावनाओं तथा दार्शनिक दृष्टिकोणों की छायाएँ जागरण की आँधी से पुनर्जीवित होकर व्याप्त मिलती हैं,जिसमें रहस्यवाद की प्रतिध्वनियाँ भी सम्मिलित हैं। मानव-चेतना के उच्च तथा सूक्ष्म संवेदनों को अपने अंतरतम उन्मेषों के प्रकाश में नए बिम्बों तथा प्रतीकों एवं नई काव्य-वस्तु के रूप में वाणी देने की कृच्छ्र प्रसव-वेदना छायावाद के उत्कट साहस की द्योतक एक महत् युग-साधना की उपलब्धि एवं भाव-योग की सिद्धि रही है, जिसके चतुर्दिक् घिरे वाष्पों में, नि:संदेह, अनेक चित्रमयी अभिव्यंजना के इंद्रधनु स्वत: अपने ही कलास्पर्श से स्फुरित हो उठे।

मुक्ताभ (1997 : जीवन का अंतिम वर्ष)

भूमिका

मुक्ताभ में मेरी प्रारंभ से अब तक की चुनी हुई रचनाएँ संगृहीत हैं। इस संग्रह में संकलित कविताओं में मेरी "रचना-प्रक्रिया का अंतर-इतिहास" भी सूक्ष्म में देखा जा सकता है। प्रांरभ में मेरी रचनाएँ मेरी काव्य-चेतना की प्रतिच्छवि के रूप में प्रकट हुई और आज मैं अपनी रचनाओं में सार्थकता का बोध भी करता हूँ। वस्तुतः *मुक्ताभ* मेरा पहला संकलन है, जिसमें किसी विशेष प्रयोजन-हेतु नहीं, बल्कि रचनाओं की काव्य-यात्रा की दृष्टि से ही कविताएँ संकलित की गई हैं, अतः इस संकलन का महत्त्व मेरे अन्य संकलनों से अधिक माना जाएगा और इसकी सतरंगी किरणें पाठकों को अधिक आकर्षित कर सकेंगी।

हिन्दी काव्य का आधुनिक युग छायावाद से प्रारंभ होता है, जो द्विवेदी-युग तथा प्रयोगवादी-युग का मध्यवर्ती काव्य है और जिसकी एक विशेष धारा प्रगतिवादी तथा दूसरी प्रयोगवादी कविता कही जाती है। छायावाद के पहले भी हिन्दी काव्य-साहित्य में नवीन प्रेरणाएँ काम करने लग गई थीं और एक प्रकार से द्विवेदी-युग से पहले भी भारतेन्दु हरिश्चंद्र के समय में हिन्दी कविता में नए विषयों का समावेश होने लगा था। भारतेन्दु की कविताओं में भी यत्र-तत्र देश के अतीत-गौरव की महिमा, वर्तमान अधोगति का वेदनापूर्ण चित्र और भविष्य का उद्‌बोधन-गान पाया जाता है। भारतेन्दु के करुण उद्‌गारों में देशभक्ति के साथ ही एक शक्तिमयी नई अभिव्यंजना मिलती है। द्विवेदी युग में भारतीय जागरण के साथ ही देशभक्ति तथा राजनीति से प्रभावित अनेक ओजपूर्ण रचनाएँ लिखी गईं। द्विवेदी-युग का मुख्य प्रयत्न खड़ी बोली को गद्य-पद्य के रूप में मार्जित करने की ओर रहा। उनके युग में हिन्दी भाषा के सौन्दर्य से तो वंचित रही, पर उसका आधुनिक रूप निश्चित रूप से निखर आया और उसमें एक प्रकार का संयम तथा सुथरापन आ गया।

द्विवेदी-युग का काव्य अधिकतर गद्यवत्, इतिवृत्तात्मक तथा अभिधाप्रधान रहा, किन्तु उसका भावना-क्षेत्र भारतेन्दु युग से कहीं अधिक विस्तृत तथा व्यापक हो गया। उसमें अनेकानेक नवीन विषयों का समावेश होने लगा और उसमें भारतीय पुनर्जागरण की चेतना जन्म लेने लगी।

हिन्दी की नवीन काव्यधारा में बंगला-कवियों विशेषकर रवीन्द्रनाथ का विशेष

प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव से ओत-प्रोत रचनाओं में छायावाद की सूक्ष्म भावव्यजंना तथा रंगीन कल्पना धीरे-धीरे प्रकट होने लगी थी, जो आगे चलकर प्रसाद जी के युग में पुष्पित-पल्लवित होकर एक नूतन चमत्कार एवं चेतना का संस्कार धारणकर, हिन्दी-काव्य के प्रांगण में नवीन युग के अरुणोदय की तरह मूर्तिमान हो उठी।

प्रसाद जी छायावाद के सर्वप्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके युग में आने तक हिन्दी कविता के अन्तर्विधान में भी बंगला का और विशेषकर रवीन्द्रनाथ के काव्य का, अत्यंत गहरा प्रभाव पड़ चुका था। रवीन्द्रनाथ के युग से जो महान प्रेरणा हिन्दी-काव्य-साहित्य को मिली, वही वास्तव में छायावाद के रूप में विकसित हुई।

कवीन्द्र रवीन्द्र ने युग की समस्त जागरण की शक्तियों का मननकर उनके प्राण-प्रद तथा स्वास्थ्यकर सारतत्वों का संग्रह अपने अंतर में कर लिया था। भारतीय अध्यात्म के प्रकाश को उन्होंने पश्चिम के यंत्रयुग के सौन्दर्य में वेष्ठित कर उसे पूर्व तथा पश्चिम दोनों के लिए समान रूप से आकर्षक बना दिया था। इस प्रकार नवीन-युग की आत्मा के अनुकूल स्वर-झंकृति प्रस्तुत कर रवीन्द्रनाथ ने एक नवीन सौन्दर्यबोध का झरोखा भी कल्पनाशील युवक साहित्यकारों के हृदय में खोल दिया था।

इसी काव्यमय आध्यात्मिक आलोक, सौन्दर्य-चेतना तथा सृजन-कल्पना की मुक्ति को ग्रहणकर हिन्दी में छायावाद ने प्रवेश किया। द्विवेदी-युग की पौराणिक भावना, कला-परंपरा तथा राष्ट्रीय जागरण के स्वर छायावाद के युग में एक नवीन विराट आध्यात्मिक चेतना, नवीन छंद और शैलियों के प्रयोग तथा एक व्यापक विश्वप्रेम की भावना के रूप में परिणत हो गए। प्रसाद जी का *झरना* जैसे हिन्दी में एक नवीन अभिव्यक्ति का झरना था। उनके *आँसू* के कणों में जैसे छायावादी युग की समस्त मूक करुणा तथा भावात्मक वेदना एक नवीन अभिव्यंजना का वैचित्र्य लेकर उमड़ उठी। प्रसाद जी की *कामायनी* में छायावाद का अंत:स्पर्शी गांभीर्य सौन्दर्य तथा विचार-सांमजस्य जैसे एक विशाल स्फटिक प्रसाद के रूप में साकार हो उठा। निराला जी ने छायावादी कविता को छंदों के बंधनों से मुक्त कर उसे एक अधिक व्यापक भूमि पर खड़ा कर दिया। उन्होंने अपनी उज्ज्वल, ओजपूर्ण शैली द्वारा भारतीय दर्शन के आलोक को वितरित किया। *परिमल* तथा *गीतिका* में उनके अनेक प्रगीत गीति-काव्य की परिपूर्णता प्राप्त कर सके हैं। छायावादी कविता मुख्यतया प्रगीतों का रहस्य-इंगितमय सौन्दर्य लेकर प्रस्फुटित हुई। महादेवी जी के प्रगीत इस दृष्टि से विशेष-रूप से ध्यान आकृष्ट करते हैं। दूसरी ओर नवीन जी, भारतीय आत्मा तथा दिनकर जी ने राष्ट्रीय भावना को छायावादी परिधान प्रदानकर उसे अधिक सजीव, ओजपूर्ण तथा मर्म-स्पर्शी बना दिया। छायावाद के आकाश में *नरेन्द्र शर्मा* आदि और भी अनेक नक्षत्र प्रकाशपूर्ण व्यक्तित्व लेकर जगमगा उठे, जिनकी अमर देन से हिन्दी का काव्य-साहित्य अनेक रूप से संपन्न हुआ।

हिन्दी के छायावादी कवि आध्यात्मिक, सांस्कृतिक तथा सौन्दर्य-संबंधी भावनाओं से प्रभावित हुए, लेकिन उनके युग की पृष्ठभूमि जैसे-जैसे बदलती गई, उनके काव्य का पदार्थ भी उसी अनुपात में बदलता गया। वे सूक्ष्म की ओर, आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर, रूप से वस्तु की ओर, सर्वात्मवाद आदि से मानववाद, भूवाद; जनवाद की ओर बढ़ते गए। सत्य की खोज की उड़ती हुई अस्पष्ट अभीप्सा युग-परिवेश, सामाजिक वातावरण और वैयक्तिक तथा सामूहिक परिस्थितियों से प्रभावित एवं घनीभूत होकर वास्तविकता की भूमि पर विचरण करने लगी।

छायावाद का प्रारंभिक अस्पष्ट अध्यात्मवादी एवं आदर्शवादी दृष्टिकोण प्रगतिवाद में अस्पष्ट भौतिकवाद अथवा वस्तुवाद बनने का हठ करने लगा। जिस प्रकार छायावादियों में भागवत या विराट चेतना के प्रति एक क्षीण, दुर्बल आग्रह, आकुलता या बौद्धिक जिज्ञासा की भावना रही, उसी प्रकार तथाकथित प्रगतिवादियों में जनता तथा जन-जीवन के प्रति एक निर्जीव संवेदना तथा निर्बल व्याकुलता का भाव दुराग्रह की सीमा तक परिलक्षित होने लगा। दोनों ही के मन में सम्यक् साधना, अभीप्सा तथा बोध की कमी के कारण अपने इष्ट अथवा लक्ष्य की रूप-रेखा या धारणा निश्चित नहीं बन पाई। एक भीतरी कुहासे में लिपटे रहे, दूसरे बाहरी कोहरे से घिरे रहे। कला की दृष्टि से प्रगतिवाद के सफल कवि छायावादी शब्दों की रेशमी रंगीनी एवं उपमाओं की अभिनव सुंदरता का सजीव प्रयोग कर सके। छंदों की दृष्टि से संभवतः उन्होंने अपनी अंतर्लय-हीन भावनाओं तथा उच्छृंखल उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के लिए मुक्त छंद के रूप में पंक्तिबद्ध गद्य को अपनाया, जिसका प्रवाह उनके बहिर्भूत दृष्टिकोण के अनुरूप ही अधिक असंबद्ध, छितरा-बिखरा तथा ऊबड़-खाबड़ रहा। अपने निम्न स्तर पर प्रगतिवाद में सुरुचि संस्कारिता का स्थान विकृत, कुत्सित भदेस ने ले लिया। छायावादी भावना की अति उदारता उतनी ही सिमटकर अत्यंत संकीर्ण अंधानुयायिता में बदल गई, किन्तु फिर भी प्रगतिवादियों ने किसी प्रकार गिरते-पड़ते पैर मिट्टी के गर्द-गुबार से भरी एक व्यापक वास्तविकता की ओर उठाए। जागरणवादी कुछेक कवियों ने छायावादी चेतना को ही मिट्टी की ओर ले जाकर उसे हुंकार के साथ अभिव्यक्ति दी।

प्रगतिवाद के अतिरिक्त छायावादी काव्य-भावना ने एक ओर आत्माभिव्यक्ति की पगडंडी पकड़ी, जो हमारी सड़कों के नए नामों की तरह पीछे स्वतंत्र रूप धारण करने पर, प्रयोगवादी कविता कहलाई। जिस प्रकार प्रगतिवादी काव्य-धारा मार्क्सवाद एवं द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के नाम पर अनेक प्रकार के सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक तर्क-वितर्कों में फँसकर एक 'किमाकार कुरूप सामूहिकता' की ओर बढ़ी, उसी प्रकार प्रयोगवाद की निर्झरिणी कलकल-छलछल करती हुई, फ्रायडवाद से प्रभावित होकर स्वर-संगीत-हीन भावनाओं की लहरियों में मुखरित, उपचेतना-अवचेतना की

रुद्ध-क्रुद्ध ग्रंथियों को मुक्त करती हुई तथा दमित-कुंठित आकांक्षाओं को वाणी देती हुई लोक-चेतना के स्रोत में नदी के द्वीप की तरह प्रकट होकर अपने पृथक अस्तित्व पर जमी रही। छायावादी भावना की सूक्ष्मता इसमें टेकनीक की सूक्ष्मता बन गई। छायावादी शब्दों का वैचित्र्य और उसके शाश्वत का स्थायित्व इसमें क्षणभंगुर रंगरलियों का उद्दीपन बन गया। अपनी रागात्मक विकृतियों तथा संदेहवादिता के कारण अपने निम्न-स्तर पर इसकी सौन्दर्य-भावना केचुओं, घोंघों, मेढ़कों के उपनामों के रूप में सरीसृपों के जगत से अनुप्राणित होने लगी, जो वास्तव में पश्चिम की ह्रासोन्मुखी संस्कृति का प्रभाव-मात्र है।

छायावादी छंदों में आत्मन्वेषण की शांत-स्निग्ध अंत: स्वर-संगति है, जो अपने दुर्बल क्षणों में कोरा प्रेरणा शून्य कोमल लालित्य बनकर रह जातो है। प्रकृतिवादी छंदों में सामूहिक आंदोलन का कोलाहल तथा स्पंदन-कंपन है, जो अधिकतर खोखली तथा तर्जन-गर्जन बनकर रह जाती है। प्रयोगवादी छंदों में एक करुणा-मिश्रित नींद भरी स्वप्न-मर्मर है, जो प्राय: आत्मदया में द्रवित होकर प्रणय के आँसुओं तथा उच्छ्वासों की निरर्थक सिसकियों में डूब जाता है। छायावादी प्रीति-काव्य सौन्दर्य-भावना प्रधान है, प्रयोगवादी प्रणय-गीत राग और वासना-मूलक।

अपने स्वस्थ रूप में छायावाद एक नवीन अध्यात्म को वाणी देने का प्रयत्न करता रहा। प्रगतिवाद एक नवीन सामूहिक वास्तविकता को तथा प्रयोगवाद सामूहिक साधारणता के विरोध में व्यक्ति के सूक्ष्म गहन वैचित्र्य से भरी गुंठित-अहंता को। काव्य की ये तीन धाराएँ आज की युग-चेतना के ऊर्ध्व, व्यापक तथा गहन संचरणों को अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही हैं और तीनों ही एक दूसरे से अभिन्न रूप से संपृक्त हैं।

इन प्रमुख धाराओं के अतिरिक्त आज की कविता में राष्ट्र-भावना से भरी देश-प्रेम की झंकारें भी मिलती हैं, जो मुख्यत: गाँधीवाद से अनुप्राणित एवं प्रभावित हैं। इनमें अतीत की स्वस्थ परम्पराओं के जागरण के साथ आधुनिक विश्वबंधुत्व तथा नवीन मानवता की भावना का ही समावेश है। साध्य-साधन का सामंजस्य, हृदय-परिवर्तन का आग्रह, लोकहित तथा अहिंसात्मक क्रांति का निर्देश है, साथ ही आज की समतल विचार-धारा की अराजकता में ऊर्ध्व उदात्त संतुलन स्थापित करने की चेष्टा भी। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद साहित्यकारों को विशेष सृजन-प्रेरणा न मिल सकने के कारण इस प्रकार की कविता में आज एक प्रकार का गतिरोध-सा दृष्टिगोचर होता है।

अपने युग की महत चेतना से, एक साहित्यजीवी के रूप में, मैं भी अपने ढंग से अनुप्राणित और प्रभावित हुआ हूँ। इसके उतार-चढ़ाव में मेरी भी छोटी सी देन है। अपने पूर्ववर्ती सभी महान कवियों के ऐश्वर्य को मैंने शिरोधार्य किया है और अपने समकक्षियों तथा सहयोगियों की प्रतिभा का भी मैं प्रशंसक तथा समर्थक रहा हूँ। अपनी काव्य-साधना में मैंने संत कवियों तथा रवीन्द्रनाथ से अनुप्राणित छायावाद की मध्ययुगीन आध्यात्मिकता

तथा आदर्शवादिता को अंतश्चेतना तथा नवीन लोक-चेतना का स्वरूप देने का प्रयत्न कर उसकी निष्क्रियता को सक्रियता प्रदान करने की, उसकी वैयक्तिकता को मौलिकता में परिणत करने की चेष्टा की है। मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधों को नवीन मानव-चेतना के समन्वय में ढालने का प्रयत्न किया है। मैं अपने युग की चेतना में छाए हुए अंधविश्वासों तथा निरर्थक रूढ़ि-रीतियों के प्रेतों से लड़ा हूँ। मैंने विभिन्न धर्मो, संस्कृतियों तथा जातियों-वर्गो में बँटे हुए लोगों को अपनी काव्य-चेतना के प्रांगण में आमंत्रित कर उनको एक दूसरे के पास लाने का प्रयत्न किया है। भौतिकता तथा आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओं के रूप में ग्रहण कर उन्हें लोक-कल्याण के लिए महत्तर सांस्कृतिक समन्वय में एक दूसरे के पूरक की तरह, संयोजित करना चाहा है। अपने प्रगीतों में मैंने मनुष्य के लिए नवीन सांस्कृतिक हृदय को जन्म देने की आवश्यकता बतलाई है। उसे नवीन रागात्मक संवेदनाओं, नवीन आदर्शों के स्पंदन से अनुप्राणित करने का प्रयास किया है। कला-पक्ष में मैंने अपनी युग-चेतना को नवीन सौन्दर्य का परिधान देने का प्रयत्न किया है।

परिशिष्ट

सुमित्रानंदन पंत की प्रकाशित कृतियाँ

1.	हार (उपन्यास)	–	1916–17 (पंत की पहली कृति) 1960 में प्रकाशित।
2.	वीणा	–	1927
3.	ग्रंथि	–	1929
4.	पल्लव	–	1926
5.	गुंजन	–	1932
6.	ज्योत्स्ना (नाटिका)		1934
7.	युगांत	–	1936
8.	पाँच कहानियाँ	–	1936
9.	युगवाणी	–	1939
10.	ग्राम्या	–	1940
11.	पल्लविनी	-	1940
12.	आधुनिक कवि (2)	–	1941
13.	स्वर्ण किरण	–	1947
14.	स्वर्णधूलि	-	1947
15.	युगपथ	–	1949
16.	उत्तरा	–	1949
17.	रजत शिखर	–	1952
18.	अतिमा	–	1955
19.	सौवर्ण	–	1956
20.	वाणी	–	1958
21.	रश्मिबंध	–	1958
22.	चिदंबरा	–	1958
23.	कला और बूढ़ा चाँद	–	1959

24.	साठ वर्ष : एक रेखांकन	-	1960
25.	शिल्प और दर्शन	-	1961
26.	लोकायतन		1964
27.	छायावाद : पुनर्मूल्यांकन	-	1965
28.	कला और संस्कृति	-	1965
29.	किरण वीणा		1967
30.	पौ फटने से पहले	-	1967
31.	स्वर्णिम रथचक्र	-	1968
32.	पतझर : एक भाव-क्रांति		1969
33.	गीतहंस	-	1969
34.	शंखध्वनि	-	1971
35.	शशि की तरी	-	1973
36.	गंधवीथी	-	1973
37.	साठ वर्ष और अन्य निबंध		1973
38.	आस्था		1973
39.	सत्यकाम	-	1975
40.	गीत-अगीत	-	1976
41.	संक्रांति	-	1977
42.	मुक्ताभ		1977

अन्य कृतियाँ

समाधिता
अभिषेकिता
संयोजिता
चित्रांगदा (रूपात्मक-चित्रात्मक रचनाओं का संकलन)
मधुज्वाल (उमर खैयाम की रुबाइयों का हिन्दी रूपांतर)
उच्छ्वास (इलाचन्द्र जोशी के अनुसार किशोर कवि की सर्वप्रथम प्रकाशित रचना)
युग-पुरुष
तारापथ
छाया
हरी बाँसुरी सुनहरी टेर
शिल्पी
गद्य-पथ
लोकायतन (संक्षिप्त)
सुमित्रानंदन पंत ग्रन्थावली
(शांति जोशी द्वारा संपादित)
रूपाभ (पत्रिका का संपादन), (1938 ई.)

